प्रकाशक—
फूलचन्द गुप्त,
संचालक
सरस्वती पुस्तक सदन,
मोतीकटरा, आगरा।

प्रथम संस्करण } संवत् २०१२ { सन् १९५६ ई०

मुद्रक—
राकेशचन्द्र उपाध्याय,
आगरा पॉपूलर प्रेस,
मोतीकटरा, आगरा।

'दो शब्द'

आलोचना के क्षेत्र में मेरी दूसरी पुस्तक 'गुप्तजी का साकेत'—शीर्षक से प्रकाशित हो रही है। प्रसन्नता होती है कि पाठकों को पहली पुस्तक—'गुप्तजी की काव्य कला'—रुचिकर प्रतीत हुई।

इसमें 'साकेत' पर सभी दृष्टियों से विचार करने का प्रयत्न है—वस्तु, प्रभाव, भाषा, शैली, सभी तत्वों पर जो कुछ अन्य आलोचकों ने कहा है, उन पर युक्ति युक्त विचार करते हुए अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट कर दिया है। प्रायः गुप्त जी के पक्ष में ही लोग गए हैं, अन्य बातें उपेक्षित रह गई हैं। मैंने दूसरा पक्ष भी लिया है जिसकी विस्तृत चर्चा—'साकेत का अन्धकार पक्ष'—शीर्षक के अन्तर्गत मिलेगी। अन्तिम अध्याय नवम सर्ग के साहित्यिक सौंदर्य से विशेषतः तथा अन्य सर्गों से सम्बन्ध रखता है।

इस बात का ध्यान रखा गया है कि पुस्तक सामान्य पाठक तथा अध्ययन-शील व्यक्तियों के लिए अधिकाधिक उपयुक्त हो। मैं भाषा के घटाटोप में विचारों को छिपा कर व्यक्त करना साहित्यिक क्षेत्र में ठीक नहीं समझता अतः जो कुछ मेरे निष्कर्ष हैं, बिलकुल स्पष्ट रूप में रखे गए हैं। इससे कुछ लाभ हो सका तो मैं अपना दीर्घ श्रम सफल समझूंगा।

जिन आलोचकों की पुस्तकों ने मेरे विवेचन में यत्किंचित सहायता दी है, उनका आभारी हूँ।

"नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स!"

सेंट एन्ड्रूज कालेज
गोरख पुर

—त्रिलोचन पाण्डेय

विषय सूची

१—साकेत का नामकरण व कथा-वस्तु

किसी काव्य का नामकरण प्रायः चार दृष्टियों से किया जाता है—

१. पात्र विशेष के आधार पर,

१. मनोवृत्ति विशेष के आधार पर,

३. घटना विशेष के आधार पर,

४. स्थान विशेष के आधार पर।

इस नामकरण में दो गुण अपेक्षित हैं—एक तो विषय से सबद्ध हो दूसरा उत्सुकता-वर्धक हो।

गुप्त जी ने इस रचना का नाम 'साकेत' रक्खा है। कुछ विद्वानों का कहना है यह शीर्षक अनुपयुक्त है। 'साकेत-संताप' 'उर्मिला उत्ताप' या केवल 'उर्मिला' नाम सुझाए गए हैं। जब इस 'काव्य में' आरभ से अत तक उर्मिला पर कवि की प्रधान दृष्टि है तो उसी के आधार पर नामकरण होना चाहिए था। लेकिन गुप्त जी ने स्थान को महत्व देना चाहा है, व्यक्ति विशेष को नहीं, व्यक्ति विशेष के रूप में वे सभवतः उर्मिला का महत्व स्वीकार नहीं करते, साकेत के एक पात्र के रूप में मानते हैं और साकेत उनके राम की क्रीड़ा-भूमि है। उर्मिला पर उन्होंने विशेष ध्यान जरूर रखा है लेकिन इतनी प्रधानता नहीं दी है कि वह राम-सीता के चरित्र को भी आच्छादित कर लें। इसलिए गुप्त जी ने 'साकेत' नाम रखना ही ठीक समझा है।

१. इस काव्य की सभी घटनाओं का केन्द्र भी 'साकेत' है। प्रधान पात्र उर्मिला निरतर यहीं रही हैं। राम-कथा का वर्णन करते हुए भी गुप्त जी साकेत छोड़कर कहीं नहीं गए। राम के अभिषेक की चर्चा, कैकेयी का रोष, गृह त्याग सब साकेत में ही हुआ। सूर्य वशी राजाओं की कीर्ति गाथा, दशरथ का प्रसग, धनुष यज्ञ की चर्चा स्वय उर्मिला के मुख से करा दी गई है। इस प्रकार बाहर जाने के जो भी अवसर आए, गुप्त जी ने 'साकेत' में ही उनका विधान किया। उर्मिला अपने बाल्यकाल का स्मृति रूप में वर्णन भी यहीं करती है—

"सुनती जब मैं उमा कथा तब होती मुझको बडी व्यथा
'सुध'-माँ कहती कि 'खो उठी यह है देव चरित्र रो उठी।'
निज शकर हेतु शंकरी तपती थीं कितनी भयकरी!
उनकी शिव साधना वही अलि, मेरी यह सान्त्वना रही।

× × × ×

"अब भी वह वाटिका वहाँ पर बैठी यह उर्मिला यहाँ।
करुणा कृति माँ विसूरती गिरिजा भी वन मूर्ति घूरती
सुनती कितने प्रसग मैं कर देती कुछ रग भग मैं।
चुनती नर वृत्त मोद से सुनती देव कथा विनोद से। . "

(दशम सर्ग)

इसी प्रकार मारीच प्रसग, धनुष भग का उच्च वर्णन उसने किया है—

"कुछ गारुण मत्र सा किया प्रभु ने जा उसको उठा लिया
रस का परिपाक हो गया चढ़ता चाप चटाक हो गया।"

राम के वन-गमन के उपरात एक अवसर साकेत छोड़ने का और आया जब भरत राम से मिलने के लिए चित्रकूट गए। यहाँ कवि को भी चित्रकूट जाना पड़ता अत: सम्पूर्ण नगर निवासियों, राज माताओं को भी वह चित्रकूट ले गया। जहाँ निवासी रहेंगे वहीं साकेत भी होगा—

"चल, चपल कलम निज चित्रकूट चल देखें
प्रभु चरण चिह्न पर सफल भाल लिपि लेखें।
संप्रति साकेत समाज वहीं है सारा
सर्वत्र हमारे संग, स्वदेश हमारा।"

अर्थात् चित्रकूट में भी गुप्त जी ने 'साकेत' नहीं छोड़ा।

राम सम्बन्धी कुछ घटनाएँ शत्रुघ्न द्वारा साकेत में ही सुना दी गई हैं। दण्डक वन में निवास, शूर्पणखा का प्रसग, खर दूषण-वध, जटायु की कथा, ऋक्ष-वानरों की लका पर चढ़ाई, विभीषण का रावण को समझाना यहाँ तक की कथा उन्होंने सुनाई है—

गोदावरी तीर पर प्रभु ने दण्डक वन में वास किया

× × × ×

शूर्पणखा रावण की भगिनी पहुँची वहाँ विमोहित सी

× × × ×

थोड़े में वृतांत सुनो खर दूषण संहारी का

× × × ×

गया जटायु इधर सुर पुर को उधर दशानन लंका को
× × × ×
तब लंका पर हुई चढ़ाई, सजी ऋक्ष-वानर सेना !"
(एकादश सर्ग)

तब तक हनुमान पहुँच गए। लक्ष्मण का शक्ति लगना, संजीवनी लेने आना उन्होंने विस्तार-पूर्वक सुनाया—

"कुपित इन्द्र जित ने क्रम क्रम से सबको देख काल की भेंट
छोड़ी लक्ष्मण पर, लंका की मानो सारी शक्ति समेट
विधि ने उसे अमोघ किया था, पर न हटे रामानुज धीर
इसी दास ने दौड़ उठाया हा ! उनका निश्चेष्ट शरीर !
× × × ×
संजीवनी मात्र ही स्वामी आ जावे यदि रातों रात
तो भी बच सकते हैं लक्ष्मण, बन सकती है बिगड़ी बात !"

शेष घटनाएँ वशिष्ठ मुनि ने अपने मन्त्र-बल से साकेत—निवासियों को घर बैठे बैठे दिखा दी हैं। इस प्रकार गुप्त जी ने कुछ वृत्त शत्रुघ्न द्वारा सुना दिया, कुछ हनुमान द्वारा और शेष वशिष्ठ के योग द्वारा दिखा दिया, केन्द्र साकेत ही रहा।

२. उर्मिला निरंतर साकेत में ही रहती है जिस पर कवि की बारबार दृष्टि गई है। दशरथ ने भी उसके सबंध में पूछा है, चित्रकूट प्रसंग में वह आई है, नवम् सर्ग में उसी का विरह वर्णन है और अन्त तक वह साकेत में ही रहती भी है।

३. श्री रामचन्द्र भी सात सर्गों तक साकेत में ही रहे हैं, फिर उनमें संबद्ध घटना क्रम भी कम है। अधिकाश सर्ग राम रहित साकेत के वर्णन में लिखे गए—अर्थात् गुप्त जी ने 'साकेत' की उस अवस्था का चित्रण किया जिस समय वह राम के वियोग में है। उसका संताप वर्णन ही काव्य का विषय है इसलिए 'साकेत' शीर्षक उपयुक्त है।

४. केवल घटनाओं की रंग भूमि ही साकेत नहीं है—कथा का अन्त भी नहीं होता है। सम्पूर्ण घटनाओं का समाहार 'साकेत' में किया गया है। चौदह वर्ष के उपरांत राम लौट कर वहीं आते हैं और उर्मिला लक्ष्मण का मिलन भी वहीं होता है—

"पैदल ही प्रभु चले भीड़ के संग पुरी में
संघार्षित थे आज अंग से अंग पुरी में
अहा समाई नहीं अयोध्या फूली फूली
तब तो उसमें भीड़ समाई ऊली ऊली

× × × ×

"नाथ, नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया ?"
"प्रिये, प्रिये, हाँ आज आज ही वह दिन आया ?"

इस प्रकार शीर्षक उपयुक्त है।

५. गुप्त जी इसकी रचना तक बंगला काव्यों का अनुवाद कर चुके थे। उन पर नवीन चन्द्र सेन का प्रभाव भी था जो स्थान विशेष से अधिक रुचि रखते थे। 'रैवतक' 'पलासी का युद्ध' स्थलों के आधार पर लिखे गए हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य स्थान के आधार पर ही लिखा है। तो उपर्युक्त दृष्टियों से 'साकेत' नामकरण ठीक मालूम पड़ता है।

प्रधान पात्र अथवा नायक का विवेचन भी कर लिया जाय। साकेत में वस्तुतः एक पात्र की प्रधानता नहीं है। नायक तो राम को ही मानना चाहिए। लक्ष्मण का स्वरूप उनके कृतित्व से इतना अभिभूत है कि उसे नायक नहीं माना जा सकता। गुप्त जी की दृष्टि भी लक्ष्मण पर नहीं रही है, वे केवल राम के अनुचर रूप में सामने आते हैं। कभी आवेश में बहकने भी लगते हैं तो राम ही शांत करते हैं। दशरथ के सम्मुख राम की प्रधानता है। वनवास राम को दिया गया है। राम पर ही दशरथ की ममता है और निश्चय भी राम ही करते हैं—

"कहा तब राम ने हे तात ! क्या है ?
खड़ा हूँ राम यह मैं, बात क्या है ?

× × × ×

अरे यह बात है तो खेद क्या है ?
भरत मे और मुझ मे भेद क्या है ?
करें वे प्रिय यहाँ निज कर्म-पालन
करूंगा मैं विपिन में धर्म-पालन !"

यहाँ राम लक्ष्मण को समझाते हैं। चित्रकूट के प्रसंग में भी राम का ही व्यक्तित्व प्रकाश में आया है, भरत से प्रश्न वे ही करते है—"हे भरत भद्र तुम

कहो अभीसित अपना !" कैकेयी उन्हीं को संबोधन करती है और मुनि-गण भी राम को ही समझाते हैं। सबका उत्तर भी राम ने ही दिया है—

"पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है
लौटा कर वह कब कहाँ लिया जाता है ?
क्यों व्यर्थ तुम्हारे प्राण खिन्न होते हैं
वे प्रेम और कर्त्तव्य भिन्न होते हैं ।"

यहाँ तक कि अन्त में भी राम को प्रधानता दी गई है। लक्ष्मण का चरित्र सदैव गौण रहा है। वे तो यही कहते रहे हैं—

'तुम्हें जो मान्य है सो मानता हूँ....
अपेक्षा कुछ नहीं है नाथ ? इसकी....
मुझे यदि मारना है, मार डालो
निकालो तो न जीते जी निकालो
प्रभो ! रक्खो सदा निज दास मुझको
कि निष्कासन न हो गृह-वास मुझको !'

गुप्त जी ने निरंतर राम को ही प्रधानता दी है। यहाँ तक कि जितने भी आदर्श, जीवन संदेश इस महाकाव्य में प्रस्तुत किए गए हैं वे प्रायः सब राम द्वारा कहलाए गए हैं। इसलिए लक्ष्मण नायक नहीं माने जा सकते।

अब लीजिए नायिका का प्रश्न। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार तो नायक की पत्नी ही नायिका हो सकती है लेकिन गुप्त जी इसे स्वीकार नहीं करते। उन्होंने सीता को प्रधानता न देकर उर्मिला को प्रधानता दी है। सारे महाकाव्य में प्रत्येक पात्र का और स्वयं कवि का ध्यान उर्मिला पर ही केन्द्रित है, इसलिए प्रधान पात्र वही है। क्रियात्मकता की दृष्टि से भी वही प्रमुख पात्र सिद्ध होती है। प्रथम सर्ग से लेकर द्वादस सर्ग तक कवि उसे नहीं भूलता। आरंभ ही कथा का उससे होता है—

'अरुण पट पहने हुए आह्लाद में
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट मूर्ति मती उषा ही तो नहीं ?
कांति की किरणें उजेला कर रहीं !'

तब सारे सर्ग में उसका वर्णन है। दूसरे सर्ग का उनसे परोक्ष संबंध है, क्योंकि राम के वनवास होने या न होने पर उसका भाग्य निर्भर है। गए तो लक्ष्मण से वियोग, न गए तो सुख योग—दोनों का अनिश्चय है, वह भी नव-

विवाहिता उर्मिला के लिए। तीसरे सर्ग में उसके भाग्य का निर्णय हो जाता है। चतुर्थ सर्ग में वह प्रश्न करती है सीता और लक्ष्मण का जाना तो ठीक होगया, वह क्या करे ?

'मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ? हाय ! और क्या आज कहूँ ?'

षष्ठ सर्ग में पहले ही उर्मिला का स्मरण किया गया है—

'पुर देवी सी यह कौन पड़ी ? उर्मिला मूर्च्छित मौन पड़ी
फिर तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई यह कुमुद्वती जल भिन्न हुई ?

दशरथ ने भी उसकी कुशलता पूछी है—

'उर्मिला कहाँ है हाय वहू ! तू रघुकुल की असहाय वहू !'

सातवें सर्ग में उर्मिला की लक्ष्मण से भेंट करायी गई है जब कि चित्रकूट प्रसग में उसकी आवश्यकता नहीं थी। इसीलिए कि कवि उसे नहीं भूलना चाहता। नवें सर्ग में उसी का विरह वेदन है, दसवें ग्यारहवें में स्मृति रूप से बाल्यकाल की चर्चा व युद्ध के लिए सन्नद्ध होना—

'ठहरो यह मैं चलूँ कीर्ति सी आगे आगे।'

"ठहरो यह मैं चलूँ कीर्ति सी आगे आगे"—और मेघनाद को मारते समय लक्ष्मण भी उसे याद करते हैं—

'यदि सीता ने एक राम को ही वर माना
यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना
तो बस अब तू सँभल, बाण यह मेरा छूटा
रावण का वह पाप पूर्ण हाटक-घट फूटा।'

और बारहवें सर्ग में उसका मिलन होना है। इस प्रकार क्रिया तत्परता व कवि का ध्येय—दोनों ही दृष्टियों से वह प्रधान पात्र है।

तो राम भी प्रधान हो गए और उर्मिला भी प्रधान हो गई। पूछा जा सकता है इन दोनों में कौन प्रधान है ? शायद काव्य रसिक उर्मिला को प्रधानता दें और राम भक्त राम को। ऐसा आलोचक इसलिए पूछ सकते हैं कि सिद्धांत के अनुसार काव्य में एक ही पात्र प्रधान रहना चाहिए या वह नायक हो, या नायिका। 'कामायनी' में भी 'श्रद्धा' प्रधान है मनु नहीं और 'प्रिय प्रवास' में भी कृष्ण प्रधान है, राधा नहीं। मैं सोचता हूँ क्या यह आवश्यक है कि काव्य में एक पात्र को ही प्रधानता दी जाय ? अगर रसानुभूति में बाधा नहीं पड़ती, भावोद्रेक व भावों की आनद मूलक अन्विति में कमी नहीं आती तो अधिक पात्रों की प्रधानता में कोई हानि नहीं। सिद्धात में इसे स्वीकार करना चाहिए।

एक पात्र की प्रधानता इसी कारण तो मानी गई कि रसानुभूति में बाधा न पड़े, पाठक उसी के कार्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित रखे ! 'साकेत' में ऐसी रस विरोधी कोई बात नहीं। तो उसमें दो प्रधान पात्र हैं—पुरुष पात्रों में राम और नारी पात्रों में उर्मिला। अगर राम के लिए 'नायक' शब्द का व्यवहार किया जाय तो उर्मिला के लिए 'नायिका' शब्द का व्यवहार करने से मैं कोई आपत्ति नहीं देखता क्योंकि पश्चिमी सिद्धान्तों के अनुसार नायिका के लिए नायक की पत्नी होना आवश्यक नहीं है। जो गुण उन्होंने माने हैं वे उर्मिला में हैं।

कथावस्तु :—

'साकेत' की कथावस्तु का विवेचन भी कर लिया जाय। गुप्त जी के आलोचक उसे राम-कथा मान बैठते हैं, तब कोई कहता है इसका प्रबन्ध-तत्व ठीक नहीं है, कोई कहता है आठ सर्ग तक मंथरता है फिर एकदम दो सर्गों में कथा समाप्त कर दी गई है, कोई जरा सूझबूझ वाला हुआ तो कहता है इसमें दो कथाएँ एक स्थान पर ठूँस देने का प्रयत्न है।

असल में 'साकेत' रामकथा है ही नहीं। आरम्भ, वर्णन, उद्देश्य किसी भी दृष्टि से नहीं है। मूल व प्रधान कथा है लक्ष्मण-उर्मिला के जीवन की। यह प्रश्न भिन्न है गुप्त जी ने इनका जीवन-चित्रण कैसा किया या राम सीता का वृत्त उसे कितना देना चाहिए था मेरा तो यह कहना है कि गुप्त जी ने उनके जीवन की रूपरेखा को कल्पना का पुट देकर साहित्यिक कथा का रूप दे दिया है। चूँकि लक्ष्मण का वर्णन करते हुए राम का कथा-वृत्त आता ही और परम-वैष्णव राम भक्त गुप्त जी उसे छोड़ भी नहीं सकते थे इसलिए उनका भी चलता-चलता वर्णन कर दिया। वे राम कथा के विस्तार में नहीं गए। जितना प्रसंग लक्ष्मण उर्मिला का जीवन उभारने में उपयुक्त हो सकता था, गुप्त जी ने ले लिया, बाकी एक दम कहला दिया। कम से कम छोड़ा तो नहीं है।

'साकेत' के सूक्ष्म अध्ययन से उर्मिला-लक्ष्मण का जीवन ही मूर्तिमान होता है। उर्मिला का जन्म, बचपन में खेलना, देवपूजा, विवाह, कुछ समय संयोग के उपरान्त चौदह वर्ष का दीर्घ विरह, नाना उपादानों द्वारा अपनी अवस्था की व्यंजना और अन्त में शुभ मिलन—यही तो साकेत की मुख्य कथा है। लक्ष्मण का उससे अनुराग प्रथम सर्ग, षष्ठ सर्ग, अष्टम सर्ग, द्वादश सर्ग में व्यक्त हुआ है। आरम्भ में उनका मधुर दांपत्य जीवन दिखाना, वनवास के समय आज्ञा मानना, चित्रकूट में लक्ष्मण से भेंट—ये जब उन्हीं के जीवन पर प्रकाश डालने के लिए गुप्त जी द्वारा वर्णित हैं।

बड़ी तन्मयता से कवि ने उर्मिला का सौंदर्य वर्णन किया है—

'पद्म रागों से अधर मानो बने
मोतियों से दाँत निर्मित हैं घने
और इसका हृदय किससे है बना ?....

शाण पर सब अङ्ग मानो चढ़ चुके
प्राण फिर उनमे पड़े जब गढ़ चुके
झलकता आता अभी तारुण्य है
आ गुराई से मिला आरुण्य है'' '

तब मन्त-मराल की तरह लक्ष्मण आ जाते हैं। प्रेम पूर्वक मर्यादित वार्तालाप करते हैं, कला की चर्चा होती है, तस्वीर बनाई जाती हैं तब सूर्योदय के समय—

'उर्मिला कहने चली कुछ, पर रुकी
और निज अचल पकड़ कर वह झुकी
भक्ति सी प्रत्यक्ष भू लग्ना हुई
प्रिय, कि प्रभु के प्रेम मे मग्ना हुई ?'

सयोग का यह चित्रण करने का तात्पर्य ही उनके दाम्पत्य जीवन की झाँकी दिखाना है। दूसरा यह भी कौशल है कि एकदम ऐसे आनन्दपूर्ण जीवन के उपरान्त घोर वियोग उसकी वेदना को और भी तीव्र कर देता है। जैसा गुप्त जी ने 'भारत भारती' में किया है। अतीत का गौरव पूर्ण उन्नत जीवन चित्रित कर वर्तमान अव.पतन का चित्र सामने रख दिया है। उतनी उन्नत और इतनी अवनत स्थितियाँ वैषम्य उपस्थित कर वर्णन को मार्मिक बना देती हैं। यही प्रभाव उन्होंने साकेत में एकदम सयोग को उपरान्त वियोग रख कर उत्पन्न करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि गुप्त जी ने उर्मिला के बचपन से कथा-वस्तु का आरम्भ न कर यौवन की अवस्था से किया। और बाल्यकाल का सूत्र स्मृति रुप में दशम सर्ग में रख दिया।

अगर गुप्त जी को रामकथा का वर्णन अभिप्रेत होता तो उनके जन्म से आरम्भ करते प्रत्येक घटना का क्रमबद्ध विस्तार पूर्वक वर्णन करते और रावण की मृत्यु राम का ध्येय रखते। 'साकेत' में चूँकि रामसीता की कथा आधिकारिक कथा नहीं है इसलिए रावण की मृत्यु भी इसका प्रधान कार्य नहीं है। जबकि उन्होंने राम से सबद्ध प्रत्येक घटना का दूसरों से उद्घाव मात्र करा दिया है, प्रधानता तो स्वय नहीं दी है। उनकी दृष्टि सर्वत्र लक्ष्मण-उर्मिला पर केन्द्रित रही है। इसी कारण प्रत्येक सर्ग में उर्मिला का ध्यान रखते गए हैं।

उर्मिला प्रिय-पथ का विघ्न नहीं बनना चाहती, अतः घर रहना स्वीकार कर लेती है कहीं उनको प्रभु सेवा में बाधा न हो—

"लक्ष्मण हुए वियोग जयी, और उर्मिला प्रेम मयी।
वह भी सब कुछ जान गई, विवश भाव से मान गई!

× × × ×

कहा उर्मिला ने—"हे मन! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा, है अनुराग विराग भरा!
तू विकार से पूर्ण न हो, शोक भार से चूर्ण न हो!"

वनवास वस्तुतः राम सीता का नहीं हुआ। दोनों साथ वन मार्ग के पथिक रहे लेकिन रहे तो साथ साथ। उन्हें क्या कष्ट जब कि उर्मिला पूरे चौदह वर्ष के लिए अपने प्रिय से विलग हो गई। उसका तो गृह भी वन ही हो गया। इस प्रकार गुप्त जी ने महत्व इन्हीं को दिया है—

"लक्ष्मण तुम हो तपस्पृही, मैं वन में भी रहा गृही।
वनवासी हे निर्मोही, हुए वस्तुतः तुम दो ही!"

अष्टम सर्ग के अन्त में गुप्त जी ने लक्ष्मण-उर्मिला की जो भेंट कराई है उसका भी यही कारण है। लक्ष्मण को कोणास्थ उर्मिला दिखाई दी तो क्षण भर पहचान भी न सके! दोनों का यह मिलन चाहे क्षण भर ही रहा पर उनके जीवन-आदर्श को व्यक्त कर ही देता है—

"वन में तनिक तपस्या करके, बनने दो मुझको निज योग्य।
भाबी की भगिनी, तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपयोग्य!"

"हा! स्वामी कहना था क्या क्या कह न सकी कर्मों का दोष!
पर जिसमें संतोष तुम्हें हो मुझे उसी में है संतोष!"

नवम् सर्ग में उसकी विरह व्यथा झलकाई गई, एकादश सर्ग के बाद क्षत्रियत्व की भावना जाग्रत कराई गई। वह विरह-विदग्ध होकर भी अकर्मण्य नहीं है। गुप्त जी ने उसे कर्म क्षेत्र में प्रवृत्त किया है। जब भरत प्रमाण के लिए सैन्य सजाते हैं तो वह भी स्थूल-किरण जैसा चमचमाता हुआ विकट शूल लेकर नेतृत्व की अभिलाषा प्रकट करती है। आर्यों का इतिहास सुना कर उन्हें उद्-बोधित करती है—

"चढ़ कर उतर न जाय, सुनो कुल मौक्तिक मानी
गंगा - यमुना - सिंधु और सरयू का पानी!
बढ़ कर इसी प्रसिद्ध पुरातन पुण्य स्थल से
किए दिग्विजय बार बार तुमने निज बल से".........

पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा
जिसका अर्थ हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा।"

वे रोकते हैं तो बड़े उत्साह से कहती हैं—

"वीरो, पर, यह योग चला क्यों खोऊँगी मैं
अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगी मैं
पानी दूँगी तुम्हें, न पल भर सोऊँगी मैं
गा अपनों की विजय, परों पर रोऊँगी मैं।"

अन्त में जब मिलन होता है तो राम ने भी उर्मिला की 'गुण-गीता' ही गाई—

"तूने तो सहधर्म चारिणी के भी ऊपर
धर्म स्थापन किया भाग्यशालिनी, इस भू पर!"

इस प्रकार प्रमुख पात्र राम द्वारा उर्मिला की श्रेष्ठता घोषित करना उसी की जीवन कथा को महत्व देना है।

अन्त में लक्ष्मण उर्मिला की भेंट हो जाती है। लक्ष्मण ने स्पष्ट किया है कि वन में भी उन्हें स्मरण होता ही था, उनका ही स्थान अचल है—

"आँखों मे ही रही अभी तक तुम भी मानो
अन्तस्तल मे आज अचल निज आसन जानो।"

इस प्रकार साकेत महाकाव्य का महत् कार्य लक्ष्मण-उर्मिला का मिलन है। दोनों की जीवन गाथा ही इसकी आधिकारिक कथा है। राम सीता की कथा-प्रासंगिक तो नहीं कही जा सकती, फिर भी मुख्य-कथा के प्रवाह में बाधक नहीं है। इतना अवश्य है कि गुप्त जी उर्मिला लक्ष्मण की रूपरेखा को कुछ और उभार देते तो ठीक रहता।

अब संक्षेप में 'साकेत' की कथावस्तु सर्गानुसार दी जा रही है। इनका छोटा बड़ा होना, घटनाओं की शिथिलता, एकाएक समाप्ति और मेरे दृष्टिकोण की व्याख्या इससे दी जायगी।

प्रथम सर्गः— १—राम जन्म का उद्देश्य,
२—नगर वर्णन समृद्धि की झलक,
३—उर्मिला से कथा वस्तु का आरम्भ, सौन्दर्य,
४—लक्ष्मण का आगमन : हास परिहास द्वारा दाम्पत्य, जीवन की झाँकी।

द्वितीय सर्गः— १—कैकेयी, मंथरा संवाद से आरम्भ।
२—कैकेयी का उग्र होना।
३—दशरथ का सोच विचार करना।
तृतीय सर्गः— १—राम लक्ष्मण का प्रवेश।
२—दशरथ का चेत और चिन्ता।
३—राम का समझना : लक्ष्मण का बिगड़ना।
४—दशरथ का मूर्छित होना।
चतुर्थ सर्गः— १—कौशल्या सीता का चित्रण।
२—सुमित्रा का क्षत्राणी रूप।
३—राम की विदा।
पंचम सर्गः— १—राम का वन गमन।
२—प्रकृति चित्रण।
सष्ठ सर्गः— १—उर्मिला की मूर्ति : माताओं की शोचनीय दशा।
२—दशरथ की मृत्यु।
सप्तम सर्गः— १—भरत का नगर प्रवेश।
२—स्पष्टीकरण, शान्त्वना।
३—राजा का संस्कार।
अष्टम सर्गः— १—चित्रकूट में पर्णकुटी।
२—राम के उद्देश्य का स्पष्टीकरण।
३—भारत आगमन : विवाद।
४—उर्मिला लक्ष्मण की भेंट।
नवम सर्गः— १—उर्मिला का विरह वर्णन।
दशम सर्गः— १—उर्मिला की स्मृतियाँ : प्रसंगों का उल्लेख।
एकादश सर्गः— १—साकेत में शत्रुघ्न द्वारा वर्णन।
२—हनूमान द्वारा लक्ष्मण का वृत्त।
द्वादश सर्गः— १—भरत का सेना तैयार करना।
२—उर्मिला का क्षात्रियत्व।
३—वशिष्ठ द्वारा युद्ध चित्रण दिखलाया जाना।
४—भरत मिलाप।
५—लक्ष्मण उर्मिला का पुनर्मिलन।

इस रूपरेखा से गुप्त जी की राम-कथा में नवीनताएँ, विशेषताएँ भी लक्षित हो जायँगी। नवम् सर्ग में घटना तो एक ही है लेकिन सर्ग सबसे बड़ा है।

आलोचकों का कहना है गुप्त जी इसे संक्षिप्त कर देते तो प्रबन्धात्मकता में सौष्ठव आ जाता। या अलग से ही उर्मिला के अश्रु आराध्य को चढ़ा देते। इससे यह भी मालूम हो जायगा कि द्वादश सर्ग में सर्वाधिक घटनाएँ हैं। शायद गुप्त जी काव्य की शीघ्र समाप्ति चाहते थे। कुछ सर्गों में केवल दो घटनाएँ हैं और कथा-मथर गति से चलती है। इसे लिखने में गुप्त जी को पूरे १५-१६ वर्ष लग गए। उनकी भावना के अनुसार नवम सर्ग आज भी अधूरा है।

उर्मिला की ओर कवियों का ध्यान सर्व प्रथम रवीन्द्रनाथ ने आकृष्ट किया था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी एक लेख में चर्चा की। गुप्त जी के आरम्भ में 'उर्मिला उत्ताप' नाम से कुछ पद्य लिखे भी। अब 'साकेत' के रूप में वह कथा सामने है।

अगले अध्यायों में साकेत की विशेषताओं, नवीनताओं, त्रुटियों आदि पर प्रकाश डालने का मेरा विनम्र प्रयास है।



२—प्रबंध काव्यत्व और भावुकता

कहा जाता है कि साकेत में प्रबंध काव्य के अवयवों के ठीक परिणाम की व्यवस्था नहीं मिलती।

इतिवृत्ति है तो प्राचीन। दशरथ अयोध्या के सम्राट हैं, सुखी हैं, पुत्र राम का राज्याभिषेक कर देना चाहते हैं—

"पुत्र रूपी चार फल पाए यहीं, भूप को अब और कुछ पाना नहीं।
बस यही संकल्प पूरा एक हो, शीघ्र ही श्रीराम का अभिषेक हो!"

कैकेयी भरत के प्रेम में मथरा द्वारा उकसाई जाकर अभिषेक का विरोध ही नहीं करती, वरन् चौदह वर्ष का निष्काशन भी करा देती है। दशरथ की मृत्यु होती है और राम सीता व लक्ष्मण के साथ वन चले जाते हैं। चित्रकूट प्रसंग में भरत को लौटाकर दक्षिण की ओर प्रयाण करते हैं। अनेक राक्षसों का संहार कर लंका की ओर बढते हैं—सीता की खोज में सहायक हनुमान ऋच्छ-वानर हैं। मेघनाद कुंभकर्ण के उपरान्त रावण का वध होता है और राम सकुशल लौट आते हैं। एक कथा तो यह है।

१. प्रधान वस्तु—दूसरी कथा उर्मिला लक्ष्मण के जीवन से सम्बद्ध है। विवाह के उपरान्त बहुत कम समय तक संयोग पूर्ण जीवन, तदन्तर दीर्घ वियोग, प्रिय का अहर्निशि स्मरण और अन्त में आनंदमय मिलन। जो आलोचक राम-कथा-वृत्त को प्रधानता देते हैं उन्हें कमी खटकती है लेकिन मैं बतला चुका हूं यह प्रसंग गौण है। मुख्य अधिकारिक कथा उर्मिला लक्ष्मण से सम्बद्ध है। जो प्रथम सर्ग से लेकर द्वादश सर्ग तक अविच्छिन्न है। लक्ष्मण के न रहने पर भी जब प्रत्येक पात्र का, कवि का, यहाँ तक कि नागरिकों का ध्यान उर्मिला पर ही केन्द्रित रहता है तो इसका तात्पर्य हुआ बार-बार उसी का जीवन सामने आता है और जब स्वयं राम उसकी महत्ता स्पष्ट कर देते हैं तो सांकेतिक रूप से उसी के जीवन की प्रधानता सिद्ध होती है।

दशरथ— "उर्मिला कहाँ है हाय बहू ?
मैं ही अनर्थ का हेतु हुआ
रवि कुल में सचमुच 'केतु' हुआ !"
कैकेयी— "आ मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आ जा !"
लक्ष्मण—"यदि तुम भी प्रस्तुत होगी तो संकोच, सींच दोगी।
प्रभुवर बाधा पावेंगे छोड मुझे भी जावेंगे !
नहीं, नहीं, यह बात न हो रहो, रहो, हे प्रिये रहो !"
सीता—"आज भाग्य है जो मेरा वह भी न हुआ हा तेरा !
अयोध्या के नागरिक तक उसी का आदर्श उपस्थित करते हैं—
"प्यारी घर ही रहो उर्मिला रानी सी तुम
क्रांति अनंतर मिलो, शांति मनमानी सी तुम !"

बीच-बीच में स्वयं कवि को भी जहाँ अवसर मिला है, उसे स्मरण करता रहा है।

"उर्मिला कभी तो रोती थी फिर कभी शांत सी होती थी
देता प्रबोध जो सुनती थी मन में अतर्क्य कुछ गुनती थी !"

तो इनकी जीवन गाथा आद्योपात अविच्छिन्न है। अतः प्रबन्ध में उचित अनुचित व्यवस्था का प्रश्न उठता ही नहीं।

२. प्रासागिक—राम सीता का प्रसग प्रासागिक है। उसका मूल कार्य हुआ प्रधान कथा को गतिशील करना। ऐसा हुआ है कि कोई भी सर्ग ऐसा नहीं जो उर्मिला-लक्ष्मण के कथावृत्त को गति न दे। तब राम-सीता के वृत्त का जितना वर्णन आवश्यक था गुप्त जी ने विस्तार पूर्वक आठ सर्गों तक किया, आवश्यक इसलिये था कि उन्हीं के निर्णय पर लक्ष्मण उर्मिला का भविष्य निर्भर था। चित्रकूट तक आशा की एक क्षीण रेखा थी भी, सम्भवतः राम लौट आए, किन्तु जब राम अपने प्रण पर अटल रहे—

"पर यह पहला आदेश प्रथम ही पूरा
वह तात सत्य भी रहे न अब अधूरा
जिस पर हैं अपने प्राण उन्होंने त्यागे
मैं भी अपना व्रत नियम निभादूँ आगे—"

तो उर्मिला का भाग्य निर्णय हो गया। लक्ष्मण के लिये वन में तपस्या कर उसके उपयोग्य बनना अनिवार्य हो गया, तो इतनी कथा कह कर कवि भी आधिकारिक कथा की ओर उन्मुख हो जाता है जो प्रबन्ध काव्यत्व की दृष्टि से उचित है। रहा राम के जीवन का शेष वृत्त—चौदह वर्षों में उन्होंने क्या-क्या

किया—इसका उल्लेख उन्होंने एकादश सर्ग में तीन पात्रों द्वारा करा दिया। चूँकि ये प्रसग मुख्य कथा से सम्बद्ध न थे अतः सक्षेप में इनका वर्णन कर देना प्रवध काव्यत्व की दृष्टि से गुप्त जी की त्रुटि नहीं वल्कि काव्य कौशल है। मैं तो यही मानता हूँ। प्रासंगिक कथा का मूल उद्देश्य मुख्य-कथा को गति देना ही होता है।

३. अवांतर प्रसंगः—इनके अतिरिक्त प्रवध काव्य में छोटे मोटे अवांतर प्रसंगों का विधान भी होता है। इनका स्वतन्त्र लक्ष्य नहीं होता, मुख्य कथा के सहायक रूप में ही ये आते हैं। ऐसे अवांतर प्रसंग 'साकेत' में हैं:—(१) मथरा कैकेयी का वार्तालाप (२) दशरथ का विलाप और मृत्यु (३) भरत का आगमन और दाह-सस्कार (४) चित्रकूट की भेंट (५) सखी को सम्बोधित कर उर्मिला का वाल्यकालीन जीवन (६) भरत की तैयारी। गुप्त जी ने कुशलता से इनका निर्वाह किया है।

(१) कैकेयी को राम सर्वाधिक प्रिय थे। वे भी कौशल्या की अपेक्षा उसे अधिक मानते थे—

"लो कुहुकिनि, अपना कुहुक, राम यह जागा
निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा!"

वह भी राम के राज्याभिषेक पर प्रसन्न थी। मंथरा को उदास देखकर पूछ ही वैठीं—

"अरी तू क्यों उदास है आज वत्स जव कल होगा युवराज?"

तो मंथरा को अपना भाव व्यक्त करने का अवसर मिल गया। उसे सोच यह है कि भरत अपने मामा के घर दूर वैठे हैं, यहाँ राज्य ही राम को दे दिया जा रहा है। कैकेयी आशय न समझ सकी—

"कहा उसने—"यह क्या उत्पात?
वचन क्यों कहती है तू वाम
नहीं क्या मेरा वेटा राम?"

तो मंथरा उसके मन में यह वात डालती है कि दोनों का अन्तर प्रातःकाल प्रकट हो जायगा जव कौशल्या तो राज माता वनेगी और कैकेयी चुपचाप उनका मुँह देखेगी, जव राजा वनेंगे राम और भरत हो जायगा सेवक! यही तो षड्यन्त्र है:—

"इधर भोली हैं वैसी आप समझती सवको वैसी आप!
नहीं तो यह सीधा षडयत्र रचा क्यों जाता यहाँ स्वतंत्र?
महारानी कौसल्या आज सहज सज लेतीं सव क्या साज?"

तो कैकेयी क्रोधपूर्वक उसे फटकार देती है वह दासी उनके पारस्परिक व्यवहार क्या समझे? मथरा हटो नहीं। कैकेयी के मन में उसका तर्क बैठता गया—

"भरत से सुत पर भी संदेह बुलाया तक न उन्हें जो गेह?"

और जब यह कहती हुई मथरा चली गई—

"दण्ड दें कुछ भी आप समर्थ कहा क्या मैंने अपने अर्थ?
समझ में आया जो कुछ मर्म उसे कहना था मेरा धर्म
न था यह मेरा अपना कृत्य भर्तृ हैं भर्तृ, भृत्य हैं भृत्य।"

तो कैकेयी पर उसकी प्रतिक्रिया हुई। उसने दशरथ से अपना प्रण पूरा करा ही लिया। लक्ष्मण-उर्मिला का भाग्य-वैषम्य इसी बीज से प्रस्फुटित होता है। इस प्रकार मुख्य कथा से सम्बद्ध है।

(२) दूसरा प्रसंग है दशरथ का। वे कैकेयी को बड़ी करुणा से समझाते हैं लेकिन कोई प्रभाव न पड़ता देखकर अनिश्चय में पड़ जाते हैं—

"वचन पलटें कि भेजें राम को वन में
उभय विधि मृत्यु निश्चित जान कर मन में
हुए जीवन मरण के मध्य धृत से वे
रहे बस अर्ध जीवित, अर्ध मृत से वे।"

राम के वन चले जाने पर जब सुधि लौटी तो विलाप करने लगे। उर्मिला की असहाय दशा पर उन्हें और दुख था। आशा थी सुमंत के साथ कदाचित् राम लौट आएँ—दशरथ के प्राण इसी पर टिके थे। जब वे भी "कर में सूनी रास लिए" आए तो दशरथ ने पूछा—

"बोले नृप—'राम नहीं लौटे?' गूँजा सब धाम–'नहीं लौटे'
नृप ने सशंक जो कुछ पूछा बस उत्तर हुआ वही छूछा.........
बोले फिर वे—'कि कहाँ छोड़ा ले चलो मुझे कि जहाँ छोड़ा
मुझको भी वहीं छोड़ आओ वह रामचंद्र मुख दिखलाओ।"

जब सुमंत ने राम का सन्देश दिया कि वे धर्म का पालन करने गए हैं शांति रखना उचित है तो दशरथ अपनी व्यथा न रोक सके। सीता का उत्तर पूछा तो उन्हें जीवन भार स्वरूप ज्ञात होने लगा। जीवन का लाभ ही क्या!—

"भूपति को जीवन भार हुआ बस यह अंतिम उद्गार हुआ—
मेरे कर युग हैं टूट चुके कटि टूट चुकी, सुख छूट चुके ......
खाकर भी बार बार झटके क्यों प्राण अभी तक हैं अटके?
हे जीव चलो अब दिन बीते हा राम, राम लक्ष्मण सीते!

और वे चल बसे—

"बस यहीं दीप निर्वाण हुआ सुत-विरह वायु का वाण हुआ !"

(३)—तीसरा प्रसग भरत क आगमन से सबध रखता है। भरत और शत्रुघ्न अयोध्या को लौटे किंतु समझ में नहीं आया सर्वत्र उदासीनता क्यों है। हर्ष के स्थान पर अवसाद क्यों उत्पन्न होता है ? न नागरिकों का भ्रमण है, न वेद पाठ ? प्रहरियों का मौन विनयांचार देखकर उनकी आशका बढ़ती गई। सब चुप चाप बैठे हैं, शिक्षणालय बद हैं। धीरे धीरे रहस्य ज्ञात हुआ तो दोनों भाइयों के क्षोभ का वारापार न रहा। भरत ने सर्व प्रथम कैकेयी की भर्त्सना की—

'राज्य, क्यों माँ राज्य, केवल राज्य ?
न्याय-धर्म-स्नेह तीनों त्याज्य !
सब करें अब से भरत की भीति
राजमाता कैकयी की नीति—
स्वार्थ ही ध्रुव—धर्म ही सब ठौर !
क्यों न माँ ? भाई, न बाप, न और ?
आज मैं हूँ कोसलाधिप धन्य !
गा, विरुद गा, कौन मुझ सा अन्य ?
कौन हा ! मुझ सा पतित-अतिपाप
हो गया वर ही जिसे अभिशाप !"

तब कौशल्या के सम्मुख अपना स्पष्टीकरण किया। उनको इतना खेद, पश्चाताप हुआ कि मूर्च्छित होकर गिर पड़े। वशिष्ट ने समझाया, जीवन की दार्शनिक व्याख्या की। तब भरत पिता के दाह सस्कार में लगे। गुप्त जी ने यह प्रसंग भी साभिप्राय रखा है। उद्देश्य है सब अयोध्यावासियों का दशरथ के प्रति सम्मान प्रकट करना। भरत की अनुताप तो है हां, 'साकेत' भी व्यथा से पूर्ण है। नरपति के महा सस्कार में जन समूह उमड़ा आता है और—

"कण्ठ कण्ठ गा उठा शून्य शून्य छा उठा—
सत्य काम सत्य है ! राम नाम सत्य है ?"

(४) चित्रकूट की भेंट का अपना महत्व है। तुलसी के चित्रकूट प्रसग से यह कम मार्मिक नहीं। रामचरित मानस की तरह यह सभा भी एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की योजना, हृदय की इतनी उदात्त-वृत्तियों की एक साथ उद्भावना, 'साकेत' में यहीं सभव थी। भाई-भाई का,

माता-पुत्र का, गुरू-शिष्य का, राजा-प्रजा का भावोत्कर्ष यहीं मार्मिक रूप में प्रस्फुट होता है।

चित्रकूट में सभा बैठी। विचार विमर्श हुआ। राम ने भरत का अभिप्राय पूछा। यहाँ उसका हृदय बोल उठा है—

"पाया तुमने तरु तले अरण्य-बसेरा"""
× × ×
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा"""
× × ×
मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ?"

माता कैकेयी ने अपना स्पष्टीकरण दिया। उसका मन स्वयं ही अपना विश्वास न कर सका, तब मथरा का क्या दोष ? फिर भी वह माता है अपने मातृत्व का अधिकार बनाए रखना चाहती है। अपनी आज्ञा वापस लेने को तैयार है, उनसे विनय करती है—

"मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा
पर भरत वाक्य है—सहूँ विश्व की वीडा !
जीवन-नाटक का अंत कठिन है मेरा
प्रस्ताव मात्र मे जहाँ अधैर्य, अँधेरा।
अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता
करती है तुमसे विनय आज यह माता !"

वशिष्ठ ने समझाया, जाबालि ने प्रयत्न किया जब राम अपनी प्रण-पूर्ति पर जमे रहे तो भरत चरण-पादुका को अपना सबल बनाया—

'तो जैसी आज्ञा, आर्य सुखी हों वन में,
जूझेगा दुख से दास, उदास भवन में
बस मिलें पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊँ,
बच उनके बल पर, अवधि पार मे पाऊँ !'

यह प्रसग दो दृष्टियों से आवश्यक था—एक तो भरत की राम-भक्ति, व राम का चरित्र दिखाना, दूसरे लक्ष्मण की भावी रूप-रेखा स्पष्ट कर देना। यहीं उर्मिला से केवल घड़ी भर के लिए भेंट हो पाई—

'मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी।
गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में,
वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल मे !'

(५) सखी को संबोधित कर उर्मिला अपना बचपन वर्णन करती है। यह कथा सूत्र मुख्य कथा का प्रारंभिक भाग है--अभी तक उसकी युवावस्था के बाद का चित्र ही पाठक देखते जा रहे थे, इस वर्णन में उसके पूर्व जीवन की रूपरेखा भी स्पष्ट हो गई। यह विराम या नवम् सर्ग का परिशिष्ट नहीं है—जैसा कुछ लोग कहते हैं। उसके समग्र जीवन की एक कल्पना करना ही कवि को अभीष्ट रहा है। इसे मिलाकर पाठक अब तक की घटनाओं में जोड़ लेता है और उर्मिला लक्ष्मण की कथा अन्त तक अबाध गति से बढ़ती जाती है।

एक अवातर प्रसग और है—द्वादश सर्ग में भरत का युद्ध के लिए सैन्य सज्जित करना। हनूमान द्वारा लक्ष्मण-शक्ति की चर्चा होने पर वे राम की सहायता के लिए सैन्य को तैयार कराते हैं। इसका उद्देश्य एक तो साकेत-वासियों की कर्मण्यता प्रदर्शित करना है, दूसरा उर्मिला का क्षत्रियत्व प्रदर्शित करना। अभी तक पाठक उसके प्रेम पक्ष से ही परिचित थे, यह भावना उसमें लोक हित, वीरत्व का दर्शन कराती है। विरह विदग्धा होने पर भी अपने कर्त्तव्य से वह विमुख नहीं है। संगठित होने का सदेश देती है—

'देव दुर्लभा भूमि हमारी प्रमुख पुनीता,
उसी भूमि की सुता पुण्य की प्रतिमा सीता।
मातृ भूमि का मान ध्यान में रहे तुम्हारे
लक्ष लक्ष भी एक लक्ष रक्खो तुम सारे!'

इस प्रकार अवानर कथाएँ भी मुख्य कथा से परोक्ष-अपरोक्ष सबध रखती हैं, उसकी गति में बाधक नहीं होतीं।

४. विराम स्थल—कथा प्रवाह में विराम देने के लिए बीच बीच में कुछ स्थलों पर कवि रुकता चलता है, इससे पाठकों को मानसिक विराम भी मिलता है तथा कवि को अन्य तथ्य उपस्थित करने का अवसर भी मिल जाता है! साकेत में ऐसे प्रधान विराम स्थल दो हैं—(१) राम-जाबालि का संवाद, (२) राम-सीता का सवाद।

(१) जाबालि मुनि सभवतः राम की दृढ़ता की परीक्षा लेना चाहते थे, २५ पंक्तियों तक तर्क-वितर्क हुआ है। इसे अनुपयुक्त तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि राम के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है राजनीति के तत्वों का विवेचन होता है, रघुकुल की परपरा का निर्देशन होता है और सर्वाधिक गुप्त जी की संवाद कुशलता का परिचय होता है! वे "स्व जटिल शीर्ष झुका कर सहना"

'ओहो ! मुझको कुछ नहीं समझ पडता है
देने को उलटा राज्य द्वन्द्व लड़ता है !
पितृ वध तक उसके लिए लोग करते हैं !'

यहाँ राज्य लेने के लिए नहीं अपितु देने के लिए विवाद हो रहा है ! वे राम की और परीक्षा लेते हैं—

'हे राम त्याग की वस्तु नहीं वह ऐसी ...
हे तरुण तुम्हें संकोच और भय किसका ? ...
पशु पक्षी तक हे वीर स्वार्थ लक्षी हैं ...
मैं कहता हूँ—सब भस्म शेष जब लोगो
तब दुःख छोड कर क्यों न सौख्य ही भोगो ?' ...' आदि

लेकिन जाबालि मुनि भी राम की रीति-नीति-परपरा पालन में पूर्ण पाते हैं ।

(२) दूसरा स्थल राम-सीता का अष्टम सर्ग के आरभ में सवाद । सीता— "अचल पट कटि में खोंस कछोटा मारे"—बैठी हुई हैं उनको अपनी कुटिया राज भवन के समान प्रतीत होती है, प्रसन्न दन हैं । राम का कथन है आनद मनुष्य के ही अधीन है, कहीं भी प्राप्त हो सकता है । कभी वृक्ष-फूलों की चर्चा करते हैं कभी अपने जीवन की । वे डालों को सींचने तोड़ने की बात करते हैं तो सीता हँसती हैं—

'अच्छा ये पौधे कहो फलेंगे कब लौं ?
हम और कहीं तो नहीं चलेंगे तब लौं ?'
'पौधे ? सींचो ही नहीं, उन्हें गोड़ो भी
डालों को चाहे जिधर उधर मोडो भी !'
'पुरुषों को तो बस राजनीति की बातें !
नृप में, माली मे काट छाँट की घातें !
प्राणेश्वर, उपवन नहीं किंतु यह वन है
बढ़ते हैं विटपी जिधर चाहता मन है' '

तब राम जीवन की सफलता के लिए आदर्शों की व्याख्या करते हैं । अपने जन्म लेने का कारण स्पष्ट करते हैं—वे यहाँ भूतल को ही स्वर्ग तुल्य बनाने आए हैं, जिससे मर्यादा बनी रहे, लोगों का दैन्य, रोग शोक-भय दूर हो । सुख शाति देने आए हैं—

'मैं यहाँ एक अवलब छोडने आया
गढ़ने आया हूँ नहीं तोड़ने आया

मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया
जगदुपवन के झंखाड़ छाँटने आया
मैं राज्य भोगने नहीं भुगाने आया
हंसों को मुक्ता-मुक्ति चुगाने आया
भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया!
संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया?

यह प्रसंग भी सोद्देश्य है। सीता का आनन्द मग्न जीवन दिखाना था और राम जन्म का उद्देश्य भी स्पष्ट करना था। इतना अवश्य है यदि ये विराम स्थल कुछ छोटे कर दिए जाते या जैसा उन्होंने पचम सर्ग में "जय गंगे आनन्द तरंगे कलरव" में किया है तो कथा-प्रवाह और ठीक रहता।

मेरा विचार है वे उर्मिला-लक्ष्मण की रूपरेखा पर कुछ और ध्यान देते तो प्रबन्ध सौष्ठव निखर उठता। आलोचकों को यह कहने का अवसर नहीं मिलता कि गुप्त जी पूरी रामकथा भी कहना चाहते हैं और उर्मिला को भी उपेक्षित नहीं करना चाहते। फलतः 'साकेत' निर्दोष प्रबन्ध काव्य नहीं हो पाया। आठ सर्गों तक अयोध्याकाण्ड की कथा है, दो सर्गों में उर्मिला रोई है और अन्तिम दो सर्गों में शेष घटनाओं का चलता वर्णन कर दिया है। किसी ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि अन्तिम एकादश-द्वादश सर्ग प्रबन्ध काव्य की टूटी हुई टाँगें जैसी प्रतीत होती हैं। हनुमान के मुँह से घटना सुनाने पर भी ऐसा लगता है कि वे अपना कार्य भूल कर कथा वर्णन में लग गए हैं।

इसका एक कारण तो मैं बतला चुका हूँ गुप्त जी ने प्रधानता उर्मिला को दी, 'साकेत' को दी। जो प्रसंग आवश्यक थे, विस्तार पूर्वक लाए हैं, शेष गौण रूप से वर्णित हैं क्योंकि उनके उद्देश्य से सबद्ध नहीं हैं। दूसरा कारण यह है कि गुप्त जी के गीत परम्परा को प्रबन्ध परम्परा में आत्मसात् करने की चेष्टा की है अतः स्वतंत्र उद्भावनाएँ, अपनी भावाभिव्यक्ति पात्रों द्वारा अधिक हैं। उन्होंने व्यक्ति को ही महत्व दे दिया है। नवम-सर्ग का प्रत्येक छन्द मुक्त है।

५. विषयवस्तु:—प्रबन्ध काव्य के लिए विषय महत् होना चाहिए। भारतीय आचार्य ही नहीं पश्चिमी विद्वानों ने भी इसे स्वीकार किया है, बल्कि विषय को ही अधिक महत्व दिया है—

"What are the eternal objects of Poetry among all nation and at all times? They are actions, human

actions' ..... 'all depends upon the subject choose a fitting action, penetrate yourself with the feeling of its situations, this done, everything else will follow."*

'साकेत' का विषय महत् है ही। रामचरित से बढ़ कर गुप्त जी के लिए श्रेष्ठ वस्तु क्या हो सकती थी? स्वयं उन्होंने माना है—

'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है!'

अब दूसरा पक्ष लिया जाय। 'साकेत' प्रबन्ध काव्य में गुप्त जी की भाव-प्रवणता कहाँ तक परिलक्षित होती है। शुक्ल जी के मापदण्डों के अनुसार इसकी विवेचना होगी। एक तत्व "कल्पना का उत्कर्ष" मैंने और जोड़ दिया है जिसकी आवश्यकता मैं इस पुस्तक के पहले भाग अध्याय १० में स्पष्ट कर चुका हूँ।

१. मार्मिक स्थलों की पहचानः—साकेत के मार्मिक स्थल सात हैं—(१) लक्ष्मण उर्मिला का संवाद (२) मंथरा कैकेयी का वार्त्तालाप (३) राम का वन गमन (४) दशरथ का विलाप व स्वर्गवास (५) चित्रकूट की भेंट (६) उर्मिला का विरह और (७) भव्य पुनर्मिलन।

(१) उर्मिला "अरुण पट पहने हुए आह्लाद में" खड़ी है। उसका सौंदर्य अंग प्रत्यंग से झाँक रहा है। अभी पूर्ण युवा नहीं तारुण्य झलकता आ रहा है, यह वयः सन्धि के बाद की अवस्था है जब उसकी भाँति ही मानो प्रकाश फैला रही हो!

'स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला
नाम है इसका उचित ही—'उर्मिला'।
शील सौरभ की तरंगें आ रहीं
दिव्य भाव भवाब्धि में हैं ला रहीं।'

लक्ष्मण आए तो "रसिकता में सुरस भरसाती हुई" वार्त्तालाप करती है। लक्ष्मण भी कम नहीं जो स्वप्न से जागरण ही अच्छा मानते हैं। प्रेम में कुछ भी बुरा नहीं होता, उसकी प्रशंसा करते-करते नहीं अघाते—

'बलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर
मर रही है, जी रही है सृष्टि भर!

* Mathew Arnold.

भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल आवर्त भी।
प्रेयसी, किसके सहज संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग-से''''॥

वे कुछ कहने लगे तो बीच में तोता बोल उठा जिसे उन्होंने ही सिखाया था। तब राम के अभिषेक की चर्चा होती है नया युग आ रहा है। तब उर्मिला बनाया हुआ चित्र दिखाती है, सोने की मचिया पर उन्हें बिठाती है। वे हाथ चूमने की कामना प्रकट करते हैं तो उर्मिला उन्हें लज्जित करती है—

'कर बढ़ा कर, जो कमल सा था खिला
मुस्कराई और बोली उर्मिला—
'मत्त-गज बन कर विवेक न छोड़ना
कर कमल कह कर न मेरा तोड़ना!'
वचन सुन सौमित्रि लज्जित हो गए
प्रेम सागर में निमज्जित हो गए!'

वह कितनी शीघ्रता से चित्र बनाती है—

'होड़, कर यों उर्मिला उद्यत हुई,
और तत्क्षण कार्य में वह रत हुई।
ज्योति-सी सौमित्रि के सम्मुख जगी
चित्रपट पर लेखनी चलने लगी!
अवयवों की गठन दिखला कर नई,
अमल जल पर कमल-से फूले कई।
साथ ही सात्विक सुमन खिलने लगे,
लेखिका के हाथ कुछ हिलने लगे''''।'

अन्त में प्रातःकाल होने पर लक्ष्मण विदा हो जाते हैं। इस प्रसंग की मार्मिकता यह है कि उनका दाम्पत्य जीवन एक झलक में दिखा दिया गया है। फिर उनके जीवन में ऐसा प्रसंग कभी नहीं आता। इतनी मधुरता के उपरान्त दीर्घ विरह का दुःख उन्होंने कैसे झेला होगा, उनकी अनुभूति कितनी तीव्र रही होगी! इसकी व्यंजना गुप्त जी ने बाद में कराई है।

(२) मंथरा कैकेयी का वार्तालाप भी मार्मिक है। उसका मातृत्वपूर्ण हृदय ही राम से विमुख हो जाता है। हर्ष, प्रसन्नता के क्षण आते-आते ही विषाद में बदल जाते हैं, अभिषेक के स्थान पर बनवास हो जाता है इससे अधिक मार्मिकता और किस प्रसंग में हो सकती है!

(३) किन्तु राम अविचलित रहे। माता-पिता की आज्ञा शिरोधार्य है।

'करो तुम धैर्य रक्षा, वेश रक्षा
करूँगा क्या न मैं आदेश-रक्षा?
मुझे यह इष्ट है, चिंतित न हो तुम
पड़ूँ मैं आग में भी जो कहो तुम।
तुम्हीं ही तात! परमाराध्य मेरे
हुए सब धर्म अब सुख साध्य मेरे।'

लक्ष्मण आवेश न रोक सके। माता-पिता दोनों को चलेंज कर देते हैं। मुकुट पर ज्येष्ठ पुत्र का ही अधिकार होता है तब वे निर्णय करने वाले कौन? राम ही उन्हें वर्जित करते हैं।

'रहो, सौमित्रि तुम क्या कह रहे हो?
सँभालो वेग देखो बह रहे हो
× × × ×
'मुझे जाना समझ कर आज वन को
न यों कलुषित करो प्रेमाध मन को!
तुम्हीं को तात यदि वनवास देते
उन्हें तो क्या तुम्हीं यों त्रास देते?'

स्वय माताओं से विदा माँगते हैं। कौशल्या करुणा विह्वल हो जाती है, सुमित्रा पुन क्षत्रियत्व की बात करती है लेकिन आज्ञा का पालन सब के ऊपर है। लक्ष्मण भी कर्त्तव्य निष्ठ होकर उन्हीं का साथ देते हैं। सीता उनके साथ चलती है। राम का यही कहना है—

'भैया भरत अयोग्य नहीं, राज्य राम भोग्य नहीं,
फिर भी वह अपना ही है, यों तो सब सपना ही है,
मुझको यहाँ महत्व मिला स्वयं त्याग का तत्व मिला!'

और निस्सकोच वन को प्रस्थान करते हैं। तीन व्यक्तियों का इस प्रकार गृह-त्याग कर चौदह वर्ष के लिए वनमार्गी होना—वह भी "विधु वैनी" वधू को साथ लेकर अत्यन्त मार्मिक प्रसग है—

'प्रस्थान - वन की ओर, यां लोक मन की ओर?
होकर न धन की ओर, है राम जन की ओर!'

तुलसी ने भी बड़ी मार्मिकता से इस प्रसग का वर्णन किया है—

'राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाँई!'

(४) दशरथ का विलाप व मृत्यु की मार्मिकता यह है कि पुत्र वियोग उन्हें असह्य हुआ। वन भेजने पर भी दुविधा, न भेजने पर प्रण का टूटना था। इस संघर्ष में गुप्त जी ने क्रिया-प्रतिक्रिया का विवेचन किया है। किसी पात्र का चरित्र घात-प्रतिघात में ही निखरता है। जहाँ यह समस्या उठ खड़ी हो कि अमुक कार्य किया जाय या न किया जाय। पात्र दोनों के पक्ष विपक्ष में सोचता है तब या तो स्वयं किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है या दूसरों द्वारा पहुँचती है। दशरथ राम के ध्रुव निश्चय से निष्कर्ष पर पहुँचे। जब लौटने की आशा न रही तो "हे जीव चलो अब दिन बीते" कह कर वे भी चल बसे। पुत्र-वियोग में यह मृत्यु मार्मिक घटना है। गुप्त जी ने सफलता से निर्वाह किया है—

'अति भीषण हा हा कार हुआ सूना सा सब संसार हुआ''''
अनुचर अनाथ से रोते थे, जो थे, अधीर सब होते थे !'

(५) चित्रकूट की भेंट की मार्मिकता मैं बतला चुका हूँ। यहाँ धर्म की धर्म से, नीति की नीति से, प्रेम का प्रेम से सुन्दर विश्लेषण हुआ है।

(६) उर्मिला का विरह वर्णन सबसे मार्मिक है। प्रिय वियोग में भोजन-वस्त्र उसे कुछ नहीं सुहाते। ऋतुएँ आकर व्यापक प्रभाव छोड़ती हुई चली जाती हैं। खजनों को देखकर आशा होती है प्रिय ने नेत्र घुमाए हैं, तो कभी स्वप्न में उनका दर्शन कर चौंक उठती है। कहीं-पशु पक्षियों तक अपनी वेदना का प्रसार देखती हैं तो कहीं तूलिका द्वारा चित्र बनाना चाहती हैं। संयोगावस्था का स्मरण उसकी विरहानुभूति पर और शान चढ़ा देता है। कभी आशा होती है प्रिय शीघ्र लौटेंगे फिर विस्मरण हो जाता है। इस प्रकार प्रिय विरह में स्वयं जलती हुई आरती बन जाती है। समय की अवधि शिला की तरह उसे दबाए है—

'अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार
तिल तिल काट रही थी दृग जल-धार !'

(७) विरह-वर्णन की इस मार्मिकता से पुनर्मिलन का दृश्य कम भव्य नहीं। सखी नवीन वस्त्रों से सज्जित करना चाहती है—लेकिन लाभ क्या ? उसकी टीस यही है क्या शृंगार मात्र ही उन्हें सन्तुष्ट कर सकेगा ? हृदय का प्रेम हृदय पर ही होता है। वह अपने स्वाभाविक रूप में ही रहना चाहती है।

'हाय ! सखी शृंगार मुझे अब भी सोहेंगे ?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे ?'''
नहीं नहीं प्राणेश मुझी से छले न जावें
जैसी हूँ मैं नाथ मुझे वैसा ही पावें !'

और प्रिय आते हैं, जन्म जन्म के स्वामी से भेंट होती है। आनन्द के आँसुओं की झड़ी लग जाती है। अब जीवन धारा शान्त है। लक्ष्मण उसे सान्त्वना देते हैं—

'वह वर्षा की बाढ़, गई उसको जाने दो
शुचि गंभीरता प्रिये, शरद भी यह आने दो।'

चौदह वर्ष के उपरान्त यह मिलन उनके जीवन में अत्यन्त मार्मिक है।

इस प्रकार गुप्त जी को मार्मिक स्थलों की पहचान है और पूरी सफलता से उनका निर्वाह भी किया है।

२. भावों की व्यापकता :—"कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डाल कर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।"* गुप्त जी के प्रायः सभी स्थायी-सचारी भावों का साकेत में सन्निवेष किया है। भावों-अनुभावों की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। जीवन की प्रत्येक दशा का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भाव-प्रसार की शक्ति के नहीं हो सकता। उदाहरण लीजिए—

(१) 'स्थायी भाव 'रति'—'मुसकरा कर अमृत बरसाती हुई,
रसिकता में सुरस सरसाती हुई,
उर्मिला बोली—'अजी तुम जग गए?
स्वप्न निधि से नयन कब से लग गए?'
'मोहिनी ने मंत्र पढ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ...
तुम रहो मेरी हृदय...देवी सदा
मैं तुम्हारा हूँ प्रणय सेवी सदा।'
फिर कहा वरदान भी दोगी मुझे?
मानिनी कुछ मान भी दोगी मुझे?
उर्मिला बोली कि यह क्या धर्म है?
कामना को छोड़ कर ही कर्म है?'

(२) 'हास'—'हँस कर जावालि वशिष्ठ और तब हेरे,
मुसका कर गुरु ने कहा—'शिष्य हैं मेरे।
मन चाहे जैसे और परीक्षा लीजे,
आवश्यक हो तो स्वयं स्वदीक्षा दीजे!'

---

* रामचन्द्र शुक्ल

(३) 'शोक'—'बस यहीं दीप निर्वाण हुआ''''
रहता जो मानो सदा खड़ा
था आज निरा निश्चेष्ट पड़ा''''
मुँह छिपा पदों में प्रिय पति के
आधार एक जो थे गति के
कर रहीं विलाप रानियाँ थीं
जीवन धन मयी हानियाँ थीं !'

उर्मिला का विरह वर्णन करुणापूर्ण अवश्य है पर स्थायी भाव 'शोक' उसमें नहीं मानना चाहिए, क्योंकि प्रिय-मिलन की संभावना बनी रहती है। इसका विवेचन मैं पिछले अध्यायों में कर चुका हूँ।

(४) 'क्रोध' :—'गई लग आग सी, सौमित्रि भड़के,
अधर फड़के प्रलय घन तुल्य तड़के !
मरे मातृत्व तू अब भी जताती,
ठसक किसको है भरत की बताती ?
भरत को मार डालूँ और तुझको,
नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको !
युधाजित आततायी को न छोड़ूँ,
बहन के साथ भाई को न छोड़ूँ !
बुलाले सब सहायक शीघ्र अपने,
कि जिनके देखती है व्यर्थ सपने !'

(५) 'उत्साह'—'क्या हम सब मर गए हाय ! जो तुम जाती हो,
या हमको तुम आज दीन दुर्बल पाती हो ?
मारेंगे हम देवि, नहीं तो मर जाएँगे,
अपनी लक्ष्मी लिए बिना क्या घर आवेंगे।
होगा होगा वही, उचित है जो कुछ होना,
इस मिट्टी पर लदा निछावर है वह सोना !'

(६) 'भय'—'उधर हाँक सुन हनुमान की पुरजन दहले—
'मैं वह हूँ जो जला गया था लंका पहले !
मेघनाद ही हमें चाहिए आज कहाँ वह
पहुँचे सब निज यज्ञ लग्न था' मग्न जहाँ वह !'

(७) 'वात्सल्य'—'मुझे राज्य की चाह नहीं,
उस पर कुछ भी डाह नहीं।

मेरा राम न वन जावे
यहीं कहीं रहने पावे
उनके पैर पड़ूँगी मैं
कह कर यही अड़ूँगी मैं
भरत राज्य की जड़ न हिले
मुझे राम की भीख मिले!'

× × × ×

'मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझ से न्यारे' ।
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा!'

इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों के उदाहरण भी मिलते हैं। 'घृणा' का उदाहरण नहीं है क्योंकि प्रायः इसका विधान 'साकेत' में युद्ध वर्णन के अंतर्गत हो सकता था जैसा गुप्त जी ने 'जयद्रथ-वध' में किया भी है लेकिन यहाँ युद्ध का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं किया गया।

सचारी भावों का विधान स्थान-स्थान पर हुआ है। 'चिन्ता', 'विषाद', 'मति', 'मोह', 'स्वप्न', 'व्याधि', 'अपस्मार' के उदाहरण नवम सर्ग में मिलते हैं। 'आवेग', 'उत्सुकता', 'हर्ष', 'उग्रता' आदि का विधान नागरिकों व लक्ष्मण के चरित्र चित्रण में हुआ है। 'शका', 'ग्लानि' का विधान माताओं की भावाभिव्यक्ति में है। 'अमर्ष' का सुन्दर उदाहरण लक्ष्मण की उग्रता में है। ये सचारी भाव प्राय अन्य भावों के साथ मिलकर आये हैं। कहीं उत्साह, रति के उपकारी हैं तो कहीं 'क्रोध', 'शान्ति' के। यही सचारी भावों का कार्य भी होता है कि वे स्थायी भावों के उपकरण होकर आएँ।

अनुभाव हावों के अनेक उदाहरण मिल जायँगे—

(१) साथ ही सात्विक सुमन खिलने लगे
लेखिका के हाथ कुछ हिलने लगे
झलक आया स्वेद भी मकरद सा
पूर्ण भी पाटव हुआ कुछ मद सा।

(२) 'काँप रही थी देह लता उसकी रह रह कर
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर वह वह कर!'

उपर्युक्त उदाहरणों म 'स्वेद', 'कप', 'अश्रु'—सात्विक अनुभाव हैं। एक उदाहरण और देखिये—

'सिमिट सी सहसा 'गई प्रिय की प्रिया
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया!
किन्तु घाते में उसे प्रिया ने किया
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया!'

यहाँ 'हाव' का विधान है!

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गुप्तजी के हृदय का रागात्मक साम्य है उतना आधुनिक काल में किसी और हिन्दी कवि का नहीं! डा० नगेन्द्र ने साकेत को ठीक ही मानव जीवन की बड़ी अनूठी और पूर्ण व्याख्या कहा है।*

३. भावों की तीव्रता—भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है क्या उनके (तुलसी के) भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है? यदि तीव्रता न होती, भावों का पर्ण उद्देश्य उनके वचनों में न होता तो वे इतने सर्व-प्रिय कैसे होते? +शुक्ल जी का तुलसी के सम्बध में यह कथन गुप्त जी के लिये भी सटीक बैठता है। राम के प्रति उसकी अनन्यता तो है ही उर्मिला के विरह वर्णन से पूर्ण 'साकेत' में करुणा की अन्तर्धारा प्रवाहित हो रही है। इतनी रोई है कि गुप्तजी को बार-बार स्पष्टीकरण करना पड़ा है और उनकी दृष्टि से वह आज भी अधूरी है! गांधी जी को भी यही कहना पड़ा इस युग की पुस्तकों में ऐसा रुदन नहीं आता है।

'साकेत' में दो स्थान अत्यन्त करुण हैं—दशरथ की मृत्यु और उर्मिला का विरह। गांधी ने लिखा—"एक और चीज भी कह दूं। दशरथादि का रुदन तुलसीदास के मानस में पढने से आघात नहीं पहुँचा था। तुलसीदास से दूसरा कुछ नहीं हो सकता था। परन्तु इस युग की पुस्तक में ऐसा रुदन नहीं भाता है। उसमें वीरता को हानि पहुँचती है और इधर भक्ति को भी। जो ऐहिक-योग को क्षणिक मानने वाले हैं उनको मृत्यु का और वियोग का असह्य कष्ट हो ही नहीं सकता है। क्षणिक मोह भले आ जावे। परन्तु हम उनमें करुणा-जनक रुदन की आशा कैसे रखें?" उन्हें उर्मिला का इतना रोना भी अच्छा नहीं लगा। गुप्त जी ने उन्हें जो उत्तर दिया उससे स्पष्ट हो जाता है वे जानबूझ कर इस वर्णन को अतिरंजित करने में संतोष पा रहे थे—"वह (उर्मिला) तो आपके लिए बकरी का दूध भी लाना चाहती है। परन्तु डरती है कि उसमें

* डा० नगेन्द्र 'साकेत' एक अध्ययन।

+ रामचन्द्र शुक्ल

कभी पानी मिला देख कर आप यह न कह दें कि—छोड़ा मैंने बकरी का दूध भी ! पानी, हाँ, आँखों का पानी। बहुत रोकने पर भी एक आध बार वह टपक पड़ा तो बापू दूध से भी गए !"

करुणा की यह सूक्ष्म अंतर्धारा 'साकेत' में द्वितीय सर्ग से प्रवाहित होने लगती है। तृतीय चतुर्थ में मथर गति से बढ़ती है। कौशल्या उस मूर्च्छित बधू का सिर अपनी गोद में रख कर रोती है, षष्ठ सर्ग में एक ओर दशरथ की मृत्यु से घोर शोक छा जाता है। तो कवि स्वय उर्मिला का वर्णन करता है—

'सीता ने अपना भाग लिया, पर इसने वह भी त्याग दिया''''
नव वय में ही विश्लेष हुआ, यौवन मे ही मति वेष हुआ।
किस हत विधि का यह योग हुआ, सुख भोग भयंकर रोग हुआ।'

उधर उर्मिला स्वय कैकेयी के सामने जाकर मूर्च्छित हो जाती है—

'माँ, कहाँ गए वे पूज्य पिता ?' करके पुकार यों शोक सिता।
उर्मिला सभी सुध बुध त्यागे, जा गिरी केकयी के आगे !'

नवम-दशम सर्ग म करुणा का यह प्रवाह इतना बहा है कि जीवन की आनन्द-पूर्ण-घटनाओं, स्मृतियों को भी उसने तीव्र विषाद अवसाद में बदल दिया है। यहाँ तक कि शत्रुघ्न, हनूमान या वशिष्ठ जिन अन्य क्षेत्रों का वर्णन-दर्शन कराते हैं, उस समय भी पाठक के सामने उर्मिला की करुणा-मूर्ति बनी रहती है। अन्त में मिलन तक को इस करुणा ने आच्छादित कर लिया है। उर्मिला का खेद दैन्य शिथिलता, जीवन से विरक्ति का कारण यह है—

'पर यौवन का उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं ?
वह खोया धन आज कहाँ सखि पाऊँगी मैं ?'

तो 'साकेत' में गुप्त जी करुणा की सूक्ष्म गहराई तक भी उतर गए हैं। वीर-भावना का उन्मेष सुन्दर है। उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का एक उदाहरण देखिए। सीता के चरणों की कोमलता व्यंजित कराना चाहते हैं तो— "अरुण ऐड़ियों से सुहाग सा झड़ता"—तक उनकी दृष्टि पहुँच जाती है। जयशंकर प्रसाद की तरह उनकी दृष्टि भी शरीर के सूक्ष्म व्यापारों की ओर गई है। गोल गोरी बाँहों का चर्चा को है तो बड़े बड़े नेत्रों को भी जो "हीरकों में गोल नीलम" की तरह जड़े हुए प्रतीत होते हैं। यह भाव व्यापारों की सूक्ष्मता है।

४. <u>शब्द-व्यापार शोधन</u>—"कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द शोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्म-स्पर्शी

और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिए व्यापार-शोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करने वाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है।" ×

गुप्त जी दोनों के विधान में कुशल हैं। व्यापारों के उदाहरण लीजिए—

'प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-वधू-जन-हस्त सुस्त से वस्त्रों पर थे।
प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया,
बाहु बढ़ा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया!'

× × × ×

'दंपती चौंके पवन-मण्डल, हिला, चंचला-सी छिटक छूटी उर्मिला!'

× × × ×

'छत्र सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ!'

शब्द शोधन भी साकेत में महत्वपूर्ण हैं। इसमें कभी तो एक शब्द द्वारा पूरा चित्र उपस्थित कर दिया जाता है, कभी सार्थकता सिद्ध होती है। उपर्युक्त उदाहरण में 'चंचला' शब्द ले लीजिए। इसके प्रयोग से गति तथा चमक दोनों व्यंजित हैं।

"पद्मिनी के पास मत्त मराल से" में मत्त शब्द उसकी गति, स्थिरता, निर्भीकता को व्यक्त करता है। कहीं एक ही शब्द वस्तु-विधान का तारतम्य भी जोड़ता है—

"हे भरत भद्र तुम कहो अभीप्सित अपना"—में 'अभीप्सित' शब्द आगे की कथा को इस कथन से जोड़ देता है। डा० नगेन्द्र ने एक उदाहरण दिया है—

'आ गए! सहसा उठा यह नाद, बढ़ गया अवरोध तक संवाद!'

"इसमें एक ही शब्द सारे दृश्य को सामने ला रखता है।

"सिंहिनी सोती थी सविकार"—एक तो सिंहनी वह भी विकार सहित! कितनी उग्र न होगी! उसके द्वारा कैकेयी के प्रचण्ड आक्रोश की व्यंजना है। ऐसे अनेक शब्द हैं जिनसे गुप्त जी की शब्द-शक्ति का ज्ञान होता है।

१. 'सखी सत्य क्या मैं घुली जा रही?'
२. 'सचमुच मृगया में? तो अहेरी नए वे!' आदि।

× रामचन्द्र शुक्ल

५. कल्पना का उत्कर्ष :—यह कथा वस्तु के संगठन में भी लक्षित होता है, चरित्र चित्रण, प्रकृति वर्णन, भावों के उतार चढाव में भी। गुप्त जी की उद्भावनाएँ कल्पना-शक्ति के उत्कर्ष से ही संभव हो सकी हैं। रामकथा होने पर भी वह तुलसी की रामकथा से भिन्न है। राम, सीता, लक्ष्मण, भरत और कैकेयी वही पात्र होने पर भी 'साकेत' में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। भरत युद्ध के लिए प्रयाण करना चाहते हैं इस समय अर्ध रात्रि के सन्नाटे में अयोध्या कैसी होगी या राम के लौटते समय नगरी किस हास-हुलास से तैयारी करती होगी—इसकी कल्पना गुप्त जी ने मानसिक जगत में की और वर्णन कर दिया। अयोध्या नगरी को ही एक स्थान पर वासक सज्जा नायिका बना दिया है।

'साधु भरत के अश्रु गिरें चरणों में जब लों,
नयनों से हीं भरे सती सीता ने तब लों।
लता-मूल का खिंचा सलिल फूलों में फूटा,
फैला वह रस - गंध सर्वदा सबने लूटा।
देवर भाभी मिले मिले सब भाई भाई
बरसे भू पर फूल, जयध्वनि ऊपर छाई!

× × × ×

पैदल ही प्रभु चले भीड़ के संग पुरी में,
संघर्षित थे आज अंग से अंग पुरी में।
अहा समाई नहीं अयोध्या फूली फूली,
तब तो उसमें भीड अमाई ऊली ऊली!
पुर-कन्याएँ खील-फूल-धन बरसाती थीं,
कुल ललनाएँ धरे भरे शुभ घट, गाती थीं-
'आज हमारे राम हमारे घर फिर आए,
चारों फल हैं इसी लोक में हमने पाए!'

कल्पना का उत्कर्ष वहीं मानना चाहिए जहाँ कवि की उद्भावना संभावित रूप के बाहर न जाय। देखना यही है। कवि जो कल्पना करता है वह विशेष देश-काल या वातावरण में संभव हो सकती थी या नहीं। ऐतिहासिक रचनाओं में तो यह ध्यान रखना ही पड़ता है। जैसे गुप्त जी ने कैकेयी का स्वरूप बदल दिया—कल्पना के बल पर ऐसा किया। उसके नवीन परिवर्तित रूप से पाठक को सहानुभूति ही होती है उसका चरित्र ऊँचा हो जाता है अतः कवि कल्पना का उत्कर्ष ठीक दिशा में मानना चाहिए। अगर संभावित रूप कुछ कम

रह जाता है तो उत्कर्ष नहीं है। 'साकेत' के लक्ष्मण पर कुछ आलोचकों को यह आपत्ति है कि वे माता-पिता के लिए अनुचित शब्दों का व्यवहार कर बैठते हैं—"अनार्या की जनी", "दस्युजा के दास"—आदि। असल में ऐसी कल्पना गुप्तजी पर आधुनिक चरित्रचित्रण का, मनुष्य की विशेष मनोवृत्ति के उद्घाटन करने का प्रभाव है।+

तो 'साकेत' का प्रवन्ध काव्यत्व व्यवस्थित है। प्रवाह नहीं टूटता। घटनाएँ शिथिल भी नहीं हैं। मिश्र-भावों में कवि प्रधान भाव की व्यंजना करता चलता है जिसे भाव-शोधन कहा जा सकता है। रोचकता, उत्सुकता निरंतर बनी रहती है। इसके कई ढंग कवि ने अपनाए हैं। स्थिति वैषम्य द्वारा प्रभावोत्पादन करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। इस प्रबंध-काव्य में भी गुप्त जी की भावुकता प्रत्येक दृष्टि से लक्षित होती है। केवल 'साकेत' महाकाव्य ही गुप्त जी को आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रौढ व भावुक कवि सिद्ध करने को पर्याप्त है।



+ विशेष देखिए पहला भाग—अध्याय १०—'गुप्त जी की भावुकता'

३—साकेत का महाकाव्यत्व

साहित्यिक सिद्धान्त वस्तुतः रचनाओं के आधार पर बनते हैं। पहले रचनाएँ बनतीं हैं तब उनका साम्य-अन्तर प्रकार भेद देखकर वर्गीकरण किया जाता है और विशेष प्रवृत्तियों के आधार पर लक्षण निर्धारित होते हैं अतः सिद्धान्त मूल रचना के समानान्तर महत्वपूर्ण नहीं। यदि किसी रचना में अनुकूल सिद्धान्त या लक्षण मिल जायँ तो उत्तम है अन्यथा न मिलने पर या न्यूनाधिक-मात्रा में मिलने पर रचना को किसी वर्ग से निष्काषित नहीं किया जा सकता। क्योंकि शास्त्र का कार्य कवि को परम्परा का ज्ञान कराना है न कि उसकी प्रवृत्ति को बाँधना। कवि लक्षणों का अध्ययन करता है किन्तु समयानुकूल हेर फेर भी कर लेता है। उन्हीं का पालन मात्र कर देने को न तो वह बाध्य है न उसका कवि कर्म ही पूरा होता है। साहित्यिक मानदण्ड इसी कारण विकसित होते रहते हैं। साहित्य एक ओर प्राचीन परम्परा का अनुसरण करता है, उधर नवीन प्रवृत्तियों द्वारा उसका निर्माण भी करता है। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में वह फल और फूल इस प्रकार दोनों होता है।

अत किसी काव्य या अन्य ग्रन्थ की परीक्षा करते समय हमें शास्त्रीय लक्षणों के साथ-साथ परिवर्तनों का उद्देश्य भी समझना चाहिए। शास्त्रीय सिद्धान्तों पर पूरे न उतरने वाले काव्य या ग्रन्थों को हम एक प्रकार-विशेष के बाहर नहीं कर सकते।

'साकेत' के महाकाव्यत्व पर विचार करने से पहले गुप्त जी की एक प्रवृत्ति को समझना आवश्यक है। यह प्रवृत्ति है उनका दृष्टिकोण। युग कवि परम्परा का पालन भी करता है तथा परिवर्तन उपस्थित कर नवीन मार्ग का प्रदर्शन भी करते है। गुप्त जी अपने जीवन में और साहित्य में सामजस्यवादी कवि हैं। मध्यम मार्ग दो दिशाओं का सतुलन उन्हें रुचिकर प्रतीत होता है। अन्य काव्यों में भी उनका यह समन्वयवादी दृष्टिकोण लक्षित होता है।* साकेत में भी है।

* देखिए प्रथम भाग—अध्याय १३ 'गुप्त जी की समन्वय भावना'।

भारतीय काव्य के उत्कृष्ट गुण, रस, भाव आदि के साथ-साथ उसमें विश्व के अन्य महाकाव्यों की तरह आधुनिक प्रवृत्तियों का भी ध्यान रखा गया है। 'साकेत' के महाकाव्यत्व पर विचार करते हुए हमें उसकी परीक्षा अन्तरग-बहिरग, दोनों दृष्टियों से करनी होगी।

भारतीय दृष्टि से :—जहाँ तक भारतीय परम्परा के अनुसार महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का सम्बन्ध है—'साकेत' में मिल सब जाएँगे। विश्वनाथ ने १२ लक्षण गिनाए हैं जो प्रायः सर्व मान्य हैं। 'साकेत' में इनका पूरा-पूरा पालन किया गया है।

१—'साकेत' महाकाव्य सर्ग बद्ध है। १२ सर्ग हैं।

२—उसका नायक 'राम' महत्त्वपूर्ण धीर-प्रशान्त क्षत्रिय है।

३—शृ गार रस की प्रधानता है। उर्मिला की करुणा या काव्य की विषाद मूलक अन्तर्धारा, प्रिय वियोग के कारण हैं अतः वियोग शृ गार के अन्तर्गत है, अन्य रस गौण रूप से आए हैं। शृंगार का सयोग पक्ष प्रथम सर्ग में लक्ष्मण उर्मिला के दाम्पत्य जीवन में वर्णित है। और राम तो वन में भी गृहस्थ ही रहे। सीता निरन्तर साथ रही अतः उनके जीवन में शृ गार का सयोग पक्ष रहा। वन में भी स्वर्ग ही रहा—

'सीता ने सोचा मन मे स्वर्ग बनेगा अब वन मे
धर्मचारिणी हूँगी मैं वन विहारिणी हूँगी मैं !'

और अष्टम सर्ग के आरम्भ में उनके मधुर जीवन की एक झाँकी कवि ने दी है—

'तरु-तले विराजे हुए—शिला के ऊपर,
कुछ टिके,-धनुष की कोटि टेककर भू पर।
निज लक्ष-सिद्धि-सी, तनिक घूम कर तिरछे,
जो सींच रही थीं पर्णकुटी के बिरछे-
उन सीता को, निज मूर्ति मती माया को
प्रणयप्राणा को और कांतकाया को
यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी
योगी के आगे अलख-ज्योति ज्यों जागी।'

सीता भी नवीन साज-सज्जा में प्रसन्न वदन हैं गुनगुनाती हैं—

'सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।

धन तुच्छ यहाँ, यद्यपि असंख्य आकर हैं
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।'

१४ वर्ष के उपरान्त जब राम लौट आते हैं तो लक्ष्मण उर्मिला का संयोग भी हो जाता है—

'देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी?
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी!
× × × ×
लेकर मानो विश्व-विरह उस अन्तःपुर में,
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में!
रोक रही थी उधर मुखर मैना को चेरी!...'

साकेत की विशेषता यह है कि इसमें शृङ्गार के वियोग-पक्ष को प्रधानता रखी गई है—'सूर के भ्रमर गीत सार' की तरह। जो संयोग वर्णन हैं उनका भी विधान उर्मिला की स्मृति के रूप में कर दिया है। अतः वे वियोगावस्था में उद्दीपन स्वरूप हो गए हैं। इस प्रकार संयोग का प्रत्यक्ष वर्णन भी बच गया और उद्दीपन का कार्य भी उन्हीं से ले लिया गया। यह कवि का कौशल है। उर्मिला सखी से पूर्व-जीवन का वर्णन करती है—

'नंगी पीठ बैठ कर घोड़े को उड़ाऊँ कहो
किंतु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से,
रोक सकता हूँ उरुओं के बल ही से उसे
टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से!
किंतु क्या करूँगा यहाँ? उत्तर में मैंने हँस
और भी बढ़ाए पैंग दोनों ओर ऊले-से।
'हैं! हैं!' कह लिपट गए थे यहीं प्राणेश्वर
बाहर से संकुचित, भीतर से फूले से!'(नवम् सर्ग)

अगर यह वर्णन प्रथम सर्ग में होता तो स्पष्ट ही संयोगावस्था का चित्रण करता। किन्तु यहाँ वस्तुतः उर्मिला की वियोगावस्था है। यह वर्णन स्मरण रूप में आया है अतः उद्दीपक हो जाता है। ऐसा एक उदाहरण लीजिये—

'मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि, एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं, घटा छाई थी,

गमक रहा था केतकी का गंध चारों ओर,
झिल्ली-झनकार यही मेरे मन भाई थी,
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से
चंचला थी चमकी घनाली घहराई थी,
चौंक देखा मैंने, चुप कौने में खड़े थे प्रिय,
माई ! मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी !'

तो वियोग शृङ्गार प्रधान महाकाव्य है 'साकेत'।

(४) 'साकेत' में नाटक की पाँचों संधियाँ हैं। संधि वहाँ होती है जहाँ दो भिन्न कथाओं के प्रयोजनों का एक दूसरे से मेल हो !

"अतरेकार्य सम्बन्धः संधिरे कान्वये सति !"—(साहित्य दर्पण) वैसे ये संधियाँ 'साकेत' के किन-किन स्थलों पर हैं इनका निर्धारण कुछ कठिन है, और इस सम्बन्ध में आलोचकों का मतभेद भी हो सकता है। इतनी विस्तृत अधिकाधिक कथा के जो गौण कथानक हैं या अवांतर प्रसग हैं उनमें प्रत्येक में इन सन्धि-स्थलों का व्यापक निर्देश किया जा सकता है।

'साकेत' का उद्देश्य है लक्ष्मण-उर्मिला का मिलन। इस दृष्टि से (१) मुख-संधि की योजना उनकी विदा के स्थल पर प्रथम सर्ग में की जा सकती है—

'दिन निकल आया, विदा दो अब मुझे,
फिर, मिले अवकाश कब देखूँ तुझे ?'
उर्मिला कहने चली कुछ पर रुकी,
और निज अँचल पकड़ कर वह झुकी।
भक्ति सी प्रत्यक्ष भू लग्ना हुई,
प्रिय, कि प्रभु के प्रेम में मग्ना हुई !'

(२) प्रतिमुख संधि—के अन्तर्गत चतुर्थ-सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण का वार्तालाप लिया जा सकता है जहाँ वह साथ चलते या अयोध्या ही रहने के लिए पूछती है और लक्ष्मण का अनिश्चय देख कर चुप रह जाती है—

'लक्ष्मण हुए वियोग जयी और उर्मिला प्रेम-मयी
वह भी सब कुछ जान गई विवश भाव से मान गई !
श्री सीता के कंधे पर आँसू बरस पड़े झर-झर !'

(३) गर्भ संधि—नवम सर्ग, दशम सर्ग तक उर्मिला का अन्तर्द्वन्द चलता रहता है अतः गर्भ-संधि का प्रसार दशम सर्ग तक मानना ही चाहिये। वह निश्चय अनिश्चय में डूबती उतराती है। अभी प्रिय आगमन की आशा है,

निष्फल आशा को भी बनाए रखना चाहती है कभी मरणावस्था ठीक समझती है। कभी विस्मरण हो आता है, कभी उन्माद !

'सखी ने अंक मे खींचा दु:खिनी पड़ सो रही
स्वप्न में हँसती थी हा ! सखी थी देख रो रही !'

(४) विमर्श व निर्वहरण संधियों:—को द्वादश सर्ग में मानना चाहिये। उर्मिला निःसंशय होने लगती है। वह शासन की अपेक्षा सेवा करना चाहती है। मान के दिन तो बीत गए फिर भी मन की इच्छा पूर्ण हुई। वह सखी से फूलों की भेंट तैयार करने को कहती है—

'अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी,
मैं शासन की नहीं आज सेवा की प्यासी।

× × × ×

उछल रहा यह हृदय अंक में भरले आली,
निरख तनिक तू आ ढीठ संध्या की लाली।
मान करूँगी आज ? मान के तो दिन बीते,
फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मनचीते।
टपक रही वह कुंज-शिला वाली शेफाली
जा नीचे, दो चार फूल चुन, ले आ डाली !'

इस प्रकार 'साकेत' में पंच संधियों का पालन भी हुआ है।

(५) 'साकेत' की कथावस्तु पौराणिक है। वाल्मीकि ने इसका उपयोग किया, जैन कवि 'स्वयंभू' ने इसे आधार बनाया, तुलसी ने 'रामचरित मानस' लिखा फिर हृदयराम आदि ने इस कथा का उपयोग किया। गुप्त जी तो यहाँ तक कहते हैं कि

'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।'

किन्तु इस कथा वस्तु में एक विशेषता है। कवि ने लक्ष्मण-उर्मिला का उपेक्षित प्रसंग उभारने का प्रयत्न किया है। प्राचीन कवियों ने इस प्रसंग को उपेक्षित ही रखा। राम-कथा के आधार पर इसका चुनाव कर लेना प्रबन्ध-कवि की विशेषता है।

(६) 'धर्म' को अन्तिम फल के रूप में स्वीकार किया गया है।

(७) आरम्भ में मंगलाचरण है तथा वर्ण्य-वस्तु का संकेत भी है। गणेश की मंगलाचरण में सरस्वती की वंदना है।

'जयति कुमार-अभियोग-गिरा गौरी-प्रति
स-गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं—

'देखो अंब, ये हेरम्ब-मानस के तीर पर
तुंदिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे हैं सविनोद उन्हें
सूँड से उठाके मुझे देने को दिखाते हैं,
देते नहीं, कंदुक सा ऊपर उछालते हैं
ऊपर ही झेल कर खेल कर खाते हैं!'

तब काव्य सफलता के हेतु वाणी स्तुति है—

'अयि दयामयि देवि, सुखदे, सारदे
इधर भी निज वरद-पाणि पसार दे।
दास की यह देह-तंत्री सार दे
रोम-तारों में नई झंकार दे!
बैठ, आ, मानस-मराल सनाथ हो
भार-वाही कण्ठ-केकी साथ हो।
चल अयोध्या के लिए, सज साज तू,
माँ, मुझे कृत-कृत्य कर दे आज तू!'

(८) एक सर्ग प्रायः एक ही छन्द में लिखा गया है, अन्त में छन्द परिवर्तन भी है। प्रथम सर्ग, तृतीय सर्ग में एक ही है, द्वितीय-नवम के अन्त में तथा चतुर्थ-षष्ठ सर्गों में छन्द की समानता है। सप्तम सर्ग में कवि का अपना छन्द है। सर्ग के अन्त में छन्द बदल जाता है—

(१) प्रथम सर्ग का अन्त—

'इसके आगे? विदा विशेष, हुए दंपती फिर अनिमेष।
किंतु जहाँ है मनो नियोग वहाँ कहाँ यह विरह वियोग?'

(२) द्वितीय सर्ग का अन्त—

'इसी दशा में रात कटी, छाती-सी पौ प्रात फटी।
अरुण भानु प्रतिभात हुआ, विरूपाक्ष सा ज्ञात हुआ।'

(३) तृतीय सर्ग का अन्त—

'चले फिर रघुवर माँ से मिलने, बढ़ाया घन सा प्राणानिल ने!
चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे, भाद्र के पीछे आश्विन जैसे!'

(४) चतुर्थ सर्ग का अन्त—

'प्रस्थान-वन की ओर, या लोक-मन की ओर?
होकर न धन की ओर, हैं राम जन की ओर!'

(५) पंचम सर्ग का अन्त—

'पृथ्वी की मंदाकिनी लेने लगी हिलोर, स्वर्गंगा उसमें उतर अंबर वोर !'

(६) षष्ठ सर्ग का अन्त—

'इस शोक के सवंध से-सब देखते थे अन्ध से-
बस एक मूर्ति घृणामयी, वह थी कठोरा कैकयी !'

(७) सप्तम सर्ग का अन्त—

'कण्ठ कण्ठ गा उठा, शून्य शून्य छा उठा,
सत्य काम सत्य है राम नाम सत्य है ?'

(८) अष्टम सर्ग का अन्त—

'एक घड़ी भी बीत न पाई, बाहर से कुछ वाणी आई।
सीता कहती थीं कि-अरे रे आ पहुँचे पितृपद भी मेरे !'

(९) नवम सर्ग का अन्त—

'अवधि शिला का उर पर था गुरु-भार।
तिल तिल काट रही थी दृग-जल धार !'

(१०) दशम सर्ग का अन्त—

'सखी ने अङ्क खींचा, दु'खिनी पड सो रही।
स्वप्न में हँसती थी हा ! 'सखी भी देख रो रही !'

(११) एकादश सर्ग का अन्त—

'लंकानल, शंका दहन, जय जय पवनकुमार
तुमने सागर ही नहीं, किया गगन भी पार !'

(१२) द्वादश सर्ग का अन्त—

'स्वच्छतर अम्बर मे छन कर आ रहा था
स्वादु-मधु-गन्ध से सुवासित समीर-सोम''',
समुदित चन्द्र किरणों का चौंर ढारता था
आरती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम !'

गुप्त जी ने सर्ग के अन्त में केवल एक ही छन्द नहीं बदला है, कहीं दो दो छन्द भी वदलते हैं। सर्ग के आरम्भ में उन्होंने कथा की सक्षिप्त सूचना भी दे दी है।

(६) "नाति स्वल्पा नोति दीर्घा" के अनुसार १२ सर्ग हैं। नवम् सर्ग सबसे बड़ा है। प्रथम या द्वितीय सर्ग का प्रायः तीन गुना है।

(१०) 'साकेत' में अनेक प्राकृतिक दृश्यों तथा मानसिक परिस्थितियों का वर्णन है।

(१) प्राकृतिक दृश्यों में सध्या, प्रातः, रजनी, मृगया, सागर, ऋतु आदि के सुन्दर उदाहरण दिये गये हैं। पावस ऋतु का वर्णन देखिये—

'दरसो परसोघन, वरसो
सरसो जीर्ण शीर्ण गती के तुम नव-यौवन वरसो!
घुमड़ उठो आषाढ़ उमड़ कर पावन सावन वरसो
भाद्र-भद्र, आश्विन के चित्रित, हस्ति स्वाति धन वरसो!
सृष्टि-दृष्टि के अंजन रंजन, ताप विभंजन वरसो
व्यग्र उग्र जगज्जननी के, आर्य अग्र स्तन वरसो!
गत सुकाल के प्रत्यावर्तन हे शिखि नर्तन वरसो
जड़ चेतन में बिजली भर दो ओ उद्‌वोधन वरसो!....'

विरह वर्णन में षड्-ऋतुओं का पूरा विधान है। गुप्त जी की प्रातःकाल का वर्णन बहुत प्रिय है। 'साकेत' में हो तीन चार स्थानों पर हुआ है। 'पंतजी' को स्वर्ण का रंग बहुत प्रिय है। 'साकेत' के प्रथम सर्ग में ही आरम्भ उषा से हुआ है—

'नींद के भी पैर हैं कँपने लगे, देख लो, लोचन-कुमुद झपने लगे।
वेष-भूपा साज ऊपा आ गई, मुख-कमल पर मुस्कराहट छा गई!
पक्षियों की चहचहाटह हो उठी, चेतना की अधिक आहट हो उठी!
स्वप्न के जो रँग थे वे घुल उठे, प्राणियों के नेत्र कुछ कुछ खुल उठे.....'

(२) मानसिक परिस्थितियों:—के चित्रण में मिलन, वियोग, युद्ध आदि के प्रसंग लिये जा सकते हैं। मेघनाद वध का प्रसग लीजिये—

'खड़ा हो गया शूर सर्प-सा आयुध लेकर
हुआ वहाँ सम-समर अनोखा साज सजा कर
देते थे पद ताल उभय कर लोह वजा कर।....
क्रम से चढ़ने लगी युगल वीरों की लाली
ताली देकर नाच रहे थे रुद्र कपाली
व्रण माला थी बनी जपा फूलों की डाली
रण-चण्डी पर चढ़ी, वढ़ी काली मतवाली'....
तो वस अव तू सँभल· बाण यह मेरा छूटा
रावण का वह पाप-पूर्ण हाटक घट फूटा!
हुआ सूर्य सा अस्त इन्द्रजित लंका पुर का
शून्य भात्र भा गगन-रूप रावण के उर का!'

दशरथ का तर्क-वितर्क, लक्ष्मण का आवेश, कैकेयी का स्पष्टीकरण, उर्मिला का प्रलाप, उन्माद आदि अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं।

(३) सज्जन-दुर्जनः—की गुणगाथा व निंदा भी रहती है। 'साकेत' में प्रसंग-वश जहाँ अवसर आ गया है, पात्र इन पर भी विचार कर चले हैं।

'पतित क्या उन्नतों के भाव जानें?
उन्हें वे आप ही मे क्यों न सानें।' आदि।

(११) 'साकेत' शीर्षक स्थान विशेषता के आधार पर दिया गया है।

'खेतों के निकेतन बनते हैं, और निकेतों के फिर खेत
वे प्रासाद रहें, न रहें पर अमर तुम्हारा यह साकेत।'
—(एकादश सर्ग)

(१२) प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में उसमें वर्णित कथा की और अन्त में अगले सर्ग की कथा सूचित कर दी गई है। जैसे द्वितीय सर्ग के आरम्भ में—

'लेखनी, अब किस लिए विलम्ब?
बोल—जय भारति, जय जगदम्ब,
प्रकट जिसका यों हुआ प्रभात
देख अब तू उस दिन की रात।'

कह कर कथा सकेत किया है तो अन्त में "छाती सी पौ प्रात फटी" कह कर तृतीय सर्ग की कथा भी सूचित करा दी है।

<u>नवीनताएँ</u>—इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय-शास्त्र-लक्षणों के अनुसार 'साकेत' पूर्ण महाकाव्य है। स्थूलतः इसमें सभी का पालन किया गया है। इतने पर भी गुप्त जी ने नवीनता प्रदर्शित की है।

(१) प्रधान पात्र है तो उर्मिला लेकिन गुप्त जी ने राम को महत्व दिया है। इस प्रकार एक पात्र की प्रधानता न होकर दो पात्रों की प्रधानता है।

(२) शृङ्गार वर्णन में विप्रलम्भ शृङ्गार की प्रधानता है। मुख्य कथा को दुःखात तो नहीं, किन्तु करुणा प्रधान बना दिया है।

(३) "सर्वे नाटक सन्धय." का पूर्ण पालन नहीं है।

(४) कथा वस्तु में मौलिकता लाने का प्रयत्न है। उर्मिला का जीवनवृत तो पूर्ण रूप से उद्भूत है। अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर उसे साकार-सजीव बनाकर गुप्त जी ने प्रबन्ध काव्य में फिट कर दिया है।

(५) मगलाचरण भी दो हैं।

(६) प्रत्येक सर्गांत में कवि ने दो-दो छंद परिवर्तित कर दिये हैं। शायद

सोचा हो जब शास्त्रीय दृष्टि से परिवर्तन आवश्यक ही है तो एक के स्थान पर दो छंद भी रखे जा सकते हैं।

(७) नवम सर्ग में गीत पद्धति का समाहार है। इसमें एक ही छन्द रखने का बन्धन नहीं। नवम सर्ग को छन्दों का अजायबघर कहा जा सकता है जबकि छन्द सजीव नहीं हैं।

(८) इसी प्रकार राम कथा उर्मिला कथा को उसने मिला दिया है। ऐसा लगता है मानो दोनों कथाओं को बराबर महत्व दिया हो।

शास्त्रीय नियमों का उसी रूप में कोई भी कवि पालन नहीं करता। मानता है स्थूल रूप से, किन्तु नवीनता भी लाता है। सर्गों की संख्या ही लीजिये। आचार्य का कथन है—

'नाति स्वल्पा नाति दीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह !'

किन्तु संस्कृत में ही 'शिशुपाल वध', 'नैषध चरित' बहुत छोटे हैं। हिन्दी के 'रामचरित मानस' में कुल ७ काण्ड हैं जबकि 'प्रिय प्रवास' में १७। यूरोप में भी अरस्तू के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का तदनुरूप पालन होमर से लेकर मिल्टन तक किसी ने नहीं किया ! 'कामायनी' के आरम्भ में मंगलाचरण नहीं है, सर्गों के शीर्षक घटनाओं के आधार पर न होकर हृदय की मनोवृत्तियों के आधार पर हैं—'चिन्ता' 'आशा' आदि। नामकरण भी नायिका की प्रधानता के आधार पर है। सज्जनों का गुण कीर्त्तन, दुर्जनों की निन्दा नहीं मिलती। तो क्या 'कामायनी' को महाकाव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया जाय ? बात यह है कि शास्त्रीय सिद्धान्त तो केवल रूपरेखा निश्चित करते हैं। प्रबन्ध-काव्य का लक्ष्य सर्ग-बध या नायक कथा सम्बन्धी नियमों का पालन मात्र कर देना नहीं होता। 'रामचन्द्रिका' में एक एक लक्षण मिल जाएगा लेकिन फिर भी उसे अनेक आलोचक महाकाव्य मानने को तैयार नहीं। यह इसलिए कि महाकाव्य में लक्षणों के अतिरिक्त और विशेषताएँ भी अपेक्षित हैं।

आधुनिक दृष्टि से—तो हमने देखा स्थूल शास्त्रीय नियमों के आधार पर 'साकेत' महाकाव्य है। जो परिवर्तन हैं भी, उनका प्रमुख कारण कवि का अपना मापदण्ड और युग चिन्तन का प्रभाव है।

नवीन दृष्टि से भी देख लिया जाय। आज जीवन में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का महत्त्व अधिक है। कवि सांकेतिक अभिव्यक्ति के रूप में आदर्श स्थापन कर अवश्य सकता है लेकिन प्रधानतः उसकी दृष्टि यथार्थोन्मुख होनी चाहिए। प्राचीन महाकाव्यों से आज लक्ष्य भिन्न हो गया है। वे आदर्श की स्थापना करते हो थे, घटना-कथा तो उनकी स्थापना के लिए साधन-स्वरूप

होती थी। वाल्मीकि रामायण की तो खोज थी—"कोन्वस्मिन् साम्प्रत लोके गुणवान कश्च वीर्यवान।" 'रघुवश' में भी आदर्श स्थापना है तथा पश्चिमी महाकाव्यों Aeneid, Paradise lost आदि में भी। लेकिन आज प्रबन्ध काव्य जीवन की व्याख्या नहीं करता, जीवन को व्यक्त करता है। इसलिए आज प्रबन्ध काव्य में कथा-वस्तु की प्रधानता नहीं है, मानव जीवन की अभिव्यक्ति की प्रधानता है।

१. "The accent is not upon the plot but upon the abservation of human life" —Moulton

२. "It has not to say lile in the world to mean this or that bnt it has to show life unmistakably significant. It does ndt interpret the facts but recreates it."

—Abercrom bie

३. "In Epic interest tends to centre less round the deeds of men and more round their feelig and their spiri tnal hearing" —A. R. Entwstle

इन दृष्टिकोणों से वस्तु की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य में पात्रों का महत्व बढ़ जाता है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा कार्य द्वारा या वार्त्तालाप द्वारा, जीवन की अभिव्यक्ति हो सकती है। गुप्त जी जागरूक कवि हैं, समय के साथ चलने वाले कवि हैं। 'साकेत' में भी कथावस्तु का प्राधान्य नहीं मिलेगा। राम का इतिवृत्त सक्षेप में बतला दिया गया है, लक्ष्मण-उर्मिला के जीवन चरित्र की भी आद्योपात गाथा गाने कवि नहीं बैठता। जन्म से लेकर जीवन के अन्त समय तक का विवरण प्रस्तुत नहीं करता। साकेतिक रूप में व्यक्त करता चला है। जो विवरण उसकी दृष्टि से प्रधान थे, या मार्मिक थे उनका वर्णन है, शेष का नहीं। कथा-वस्तु के प्रति कवि का ध्यान इसी कारण कम मालूम पड़ता है कि वह पात्रों के कार्य Action को प्रधानता दे रहा है। 'साकेत' में पात्रों की ही प्रधानता मिलेगी। पाठक की दृष्टि उन्हीं के कार्यों पर टिकी रहती है।

आज प्रबन्ध काव्य में एक विशेषता और आ गई है। पात्रों का सामाजिक पक्ष ही अभी तक प्रधान था, अब वैयक्तिक पक्ष पर जोर दिया जाने लगा है अर्थात् कवि पात्रों के अन्तःविश्लेषण पर ध्यान देने लगा है। परिस्थितियों के अनुकूल पात्रों के भावों में घात-प्रतिघात होता है। गुप्त जी ने इसका भी ध्यान रखा है। 'साकेत' की उर्मिला तो इसका उदाहरण है ही 'यशोधरा' की गोपा या 'सिद्धराज' की रानकदे-काचनदे भी हैं। कैकेयी का नवीन चित्रण इसका

स्पष्ट प्रमाण है। जो एक बार—"रेढ़ियों तक आ छूटे केश" के दुर्गा वेश में बनवास करा देती है वही चित्रकूट में राम को हृदय से लगाने के लिए आतुर हो जाती है।

'जल, पंजर गत अब अरे अधीर, अभागे
वे ज्वलित भाव थे स्वयं तुझी में जागे!
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य मात्र क्या तेरा?
पर आज अन्य सा हुआ भरत भी मेरा!'

× × × ×

यह अनुताप-पश्चाताप पात्र के अंतःविश्लेषण का ही परिणाम है। इस प्रकार आधुनिक दृष्टि से भी 'साकेत' महाकाव्य सिद्ध होता है।

अन्तरंग दृष्टि से :—वस्तुतः बाह्य उपकरणों की अपेक्षा आन्तरिक पर ही प्रधान होता है। शरीर में आत्मा ही प्रधान होती है। प्रबन्ध काव्य की आत्मा है (१) जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति (२) सत् असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष (३) मानव हृदय का चित्रण तथा (४) जीवन की महत् समस्याओं का समाधान ये चारों हम साकेत में पाते हैं।

१. जीवन की अभिव्यक्ति :—'साकेत' में जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है मनुष्य जीवन के सभी क्षेत्र इसमें आ गए हैं। अपने व्यक्तिगत पक्ष के अतिरिक्त मनुष्य का सामाजिक पक्ष भी होता है। अपने प्रति कर्तव्य होते हैं तो समाज के प्रति भी। राम द्वारा पितृ-कर्त्तव्य पालन ही स्पष्ट नहीं अपितु लोकोपकारक पक्ष भी व्यंजित है। दशरथ की आज्ञा, माता की आशा उन्हें शिरोधार्य है। चित्रकूट के उपरान्त भी पालन करने का वचन देते हैं—

'वनवास लिया है मान तुम्हारा शासन,
लूँगा न प्रजा का भार राज-सिंहासन?
पर यह पहला आदेश प्रथम हो पूरा
वह तात-सत्य भी रहे न अम्ब-अधूरा!'

नारी का कर्त्तव्य है पति का अनुसरण करना, उसी के सुख में सुख। सीता को "वनविहारिणी" होकर अपना कर्त्तव्य पालन करने का ध्यान है तो उर्मिला "प्रिय पथ का विघ्न" ही नहीं बनना चाहती। उसके लिए इतना ही यथेष्ट है कि—

'आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी, तो बस मैं पा चुकी सभी !'

लक्ष्मण-भरत द्वारा भ्रातृ-पक्ष व्यक्त है। मनुष्य का अपने परिवार, माता-पिता के प्रति ध्यान होता है तो भाइयों के प्रति भी। छोटे भाई का कर्त्तव्य है कि बड़े भाई का आज्ञा पालन करे। लक्ष्मण तो "प्रभो रक्खो सदा निज दास मुझको" कह कर वनवासी होना ही स्वीकार करते हैं तो भरत प्रभु को लौटा लाने के लिए सम्पूर्ण नगरवासियों के साथ चित्रकूट जा पहुँचते हैं। उन्होंने तो भ्रातृ भक्ति के सम्मुख अपने अस्तित्व को भी नगण्य कह दिया है। अनन्यता का ऐसा उदाहरण और कहाँ मिल सकता है—

'तो इस काया पर नहीं मुझे कुछ माया
सड़ जाय पड़ी यह इसी उटज के आगे
मिल जाँय तुम्हीं में प्राण, आर्त्त अनुरागे !'

सारी अयोध्या दशरथ-मृत्यु पर शोकाकुल दाह संस्कार करने जा पहुँचती है तो राम के जाते समय "विनत विद्रोह" तक कर देती है। चित्रकूट में राम को लौटा लाने के लिए सब गए हैं।

राम द्वारा मनुष्य का सामाजिक पक्ष निरूपित हुआ है। उनका जन्म ही लोक-हिताय हुआ—

'उभय विध सिद्ध होगा लोक रंजन
यहाँ जन भय, वहाँ मुनि विघ्न भंजन !
मुझे था आप ही बाहर विचरना
धरा का धर्म भय था दूर करना !'

अष्टम सर्ग में गुप्त जी ने राम के द्वारा दक्षिण में संस्कृति प्रचार का भी उल्लेख कराया है। यह जीवन की विविधता का सूचक है—

'वन में निज साधन सुलभ धर्म से होगा,
जब मन से होगा तब न कर्म से होगा ?
बहु जन वन में हैं बने ऋक्ष-वानर से,
मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से !
चल दण्डक वन में शीघ्र निवास करूँगा,
निज तपोधनों के विघ्न विशेष हरूँगा !'

अयोध्या की सम्पन्नता, समृद्धि, वहाँ के नागरिकों का जीवन स्पष्ट करती है। यह राम-राज्य गुप्त जी के आदर्श समाज की कल्पना है जिसमें दुःख दैन्य,

विवाद, रीति-भीति कहीं भी नहीं। सब गुणशील हैं, उदार है, जीवन के सब सुख प्राप्त हैं—

'व्याधि की वाधा नहीं तन के लिए,
आधि की शंका नहीं मन के लिए
चोर की चिंता नहीं धन के लिए
सर्व सुख हैं प्राप्त जीवन के लिए!'

ये सब नाना प्रकार के वर्णन-चित्रण 'साकेत' में जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति करते हैं।

२. सत् असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष :—व्यापक रूप में तो नहीं किन्तु तर्क-वितर्क, निश्चय-अनिश्चय के रूप में अवश्य है। इसी अतः संघर्ष में पड़ कर दशरथ, कैकेयी, उर्मिला का चरित्र निखरा है। जहाँ तक राम का प्रश्न है उनमें कोई संघर्ष खेद नहीं। वे तो तुलसी के राम जैसे चिर शान्त, गम्भीर तथा मर्यादा पालक हैं। न राज्याभिषेक पर हर्ष हुआ, न वनवास पर शोक। वन में भी वही उल्लास, आनन्द है। लक्ष्मण, भरत का भी मानो निश्चित-निर्धारित मार्ग है जिस पर उन्हें चलना है। अतः कवि ने उनमें भाव संघर्ष की स्थिति उत्पन्न ही न होने दी। केवल तीन पात्रों में इसका विधान किया।

कैकेयी राम को पुत्र से भी बढ कर मानती है। मथरा के उकसाने पर भी "द्विरसने" कह कर उसका तिरस्कार करती है। लेकिन उसकी वात लग जाती है—

'भरत से सुत पर भी संदेह बुलाया तक न उन्हें जो गेह!'

यहीं से उसके हृदय में भाव द्वन्द्व उठ खड़ा होता है। वह भी तो माता है। उसके पुत्र को दूर ही रक्खा गया। ऐसे शुभ अवसर पर बुलाया तक नहीं, वह जब राम भरत में कोई अन्तर ही नहीं मानती तो यह भेद क्यों किया गया? यह क्या षड्यन्त्र ही है। कैकेयी इन्हीं में उलझ कर फूत्कार करती हुई फणिनी-सी वन जाती है। उसी पर संशय क्यों किया गया? यह विश्वासघात किसने किया?—

'न सह कर मानो तन का भार, लेट कर करने लगी विचार''''
न थी हम माँ वेटे की चाह, आह! कि खुली न थी क्या राह?
मुझे भी भाई के घर नाथ, भेज क्यों दिया न सुत के साथ?''''
भरत रे भरत शील समुदाय, गर्भ में आकर मेरे हाय।
हुआ यदि तू भी संशय पात्र, दग्ध हो तो मेरा यह गात्र!
चली जा पृथ्वी तू पाताल आपको संशय में मत डाल?''''

इसी प्रकार उसका अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है और अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचती है—

'हाय रे फिर भी यह परिणाम ?
किंतु चाहे जो कुछ हो जाय, सहूँगी कभी न यह अन्याय।
करूँगी मैं इसका प्रतिकार, पलट जाए चाहे संसार !
नहीं है कैकेयी निर्बोध, पुत्र का भूले जो प्रतिशोध !'

कहाँ तो राम के प्रति ममत्व की भावना था कहाँ बिल्कुल विपरीत यह प्रतिशोध की भावना आ गई। वह भी उसी राम से : यह है भाव संघर्ष का चमत्कार जिसे गुप्त जी ने कुशलता से निभा लिया है।

दशरथ का अन्तर्द्वन्द्व आरम्भ होता है कैकेयी के वरदान माँगने से। वे एकाएक हतज्ञान से रह गए। उन्हें परिताप हुआ यह स्वप्न है या सत्य ही ऐसा सुना है ! क्या ज्ञात था उनका दान अभिशाप बन जाएगा। यह कैकेयी तो अन्ततः विषदन्त वाली प्रकट हुई। राम जैसे पुत्र को भी बनवास ! यह सत्य है या परिहास है ? उन्हें समस्त संसार अन्धकारमय प्रतीत होने लगा—

'दैव यह सपना है कि प्रतीति ? यही है नर नारी की प्रीति ?....
अन्त में लेकर यों विष दन्त नागिनी निकली वह, हा हन्त !....
राम से सुत को भी वनवास ! सत्य है अथवा यह परिहास !
सत्य है, तो है सत्यानाश हास्य है तो है हत्यापाश !'

रात भर भावों का संघर्ष होता रहा। इसी स्थिति में रात बीत गई और नया दिन भी दशरथ को विरूपाक्ष सा ज्ञात हुआ—

'वचन पलटें कि भेजें राम को वन में !'

और इसका निश्चय स्वयं राम के उत्तर से हुआ। पुत्र प्रेमी दशरथ अन्त में स्वर्ग सिधार गए। यह संघर्ष पितृ हृदय, पुत्र प्रेम का रूप सामने ला रखता है।

उर्मिला के मन में यह अन्तर्द्वन्द्व उठा कि पति के साथ वन जाय या 'साकेत' में रहे ! सीता ने तो स्वयं जाने का निश्चय कर लिया था किन्तु उर्मिला यहाँ भी पति-आज्ञा को प्रधानता देती है। "मैं चलूँ कि रहूँ ?" का समाधान उसने पति पर ही छोड़ दिया और विवश भाव से मान भी गई ! उसने इस भाव-संघर्ष में पड़ कर अपने प्रेम का ही बलिदान कर दिया। उसका सच्चा प्रेम वियोग में ही तो निखरता है। नवम सर्ग में भाव-द्वन्द्व के बीच उसकी स्थिति स्पष्ट है। फिर भी वियोगावस्था में वह बिहारी की नायिका की भाँति हिंडोले में नहीं चढ़ी रहती।

३. मानव हृदय का चित्रण :—यह प्रत्येक पात्र द्वारा स्पष्ट हुआ है। उनके स्वभावानुसार गुण-अवगुण प्रकट होते चले हैं। इतना है कि 'साकेत' के पात्र न तो दूध से धुले हुए हैं न पंक में सने हुए। न तो उनमें गुण ही गुण मिलेंगे और न अवगुण ही अवगुण। दोनों का मेल है जैसा मनुष्य का हृदय विभिन्न प्रवृत्तियों का संगम स्थल होता है। परिस्थिति वश कभी चरित्र का सत् पक्ष उभर आता है, कभी असत् पक्ष।

४. जीवन की महत् समस्याओं का समाधान :—कुछ आलोचकों का कहना है कि गुप्त जी ने न तो कोई नवीन व्यापक आदर्श दिया न कोई शाश्वत समाधान! महाकाव्य में जिस विराट तथा सार्वकालिक सत्य की अभिव्यक्ति होनी चाहिए थी वह नहीं है।

'साकेत' गुप्त जी का महाकाव्य है। उनके जीवन के अधिकांश श्रम का वह मधुर और सुसगठित फल है। किन्तु मौलिक आदर्श के अभाव ने उसे भी अछूता नहीं छोड़ा है। तुलसीदास के रामचन्द्र का अवतरण काल के एक बहुत बड़े विभाग की समस्या को हल करने के लिए हुआ था। उनके मर्यादा पुरुषोत्तम ने अपने वर्तमान काल की कठिनाइयों को तो हल किया ही, साथ ही भविष्य के लिए भी भक्तों का सहायक होने के लिए अपने नाम का प्रभाव छोड़ दिया। किन्तु गुप्त जी के रामचन्द्र जी हमारी वर्तमान कठिनाइयों को भी पूर्ण रूप से निराकृत नहीं करते ·····बारम्बार हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हिन्दू संस्कृति के प्रचार-कार्य से बोझिल बना कर कवि ने जो उन्हें दक्षिणी जंगलों में भेज दिया है उनसे हमारी विद्यमान समस्याओं को कौन-सा प्रकाश मिलता है? कवि का इशारा शुद्धि आन्दोलन की ओर तो नहीं है? क्या वे हमारे सामने एक ऐसा कार्य क्रम रख रहे हैं जिसके अनुसार भारतीय समाज का उद्धारक आर्येतर तथा भारत वासियों को आर्य संस्कृति में दीक्षित करके तथा उन्हें अपना घनिष्ठ सगी साथी बना कर सिंधु के उस पार बिलखने वाली भारत लक्ष्मी का उद्धार करेगा? ·····

"पाठक को यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि गुप्त जी ने अपने समय के समाज के सामने भी दस बीस वर्षों के लिए भी नेतृत्व प्रदान करने वाले किसी आदर्श को उपस्थित नहीं किया, यही नहीं, समाज के क्रियाशील आदर्श से वे कहीं कहीं पिछड़े भी रह गए।'' ''अपने समकालिक समाज तथा आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए वे उपयोगी आदर्श नहीं दे सके। अधिकांश में वे समाज के प्रचलित आदर्श के अधीन ही रह कर कार्य करते रह गए।"*

* 'गुप्त जी का काव्य धारा'—'गिरीश'

इस विषय पर मैं पहले भाग पर प्रकाश डाल चुका हूँ× कि सत्य सर्वथा नवीन नहीं होता। अगर एक युग का शाश्वत सत्य दूसरे युग के अनुकूल न रहे तो वह सत्य ही कैसे है? फिर कवि अपने दृष्टिकोण के अनुसार समाधान प्रस्तुत करता है। यह प्रश्न दूसरा है कि वह समाधान कैसा है, उपयुक्त है या नहीं है लेकिन समाधान तो है। और 'साकेत' में गुप्त जी के राम आर्यों का आदर्श ही प्रस्तुत करते हैं। यह तो गुप्त जी की विशेषता माननी चाहिए कि आर्यों के आदर्श को वर्तमान युग के एक मात्र समाधान के रूप में उन्होंने युग के अनुकूल उपस्थित किया है।

भारतीय दृष्टिकोण प्रत्येक युग में प्रवृत्तियों का समन्वय रहा। वह चाहे भोग-योग का हो, चाहे ज्ञान-भक्ति का, या प्रेम वैराग्य का। युग के सत्य व समाधान की अभिव्यक्ति 'साकेत' में राम, लक्ष्मण, उर्मिला आदि पात्रों द्वारा ही हुई है। "पाप से घृणा करो, पापी से नहीं—यही वह तत्व है जिससे यह ससार ही स्वर्ग बन सकता है, यही विज्ञान है जो हमें साकेत से प्राप्त होता है।"

राम द्वारा उक्ति के रूप में या जीवन के व्यवहार में गुप्त जी ने समस्याओं के समाधान ही प्रस्तुत कराए हैं। ये जीवन के तथ्य क्या हैं! कर्त्तव्य मात्र का पालन करना, सुख आनन्द अपने मन में होता है हमें समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान कर देना चाहिए, मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए, भुक्ति मुक्ति का सामंजस्य करना चाहिए, सत्य ही सब धर्मों का सार है　　त्याग प्रेम, सेवा, सहानुभूति के यही तथ्य जीवन सत्य के रूप में 'साकेत' से प्राप्त होते हैं।

१. 'फल की चिंता नहीं कर्म की हम को धुन है.....'
२. 'हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलदानी .....'
३. 'सखे समन्वय करो भक्ति का मुक्ति से..... !'
४. 'गौरव क्या है? जन भार वहन करना ही—
　　सुख क्या है? बढ़ कर दुःख सहन करना ही!' आदि।

एक शब्द में ये सब मिलाकर कहे जा सकते हैं—'समन्वय'। यही समन्वय गुप्त जी के मतानुसार जीवन की समस्याओं का महत् समाधान है।+ अन्यत्र भी गुप्त जी ने यही समन्वय मानव-मात्र के सम्मुख रखा है।

१. 'देखता था सिद्धराज, विस्मय से श्रद्धा से
　　भोगी है मदन वर्मा किंवा एक योगी है।' (सिद्धराज)

× देखिए पहला भाग, अध्याय १४—'युग का प्रतिनिधित्व'
+ 　„　　„　　„　　„ १३—'गुप्त जी की समन्वय भावना'

२. 'स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट उद्योगी सभी
बाह्य भोगी आंतरिक योगी सभी !' (साकेत)

३. 'त्यागी भी हैं शरण जिनके जो अनासक्त गेही
राजा योगी जय जनक वे पुण्य देही-विदेही ! (साकेत)

तो समन्वय ही समस्याओं का समाधान हुआ।

'कामायनी' के अन्तिम तीन सर्गों में भी यही बात है। उनमें आध्यात्मिक पक्ष का चित्रण भारतीय जीवन की पूर्णता से संबद्ध है। जीवन की समस्या है आनन्द-सुख। कवि विषय चुनता है, अपनी मनोवृत्तियों को लय कर वर्णन करता है लक्ष्य है सानन्द ! भारतीय जीवन भौतिकता, पार्थिव समृद्धि में ही पूर्ण नहीं होता। उसमें समन्वय होना चाहिए। प्रसाद ने कामायनी में आध्यात्मिक चित्रण कर जीवन का पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत किया है तो गुप्त जी ने समन्वय द्वारा जीवन की सफलता आनन्द व सुख की प्राप्ति प्रकट की है। भारतीय जीवन की पूर्णता है समन्वय में ही। उसे चाहे भौतिकता—आध्यात्मिकता का समन्वय कह लिया जाय चाहे बाह्यांतर प्रवृत्तियों का समन्वय कह लिया जाय। व्यष्टि-समष्टि का समन्वय कह लीजिए या भोग-योग का समन्वय कह लीजिए। प्रसाद 'कामायनी' द्वारा इस शाश्वत समाधान पर पहुँचे हैं और गुप्त जी 'साकेत' द्वारा। 'उत्तरा' में पन्त जी भी इसी सामंजस्य के निकट आ गए हैं।

तो 'साकेत' अन्तरंग दृष्टि से भी महाकाव्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार किसी भी पक्ष से देखा जाय—शास्त्रीय दृष्टि से, आधुनिक दृष्टि से, काव्य के बहिरंग-अन्तरंग की दृष्टि से—'साकेत' बीसवीं सदी में हिन्दी का अत्यन्त सफल तथा उत्कृष्ट महाकाव्य ठहरता है।

४—"मानस" से तुलना और मौलिकता

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' में राम-कथा का वर्णन किया है। उनकी 'कवितावली', 'गीतावली' की विषय वस्तु भी राम कथा ही है। गुप्तजी के 'साकेत' में राम कथा वर्णन उससे मिलता भी है, अन्तर भी रखता है। साम्य होते हुए भी वह तुलसी का राम वर्णन नहीं है। शास्त्रीय सिद्धान्तों में एकता हो सकती है, स्थूलतः वस्तु, चरित्र-चित्रण, आदर्श की व्याख्या आदि में भी समानता हो सकती है, फिर भी सूक्ष्म भेद है। पहले इसी पर विचार कर लिया जाय।

समानताएँ—परस्पर समान बातें तो यह हैं कि रामकथा वही है। राज्याभिषेक होते होते वनवास, चित्रकूट दंडकासाथ होते हुए लंका पहुँचना, राक्षसों का संहार, रावण वध और चौदह वर्ष उपरान्त राम का अयोध्या लौट आना। पात्रों के नाम भी वही हैं—दशरथ, सीता, राम, कौशल्या, सुमित्रा, सुमन्त, वशिष्ठ आदि। भाई भी चार हैं—चारों का विवाह साथ-साथ हुआ है। घटनाएँ भी एक सी हैं। तुलसी के राम ईश्वर थे। उनका सिद्धान्त था—

'अगुन, अरूप, अलख अज जोई। भगति प्रेम वस सगुन सो होई॥'

देवताओं द्वारा राम-स्तुति, अद्वैत, परब्रह्म के रूप में कराई गई है। वे सोलह-कलाओं के पूर्ण अवतार हैं, भू भार हरने के लिए उनका जन्म हुआ है। "जब जब होइ धरम की हानी" द्वारा तुलसी ने राम के लोक रक्षक, मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप का वर्णन किया है। गुप्त जी भी राम का ब्रह्मत्व अक्षुराण रखते हैं। निर्गुण सगुण इसलिये हो गया कि संसार का पथ-प्रदर्शन करना है। प्रथम सर्ग, द्वितीय सर्ग में इस कर्त्तव्य पक्ष का उल्लेख हुआ है। गुप्त जी ने आरम्भ में स्वयं वर्णन किया है—

'हो गया निर्गुण सगुण साकार है
ले लिया अखिलेश ने अवतार है

किसलिए यह खेल प्रभु ने है किया?
मनुज बन कर मानवी का पय पिया?
भक्त वत्सलता इसी का नाम है—
और वह लोकेश लीला-धाम है!
पथ दिखाने के लिए संसार को
दूर करने के लिए भू-भार को...'
पापियों का जान लो अब अन्त है—
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है!'

राम ने भी अपने कर्त्तव्य पक्ष का उल्लेख एक बार दशरथ कैकेयी के सम्मुख किया है दूसरी बार अष्टम सर्ग के आरम्भ में सीता से वार्तालाप करते हुए :—

'मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन शापित हैं!
हो जाँय अभय वे जिन्हें कि भय भासित हैं...'

वे स्पष्ट ही मर्यादा की रक्षा करने आए हैं। यह स्वरूप तुलसी के राम से बिल्कुल मिलता है।

राम पिता की आज्ञा पालने के लिए ही वन जाते हैं। सीता, लक्ष्मण उन्हीं का अनुसरण करते हैं, सुमंत सीमा पार कराते हैं, केवट से भेंट होती है। ग्रामीण स्त्रियाँ यहाँ भी सीता से पूछती हैं ये गोरे-साँवरे कौन हैं वह सरल-भाव से उत्तर भी देती है—

'जुड़ आईं थीं वहाँ नारियाँ ग्राम की,
वे साधक ही सिद्ध हुईं विश्राम की।
सीता सबसे प्रेम-भाव पूर्वक मिलीं,
लतिकाओं में कुसुम-कली सी वे खिलीं।
'शुभे! तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं?'
'गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं!'
वैदेही यह सरल भाव से कह गईं,
तब भी वे कुछ तरल हँसी हँस रह गईं!'

तुलसी ने भी लिखा है—

"बहुरि वदन-विधु अंचल ढाकी। पिय तन चितै भौंह कर बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥'

मार्ग-श्रम की जो व्यंजना तुलसी ने नगर से निकलते ही कराई है—

'फिर पूछति हैं चलनो अव केतिक, पर्ण कुटी करिहौ कित ह्वै?
तिय की लखि आतुरता, पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।'

यहाँ गुप्त जी ने वर्णन किया है—

'सीता कुछ भी और न आगे कह सकीं,
हँसते हँसते सती अचानक रो पड़ी—
'मुझको अपने लिए नहीं कछ सोच है,
तुम्हें असुविधा न हो यही सकोच है।'
'प्रिये हमारे लिए न तुम चिंता करो,
अभी नया अभ्यास तनिक धीरज धरो।'

इसी प्रकार चित्रकूट प्रसग का उद्देश्य भी वही है जो तुलसी का था। भरत, माताएँ, नागरिक, मुनिगण सभी अपने-अपने तर्कों से उन्हें लौट चलने को कहते हैं लेकिन राम अपने निश्चय पर अटल हैं—

'पर रघुकुल में जो बचन दिया जाता है
वह लौटा कर अव कहाँ लिया जाता है?'

और भरत को उनकी चरण पादुका से ही सन्तोष करना पड़ता है—

'वस मिलें पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊँ
वस उनके वल पर, अवधि पार मैं पाऊँ।'

लक्ष्मण-शक्ति का उल्लेख तुलसी ने भी किया था, गुप्तजी ने भी किया है। वैद्य यहाँ भी आकर सजीवनी बूटी का उल्लेख करते हैं जिसे लाने के लिये हनूमान को भेजा जाता है—

'संजीवनी मात्र ही स्वामी, आ जावे यदि रातों रात
तो भी वच सकते हैं लक्ष्मण, वन सकती है विगडी वात।''
आगे वढ़ वोला मैं—'प्रभुवर किंकर कर लेगा यह कार्य।'

उन्होंने मेघनाद यज्ञ का भी उल्लेख किया है, रावण के आश्चर्य का भी—

'पहुँचे सव निज यज्ञ लग्न था मग्न जहाँ वह
पशु वलि देकर वली शस्त्र पूजन करता था
अस्फुट मन्त्रोच्चार कलित कूजन करता था।'
ठिठक गए सव एक साथ पल भर निश्चल से
वोले तव सौमित्रि भडक कर दावानल से''' '

उसी पुष्पक विमान की चर्चा की गई है जिस पर तुलसी के राम बैठ कर अयोध्या लौटे थे। भरत लक्ष्मण ने स्वागत किया—

'पाया, हाँ आकाश कुसुम भी हमने पाया
फैलाता निज गंध गगन में पुष्पक आया।
अगणित नेत्र मिलिन्द उड़े, प्रभु गुण रव छाया
मानुष-मानस लाख तरंगों से लहराया!'

महाकाव्य की शास्त्रीय दृष्टि से तुलसी ने मंगलाचरण किया था—

'वर्णानामर्थ संघानां रसानां छन्द सामपि
मंगलानांच कर्त्तारौ वंदे वाणी विनायकौ!'

गुप्त जी ने भी गणेश व सरस्वती की वंदना की है। सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन निन्दा तुलसी ने की है—

'बिछुरत एक प्रान हरि लेही, मिलत एक दारुन दुख देही।'

गुप्त जी ने भी की है। तुलसी ने जिस प्रकार :—

'कवि न होहुँ नहि वचन प्रवीना, सकल कला सब विद्या-हीना।
कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।'

कह कर नम्रता प्रदर्शित की थी, उसी प्रकार गुप्तजी ने यह कह कर की है—

'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है—
कोई कवि वन जाय सहज संभाव्य है?'

तुलसी अपने व्यक्तिगत जीवन में परम राम भक्त थे। पंचदेवों की स्तुति के उपरान्त माँगी राम भक्ति ही—

'मागत तुलसिदास कर जोरे बसहु राम सिय मानस मोरे।'
या—जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान न आन।'

कह कर अपनी अनन्यता प्रदर्शित की तो गुप्तजी आरम्भ में उन्हीं की चौपाई उद्धृत कर दी है—

'रामचरित जे सुनहि अघाहीं, रस विशेष जाना तिन नाहीं!'

और 'द्वापर' में तो स्पष्ट ही लिख दिया—

'मुझ पर पढ़ने से रहा राम दूसरा रंग!'

अन्तर—इन स्थूल समानताओं की अपेक्षा तुलसी के वृत्त से गुप्त जी का सूक्ष्म अन्तर अधिक है। डा० नगेन्द्र ने प्रधानतः इन भिन्नताओं को बतलाया है—*

(१) 'साकेत' में राम-सीता की कहानी प्रधानतः उर्मिला की कहानी बन जाती है। इसी का विकास तथा संगठन मुख्य है।

* 'साकेत' एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र

(२) स्थल सकलन (unity of place) का 'साकेत' में बहुत ध्यान रखा गया है। प्राचीन इतिवृत्तात्मक शैली का अनुसरण नहीं है। कथा राम जन्म की पौराणिक परम्परा से लेकर महाकाव्य वर्णन पर समाप्त नहीं होती। कुछ स्थल चुन लिये गए हैं—उन्हीं की अन्विति हुई हे। अभिषेक सवाद, कैकेयी मथरा की कथाएँ स्वय कही हैं पर चित्रकूट के उपरान्त वह राम के साथ वन नहीं गया। चित्रकूट भी गया है तो समस्त साकेत के साथ। सब घटनाओं का समाहार नहीं होता है। इस प्रकार स्थल सकलन है।

(३) 'रामचरित मानस' का मुख्य कार्य है रावण-वध जबकि 'साकेत' का मुख्य कार्य है लक्ष्मण-उर्मिला मिलन। साकेत का रग स्थल वन प्रात न होकर अयोध्या है।

(४) 'साकेत' घटना प्रधान भी नहीं है, चरित्र प्रधान महाकाव्य है।

(५) समस्त पात्र व घटनाएँ नायिका के चरित्र विकास में सहायक हैं।

उपर्युक्त अन्तरों के अतिरिक्त और भी स्पष्ट किए जा सकते हैं—

(६) दोनों की प्रबन्ध परम्परा में अन्तर है। 'साकेत' में 'बाल काण्ड' तो है ही नहीं। अष्टम सर्ग तक 'अयोध्या काण्ड' को कथा ही चलती है। 'मानस' की 'लका काण्ड' तक घटनाएँ यहाँ एकादश द्वादश सर्गों में समेट दी गई हैं। 'उत्तर काण्ड' की झाँकी सूक्ष्मत. कुछ पहले कुछ बाद में दे दी गई हैं। 'मानस' में जो घटनाएँ प्रत्यक्ष हुई थीं यहाँ परोक्ष कर दी गई हैं। गुप्त जी ने उनका चलता वर्णन कर दिया है।

१ 'थोडे मे वृतांत सुनो अब खर दूषण संहारी का।'
२ 'गया जटायु इधर सुरपुर को, उधर दशानन लंका को।'
३ 'कर जटायु सकार बीच मे दोनों ने निज पथ पकड़ा।'
४ 'तब लंका पर हुई चढाई, सजी ऋक्ष-वानर सेना।' आदि।

(७) 'मानस' में सीता राम का, धनुष भग का प्रत्यक्ष वर्णन स्वयं कवि तुलसी ने किया है। 'साकेत' में उर्मिला द्वारा स्मृति रूप कहला दिया गया है

'प्रभु चाप न जो चढ़ा सके, उडता था मन अंग थे थके
तब मैं अति आर्त हो उठी, धरजीजी मणि को भिगो उठी।'

और—

'ध्वनि मंडप मध्य छा गई, तब लौं भार्गव मूर्ति आ गई।' आदि।

(८) पात्रों के चित्रण में भी तुलसी के 'मानस' से अन्तर है। 'मानस' की कैकेयी के लिए तुलसी ने "गई गिरा मति फेरि" वाक्य का प्रयोग किया है। किन्तु 'साकेत' में कैकेयी का विरुद्ध हो जाना दैवात् नहीं है, मनोवैज्ञानिक

प्रतिक्रिया है। उस पर तो सन्देह एक ओर रहा, उसके पुत्र पर सन्देह किया गया। इसी कारण वह प्रतिरोध करती है। मानस की मथरा ने कहा है—

'कोउ नृपु होहु हमहिं का हानी, चेरि छॉड़ अब होव कि रानी!'

लेकिन साकेत की मंथरा कहती है—

'दण्ड दें कुछ भी आप समर्थ, कहा क्या मैंने अपने अर्थ ?
समझ में आया जो कुछ मर्म, उसे कहना था मेरा धर्म !'

यहाँ भरत के लिए कैकेयी के कान भरना उसका धर्म हो गया है। उर्मिला का चित्रण तो सर्वथा नवीन है, कौशल्या सुमित्रा में भी भाव परिवर्तन आ गया है। लक्ष्मण तो केवल सेवा भाव के अतिरिक्त 'मानस' के लक्ष्मण से बिल्कुल ही भिन्न हो गए हैं। पिता-माता को "दस्युजा के दास" या "अनार्या की जनी" कहना तो एक ओर रहा वे राम के सामने भी तन जाते हैं—

'उनको इस शर का लक्ष्य चुनूँगा क्षण मे
प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण में !'

'मानस' के जिस लक्ष्मण ने सीता-माता क चरणों के ऊपर तक कभी दृष्टि नहीं की थी—केवल पाँव के आभूषण ही पहिचान सके थे—'साकेत' में उसी ने सीता को यह उत्तर दिया है—

'मैं कैसा क्षत्रिय हूँ, इसको तुम क्या समझोगी देवी···
उठा पिता के भी विरुद्ध मैं, किंतु आर्य-भार्या हो तुम
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ, अबला हो, आर्या हो तुम !'

ऐसा प्रतीत होता है यहाँ लक्ष्मण सीता को माता की दृष्टि से, आर्य धर्म की दृष्टि से पूज्य नहीं मानते अपितु "आर्य भार्या" मात्र होने के कारण उनकी सेवा करते हैं मानो पद सेवा के लिये उन्हें बाध्य किया गया हो। यह चित्रण 'मानस' में कहीं नहीं मिलता।

(६) 'मानस में तुलसी ने बार-बार घोषणा की है कि राम परब्रह्म हैं, अवतार हैं मनुष्य नहीं हैं बल्कि मनुष्य लीला कर रहे हैं। सीता का शृङ्गार वर्णन करते समय भी वह तुरन्त पाठक से कह देते हैं सीता जगत जननी हैं, पृथ्वी की सामान्य नारी नहीं है—ताकि पाठक बहक न जाय। गुप्त जी ने खुलकर सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया है। उनको सद्यः-स्नाता का वर्णन बहुत कुछ विद्यापति की कल्पना का स्मरण करा देता है—

'सुख से सद्यः स्नान किए पीताम्बर परिधान किए··
गोट जड़ाऊ घूँघट की बिजली जलदोपम पट की

भाव सुरभि का सदन अहा! अमल कमल सा वदन अहा!
अधर छवीले छदन अहा! कुंदु कली से रदन अहा!
साप खिलाती थीं अलकें, मधुप पालती थीं पलकें
और कपोलों की झलकें, उठती थीं छवि की छलकें
गोल गोल गोरी बाहें, दो आँखों की दो राहें!"....
(चतुर्थ सर्ग)

कितना ही सतर्क पाठक चाहे हो कुछ देर के लिये यह वर्णन पढ़ते समय सीता का जगज्जननी वाला रूप अवश्य भूल जायगा, क्योंकि गुप्त जी ने उस रूप में सीता को लिखा ही नहीं। वे नारी ही हैं सामान्य जगत की नारी से कुछ उच्च श्रेणी की हैं—बस यही श्रेणी भेद है। सप्तम सर्ग में कवि ने पुनः सीता के अंग सौंदर्य के वर्णन करने का अवसर निकाल लिया है। देखिए—

'पहने थीं दिव्य दुकूल अहा! वे ऐसे
उत्पन्न हुआ हो देह-संग ही जैसे!
कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट से
थे पत्र-पुंज में अलग प्रसून प्रकट से!
कंधे ढक कर, कच छहर रहे थे उनके
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके!' आदि।

इसी प्रकार राम भी आदर्श पुरुष ही है। कवि ने स्वयं प्रश्न किया है—

'राम, तुम मानव ही? ईश्वर नहीं हो क्या?'

इसी कारण आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि गुप्त जी अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित देखने वाले कवि हैं।

(१०) 'साकेत' पर वर्तमान युग की छाप है। राष्ट्रीयता, उच्च-नारी-भावना आधुनिक प्रवृत्तियों के अनुकूल हैं जो 'मानस' में नहीं हो सकता था। तुलसी लिख गए थे—

'ढोल, गँवार, शूद्र पशु नारी ये सब ताड़न के अधिकारी!'

लेकिन 'साकेत' की नारियाँ शिक्षित, सहयोगी वीर क्षत्राणी के रूप में चित्रित हुई हैं वह चाहे उर्मिला हो, सुमित्रा हो, या अयोध्या की नागरिका हों!

(११) वस्तु वर्णन में भी 'मानस' के राम का उद्देश्य दक्षिण में आर्य-सभ्यता का प्रचार करना नहीं है। ऋच्छ वानरों को वहाँ पशु-रूप में ही लिया गया है जिसकी मनोहर झाँकी कभी-कभी आजकल रामलीला के प्रसंग में विभिन्न रँगे हुए चेहरे-मोहरों द्वारा मिल जाती है। जबकि 'साकेत' के राम ने स्वयं अपना उद्देश्य प्रकट किया है—

'मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से।'

यहाँ वे जातियाँ ली गई हैं जो असभ्यता, असंस्कृति, अशिक्षा, अज्ञान के कारण पशु-तुल्य जीवन बिताती थीं—गुप्त जी ने लिखा है—

'बहु जन वन में हैं बने ऋच्छ वानर से।'

हैं वे मनुष्य ही जिन्हें राम संस्कृत-शिक्षित करेंगे! एकादश सर्ग में भी इस उद्देश्य का उल्लेख किया गया है—

'गोदावरी तीर पर प्रभु ने दण्डक वन में वास किया,
अपनी उच्च आर्य संस्कृति ने वहाँ अबाध विकास किया,
× × × ×
जय जय कार किया मुनियों ने दस्युराज यों ध्वस्त हुआ
आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य धर्म आश्वस्त हुआ!'

इसी प्रकार 'साकेत' में रावण युद्ध का भी प्रत्यक्ष वर्णन नहीं है। सरमा द्वारा उल्लेख करा दिया गया है, सीता को सुनाती है—

'अब प्रभु के ही निकट देवि अपने को जानो
मेघनाद क्या मरा, मरा रावण ही मानो!
सारी लंका आज रो रही है सिर धुन कर
रावण, मूर्छित हुआ शुभे, रथ मे ही सुन कर!
प्रभु बोले-उठ, जाग बाण प्रस्तुत है मेरा
मैं सह सकता नहीं दुःख रावण अब तेरा!'

मानो राम देवताओं के कष्ट निवारण के लिए नहीं बल्कि रावण का ही दुःख दूर करने के लिए अपने बाण द्वारा निस्तार कर देना चाहते हों।

इस प्रकार तुलसी ने जिन वर्णनों को उपेक्षित करा दिया था—जैसे उर्मिला का वृत्त—गुप्त जी ने विस्तार पूर्वक अपनी कवि कल्पना से उनमें रंग भरा है और जहाँ उनकी वर्णित कथा ली भी है, नवीन दृष्टिकोण से समझ कर उसे स्थान दिया है। साम्य की अपेक्षा अन्तर ही अधिक लक्षित होता है।

नवीनताएँ :—अब यह देखना चाहिए कि गुप्त जी ने 'साकेत' के वर्ण्य वृत्त में क्या मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। उपर्युक्त अन्तर भी इस क्षेत्र के अंतर्गत आ सकते हैं क्योंकि वे नवीनताएँ ही हैं। तुलसी से जो भेद रक्खा गया उनका वर्णन कवि की कल्पना शक्ति द्वारा ही संभव हुआ, हाँ प्रेरणा चाहे अन्य ग्रन्थों से मिली हो। अतः ये गुप्त जी की उद्भावनाएँ भी हुईं। अन्य स्थलों पर भी ये उद्भावनाएँ की गई हैं।

(१) 'साकेत' का अर्थ है अयोध्या। सब घटनाएँ यहीं केन्द्रित हैं।

(२) 'साकेत' का कौटुम्बिक जीवन नवीन है। अब तक की राम-कथाओं में राम अमानवीय थे। गुप्त जी वैष्णव होने के नाते उन्हें अवतारी मानते अवश्य हैं पर कुटुम्ब में उन्हें पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया है। स्वर्ग से तुलना करते हुए अयोध्या व सरयू को श्रेष्ठ कहा है—

'स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ, किंतु सुर सरिता कहाँ सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती यह यहीं से जीवितों को तारती।'

(३) उर्मिला से सबद्ध सभी वर्णन मौलिक हैं। दशम सर्ग में उसके बाल्य-काल की घटनाएँ वर्णित हैं। सीता के साथ वह भी राम लक्ष्मण के दर्शन करती हैं, आकृष्ट हो जाती हैं—

'दृग दर्शन हेतु क्या बढ़े, उन पैरों पर फूल से चढ़े।
उनकी मुसकान देख ली, अपनी स्वीकृति आप लेख ली'।

× × × ×

'तिरछी यह दृष्टि हो उठी तकती सी सब सृष्टि हो उठी।
मन मोहित सा विमूढ था प्रकटा कौन रहस्य गूढ था ?'

वह पार्वती कथा सुनती थीं, चारों बहिनें खुल कर खेल करती थीं, अटारियों पर चढ़ कर दृश्य देखा करती थीं। इस प्रकार उनका सुख पूर्ण बचपन प्रदर्शित करना नवीनता है—

'वह स्वप्न कि सत्य क्या कहूँ ?
यह मानस लास्य-पूर्ण था वह पद्मानन हास्य पूर्ण था
झडता उड अश्रु-चूर्ण था, सरिते, सम्मुख स्वर्ग घूर्ण था।'

उर्मिला के इस वर्णन से सुभद्राकुमारी चौहान की 'मेरा बचपन' शीर्षक कविता का अनायास स्मरण हो आता है।

विवाह के उपरान्त प्रथम सर्ग में दाम्पत्य जीवन की झलक नितान्त मौलिक है। उर्मिला का अरुण पट पहन कर प्रासाद में खड़ा होना, लक्ष्मण का आगमन, मधुर वार्तालाप सब मौलिक हैं। उसका सौंदर्य वर्णन नवीन है—

'लोल कुण्डल मण्डलाकृति गोल हैं, घन पटल से केश, कान्त कपोल हैं।
देखती है जब जिधर यह सुन्दरी दमकती है दामिनी सी द्युति भरी !'

जायसी ने "हीरा लेइ सो विद्रुम धारा" कह कर इसी सौंदर्य का संकेत किया है। 'प्रसाद' ने तो श्रद्धा का सौंदर्य आँकते समय मेघों के बीच बिजली के फूल की कल्पना की थी—

'खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग।'

तो गुप्त जी ने उर्मिला के रूप में स्वर्ग का फूल इस धरती पर खिला दिया है—

'स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला !'

संवाद नवीन व युक्ति युक्त हैं। रात्रि के उपरान्त प्रथम उठने की बात हुई थी, उर्मिला जीत गई तो लक्ष्मण को यह कह कर अपनी रक्षा करनी पड़ी—

'प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं !'

जब तोता लक्ष्मण के सिखाए वाक्यों को दुहराता है तो उर्मिला कहती है—

'और भी तुमने किया है कुछ कभी
या कि सुग्गे ही पढ़ाये हैं अभी ?'

तो लक्ष्मण—

'बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही।'

कह कर उसे निरुत्तर कर देते हैं। इस प्रकार विनोद गुप्त जी की मौलिक उद्भावना है। अन्त में विदाई का दृश्य भी नवीन है—

'उर्मिला कहने चली कुछ पर रुकी
और निज अंचल पकड़ कर वह झुकी
भक्ति सी प्रत्यक्ष भू लग्ना हुई
प्रिय कि, प्रभु के प्रेम में मग्ना हुई !'

चतुर्थ सर्ग में उर्मिला फिर सामने आई। इस बार वह आर्य नारी के रूप में है जिसे पति की आज्ञा शिरोधार्य करनी है। सेवा धर्म में बाधा पड़ेगी अतः उसने वियोग ही स्वीकार कर लिया—

'आज स्वार्थ है त्याग भरा, है अनुराग विराग भरा,
तू विकार से पूर्ण न हो शोक-भार से चूर्ण न हो !'

यही त्याग का भाव गुप्त जी ने 'सिद्धराज' में रानकदे द्वारा व्यक्त कराया है—

'प्रेमी तो पराजय भी भोगता है जय सी
सच्चा योग उसका वियोग में ही होता है
मर के जिलाता वह, जीता नहीं मार के !' (सिद्धराज)

दशरथ की मृत्यु पर वह कैकेयी के सामने जा गिरती है। यह प्रसंग सांकेतिक अभिव्यक्ति करता है क्योंकि कैकेयी के कारण उसे यह जीवन देखना पड़ा। अष्टम सर्ग में उसे कैकेयी ने छाती से लगा लिया है—

आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आ जा
पिस मुझ से चंदन लता मुझी पर छा जा !'

उर्मिला का विरह वर्णन गुप्त जी की नितान्त मौलिकता है। मानो यशोधरा के शब्दों में वह कह रही हो—

'अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।'

—यशोधरा

अन्त में मिलन की तैयारी, उसकी उदासीनता सेवा भाव की प्रमुखता तथा भारतीय परम्परा के अनुसार प्रिय से भेंट, लक्ष्मण की सान्त्वना यह सब नवीनता हैं।

(४) पात्रों में सुमित्रा का वीर क्षत्राणी रूप नवीन है। कौशल्या से उसका स्वभाव भिन्न है। जब पुत्र लक्ष्मण को इतना उग्र दिखाया गया तो माता में भी वीरत्व भावना दिखानी ही पड़ती। वनवास की आज्ञा पर वह चुप नहीं रहती सिंहिनी के समान गरजती है—

'स्वत्वों की भिक्षा कैसी, दूर रहे इच्छा ऐसी।'

आर्य-परम्परा किसी अन्याय को सिर झुका कर मानने का विरोध करती है। जो अपना है ही उसका माँगना क्या?

'प्राप्य याचना वर्जित है, आप भुजों से अर्जित है।
हम पर भाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी।'

क्योंकि वह वीर प्रसू हैं जिसके लिए भिक्षा मौत के बराबर है। अतः सुमित्रा पहले तो राम को अपने अधिकारों के प्रति सचेत करती है फिर लक्ष्मण को। 'यशोधरा' की गोपा द्वारा भी गुप्त जी ने यही क्षत्रियत्व व्यक्त किया है—

'सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
तो कह, क्या मुझको अपनी, पथ-बाधा ही पाते?
स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
पतियों को प्राणों के पण मे,
हमीं भेज देती हैं रण मे—
क्षात्र-धर्म के नाते!'

'साकेत' में नारी का यह क्षात्र धर्म सुमित्रा द्वारा व्यक्त कराया गया है।

५. मथरा का चुपचाप चला जाना नवीन रूप है। वह "मही पर माथा टेक" कर चुपचाप चली जाती है तो कैकेयी के मन में उसकी प्रतिक्रिया होती

है। जब व्यक्ति सामने नहीं रहता तो उसकी कही हुई बातों का अधिक स्मरण होता है—

'गई दासी, पर उसकी बात, दे गई मानो कुछ आघात—
भरत से सुत पर भी संदेह बुलाया तक न उन्हें जो गेह!'

६. कैकेयी का चरित्र-चित्रण बिल्कुल नवीन है। दोष न तो मंथरा का है, न उसके भाग्य का। वह स्वयं अपने से ही छली गई। इतनी बड़ी आत्म-प्रवचना 'साकेत' में उसी ने सहन की है। शपथ लेने से भी क्या उसका कलंक धुल सकेगा—

'दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है,
पर अबला जन के लिए कौन सा पथ है?'

पहाड़ के बराबर पाप करके क्या राई भर अनुताप करने का उसे अधिकार नहीं—

'क्या कर सकती थी मरी मंथरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी!'

अपने को ही धिक्कारने लगती है जिसमें ऐसे भाव उत्पन्न हुए—

'थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके?'

इसका कारण यह है—

'बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा!'

इसका परिणाम यह हुआ कि राम के साथ-साथ सारी सभा चिल्ला उठी—

'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई!'

पाठक उससे घृणा नहीं करता, सहानुभूति करता है क्योंकि उसके निर्माता कवि को स्वयं उससे सहानुभूति है। उसी के भाव का साधारणीकरण होता है। कैकेयी का यह चित्रण गुप्त जी की मौलिकता है।

७. राम की वनगमन पर प्रजा का सत्याग्रह करना नवीन है।

८. एकादश सर्ग में भरत माण्डवी का संवाद मौलिक उद्भावना है। भरत कुटी में बैठे हैं, दोनों ओर दीपकों का प्रकाश है—

'सौध पार्श्व में पर्ण कुटी है उसमें मंदिर सोने का,
जिसमें मणिमय पाद पीठ है, जैसा हुआ न होने का!

केवल पाद पीठ, उस पर है पूजित युगल पादुकाएँ,
स्वयं प्रकाशित रत्न दीप हैं दोनों के दाँए बाँए!
उटज अजिर में पूज्य पुजारी उदासीन सा बैठा है;
आप देव-विग्रह मन्दिर से निफल लीन-सा बैठा है?'

तब माण्डवी प्रवेश करती है—हाथों में चार चूड़ियाँ माथे पर सिंदूर! भरत के लिए फलाहार लाई है, मंदिर-दर्शन के उपरांत उन्हें प्रणाम करती है। भरत अपना एक निष्ठ विश्वास प्रकट करते हैं—

'तो भी अपने प्रभु के ऊपर है मुझको पूरा विश्वास
आर्य कहीं हों, किंतु आर्य के दिए वचन हैं मेरे पास;
रोक सकेगा कौन भरत को अपने प्रभु को पाने से,
टोक सकेगा रामचन्द्र को कौन अयोध्या आने से?'

माण्डवी उन्हें राजमहल की स्थिति समझाती है और तो सब भोजन कर चुके—

'पर उर्मिला बहन को यह मैं आज न जल भी पिला सकी?'

भरत उपवास करते हैं तो माण्डवी और उदास हो जाती है, "प्रभु का प्रसाद" कह कर उन्हें भोजन कराना चाहती है तो भरत—

'सबके साथ, उसे लूँगा मैं, बीते-बीत रही है रात,
हाय! एक मेरे पीछे ही हुआ यहाँ इतना उत्पात?'

कर कर उसे टाल देते हैं। माण्डवी अत्यन्त विषाद पूर्वक कहती है—

'हाय! नाथ धरती फट जाती, हम तुम कहीं समा जाते,
तो हम दोनों किसी मूल में रह कर कितना रस पाते!
न तो देखता कोई हमको न वह कभी ईर्ष्या करता,
न हम देखते आर्त किसी को, न यह शोक आँसू भरता?'

दोनों के इस वार्तालाप से जहाँ भरत की कर्त्तव्य निष्ठा व्यजित है वहाँ दांपत्य जीवन की करुणा भी। भरत ही यह व्रत निर्वाह कर सके हैं और किसी की स्पर्धा नहीं थी। वस्तुतः 'साकेत' में उर्मिला क्या रोई है सारे मानव जीवन का एक एक क्षेत्र करुणा से भर गया है। स्वधर्म की यही परीक्षा लक्ष्मण, राम, भरत सबको देनी पड़ी है—

'धन्य हुए हम सब स्वधर्म की जिस इस नई प्रतिष्ठा से,
समुत्तीर्ण होंगे कितने कुल इसी अतुल की निष्ठा से।'

६ गुप्त जी की कल्पना को मौलिक उद्भावना करने का एक प्रसंग और मिला। द्वादश सर्ग में अयोध्या के नागरिकों का युद्ध के लिए सन्नद्ध होना।

भरत शत्रुघ्न की यह सैन्य सज्जा नवीन है। जब हनुमान सूचना दे गए कि लक्ष्मण मूर्च्छित हैं, राम अकेले रह गए हैं तो गुप्त जी को यह अच्छा नहीं लगा कि सूचना मिलने पर भी साकेत निवासी अकर्मण्य बैठे रहें। एकाकी भ्राता की सहायता के लिए भरत सेना सजा कर क्यों न ले चलें? यह भी तो कर्त्तव्य है, भ्रातृ धर्म है! बस नई उद्भावना हो गई।

शत्रुघ्न भाई का आदेश पाकर घोड़ा दौड़ाने लगे। श्रुत-कीर्ति ने भी पति को तिलक कर धर्म निर्वाह किया—

'जाओ स्वामी यही माँगती मेरी मति है,
जो जीजी की, उचित वही मेरी भी गति है!'

उसने रात्रि के निस्तब्ध वातावरण में शंख बजाया—तैयार हो जाओ—

'करके ध्वनि संकेत शूर ने शंख बजाया....
उधर भरत ने दिया साथ ही उत्तर मानो....

और क्षण-भर में रण-भेरी बजने लगी—

'एक एक दो हुए, जिन्हें एकादश जानो,
यों ही शंख असंख्य हो गए लगी न देरी;
घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी!'

और—'उठी क्षुब्ध सी अहा! अयोध्या की नर-सत्ता,
सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता-पत्ता!'

नागरिक एकदम अस्त्र-शस्त्र बाँधने लगे। उनकी स्त्रियों ने साथ चलने का प्रस्ताव किया तो माताओं ने आशीर्वाद दिया—

'जाओ बेटा—राम काज, क्षण भंग सरीरा!'

तो पुत्रों ने कदम बढ़ा कर घोषणा की—

'अब तुम्हारा पुत्र पैर पीछे न धरेगा।'

इसी प्रकार चर्चा होती गई—

'ऐसे अगणित भाव उठे रघु-सगर-नगर में,
बगर उठे बढ़ अगर-तगर से डगर डगर में!'

रथ, नाव, जल थल के बलाध्यक्षों द्वारा सज्जित होने लगे उल्काओं का प्रकाश मानो अन्धकार को पीता जा रहा था। गुप्त जी ने कितना सजीव वर्णन किया है—

'तुले धुले से खुले खड्ग चमचमा रहे थे,
तप्त सादियों के तुरंग तमतमा रहे थे।

हींस लगावें चाव, धरातल खूँद रहे थे,
उड़ने को उत्कर्ण कभी वे कूद रहे थे ॥
करके घंटा-नाद, शस्त्र लेकर शुण्डों में,
दो दो दृढ़ रद-दण्ड दबा कर निज तुण्डों मे ।
अपने मद की नहीं आप ही ऊष्मा सह कर,
झलते थे श्रुत-तालवृन्त दन्ती रह रह कर !'

इस प्रकार प्रौढ-जरठ योद्धा भी सज सज कर चलने लगे—

'हो हो कर उद्ग्रीव लोग टक लगा रहे थे
नगर जगैया जगर मगर जगमगा रहे थे !'

सैन्य कटिबद्ध हो गई तो भरत शत्रुघ्न ने उन्हें युद्ध का प्रयोजन बताया। गुप्त जी के इस वर्णन से मालूम ऐसा पड़ता है जैसे बाबर अपनी तुर्की सेना को खाँडवा के रण क्षेत्र में राणा साँगा का सामना करने के लिए शपथ दिला रहा हो !

'साका, साका आज वही साका है शूरो,
सिंधु पार उड़ रही यही स्वपताका शूरो !
क्लीव का पुरुष जाग जाग कर भी है सोता,
पर साके को शूर स्वप्न मे भी कब खोता ?'

× × × ×

उर्मिला भी रणचण्डी का रूप धारण कर चलने को प्रस्तुत हो गई। वह भी सैनिकों को आर्य मर्यादा की रक्षा के लिए कटिबद्ध कराती है। सूर्य-वंश-चन्द्रवंश की मान-रक्षा का प्रश्न आ गया है—

'विंध्य हिमालय भाल भला ! झुक जाय न वीरो,
चन्द्र-सूर्य-कुल कीर्ति कला रुक जाय न वीरो !'

१०. यह उन्मेष नई उद्भावना है।

(१) कुछ और प्रसंग भी लिए जा सकते हैं। 'साकेत' में दशरथ ही कैकेयी से वरदान माँगने को कहते हैं। कैकेयी यहाँ पहले दिए गए वचनों का स्मरण कराते हुए उनकी पूर्ति नहीं कराती, इसी समय माँगती है—

'भूप ने कहा—'न मारो बोल,
दिखाऊँ कहो हृदय को खोल ? तुम्हीं ने माँगा कब क्या आप ?—
भला माँगो तो कुछ इस बार, कि क्या दूँ दान, नहीं उपहार ?'

(२) 'साकेत' की कौशल्या सती होने का प्रस्ताव करती है, नैमव्य दुःख

सहने के लिए जीवित नहीं रहना चाहती। परन्तु भरत और वशिष्ट उसे रोक लेते हैं—

'हाय! भगवन क्यों हमारा नाम?
अब हमें इस लोक में क्या काम?
भूमि पर हम आज केवल भार;
क्यों सहे संसार हा हा कार?
क्यों अनाथों की यहाँ ही भीड़?
जीव खग उड़ जाय अब निज नीड़?'

तो वशिष्ठ समझाते हैं—

'देवियो, ऐसा नहीं वैधव्य, भाव भव में कौन वैसा सव्य?
धन्य वह अनुराग निर्गत राग; और शुचिता का अपूर्व सुहाग!

× × × ×

तुम जियो अपना वही व्रत पाल, धर्म की वल वृद्धि हो चिरकाल।
सहन कर जीना कठिन है देवि; सहज मरना एक दिन है देवि!'

(३) 'साकेत' में भरत ने कैकेयी का दोष भी अपने सिर ले लिया है। कौशल्या के सम्मुख स्वयं अपने को अपराधी कहते हैं—

'भरत - अपराधी भरत—है प्राप्त, दो उसे आदेश अपना आप्त।
आज माँ मुझसे अधम है कौन? मुँह न देखो, पर न हो तुम मौन॥'

(४) 'साकेत' में राम लक्ष्मण को शक्ति लगने पर मोहाभिभूत होकर आँसू नहीं बहाते बल्कि उद्दीप्त होकर प्रलय जैसी मचा देते हैं और "और भाई का बदला भाई ही" कहते हुए कुम्भकर्ण को मार गिराते हैं।

'आज काल के भी विरुद्ध है युद्ध-युद्ध बस मेरा युद्ध—
रोऊँगा पीछे होऊँगा उऋण प्रथम रिपु के ऋण से;
प्रलयानल से बढ़े महाप्रभु, जलने लगे शत्रु तृण से.......
भाई का बदला भाई ही! 'गरज उठे वे घन - गम्भीर;
गज पर पंचानन सम उस पर टूट पड़े उसका दल चीर!'

हेर-फेर - इस प्रकार 'साकेत' के प्रबंध निर्वाह, घटना वर्णन, चरित्र चित्रण दृश्य विधान में नवीनता अनेक स्थलों पर लक्षित होती है। कहीं गुप्तजी ने घटनाओं का हेर-फेर कर दिया है—(१) द्वितीय सर्ग में कैकेयी मंथरा-संवाद (२) राम का वन-गमन प्रसंग (३) भरत का आगमन (४) चित्रकूट सभा (५) अन्त में राम का युद्ध वर्णन आदि स्थलों का गुप्त जी ने परिवर्तित रूप में वर्णन किया है। कहीं नवीन प्रसंगों की उद्भावना है। कहीं

उपेक्षित प्रसगों का विस्तृत वर्णन है तो कहीं पूर्व वर्णित अशों को नवीन दृष्टि से देखा है।

जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है कोई कवि नितान्त नवीन उद्भावना नहीं करता। या तो किसी ग्रन्थ से वैसा रूप प्रस्तुत करने की प्रेरणा लेता है या उपस्थित प्रसगों के आधार पर नवीन प्रसग की सभावना कर लेता है।

१ "There is no invention but discovery in literature."
—Lucas

२. "Genius does not be in originality but in intensity and depth of subject matter." —Immerson

जैसा डा० नगेन्द्र ने बतलाया है गुप्त जी भी चार पुस्तकों से प्रभावित हैं—'रामचरति मानस', 'बाल्मीकि रामायण', 'उत्तर रामचरित' और 'मेघनाद वध'। चारों से प्रेरणा लेकर उन्होंने 'साकेत' का रूप निश्चित किया है। प्रत्येक कवि ऐसा करता है। स्वय तुलसी ने 'आध्यात्म रामायण' आदि से प्रेरणा ली। प्रसाद ब्राह्मणों, उपनिषदों के मूल से "काम गोत्रजा श्रद्धा नामार्षिका"—तथा मनु महाराज को खोज लाए। हरिऔध ने कृष्ण राधा को नवीन रूप दे दिया। क्योंकि मौलिकता वस्तुतः विषय में नहीं बल्कि अभिव्यक्ति (Presentation) में होती है। और गुप्त जी ने भी 'साकेत' की कथा का स्वरूप बदल दिया है। इसके मूल में है उनकी मौलिकता—नवीन उद्भावना-या अभिव्यक्ति करने की क्षमता। इसी कारण 'साकेत' प्राचीन होकर भी नवीन है।

५—साकेत की आधुनिकता

'साकेत' पर आधुनिक युग का पूरा प्रभाव है। सामाजिक दृष्टि से भी, साहित्यिक दृष्टि से भी। गुप्त जी की अन्य रचनाओं 'यशोधरा', 'सिद्धराज', 'द्वापर' 'नहुष' आदि में भी यह प्रभाव अनेक रूपों से लक्षित होता है। जिस प्रकार जगत् के बाह्य उपादानों में क्रान्ति हुई है, मनुष्य प्रकृति के आधारों पर विजय प्राप्त करता जा रहा है, उसी प्रकार मनुष्य की अन्तर्बाह्य मान्यताएँ भी बदल रहीं हैं। भौतिक विकास के साथ ही किसी बात को वह एकदम स्वीकार नहीं कर लेता, तर्क के आधार पर ठोक बजा कर सत्य स्वीकार करता है। प्राचीन काल को कुछ धारणाओं के प्रति उसे अरुचि हो गई है जिनका साहित्य में वर्णन उसे रुचिकर प्रतीत नहीं होता। आज वह जागरुक अधिक है। 'साकेत' में यह जीवन की विविधता अनेक रूपों में उपलब्ध होती है।

१. बुद्धिवाद का प्रभाव :—आधुनिक काल की सब से बड़ी विशेषता है बुद्धिवाद। मनुष्य का विश्वास न तो ठीक पर है, न किसी घटना के एकाएक हो जाने पर। 'साकेत' के प्रसंगों में भी जो घटनाएँ हुई हैं उनका विकास स्वाभाविक हैं। कैकेयी भरत के लिए अड़ जाती है क्योंकि उस पर सदेह किया गया है—बुलाया तक नहीं गया। प्रत्येक माता अपने पुत्र की शुभाकांक्षा चाहती है अनिष्ट की कल्पना तक नहीं कर सकती। इसलिए कैकेयी भी यह अन्याय सहने के लिए उद्यत नहीं है। उसके साथ जो कुछ भी हुआ है वह "गई गिरा मति फेर" द्वारा नहीं मानव मन की स्वाभाविक प्रतिक्रिया द्वारा हुआ है—

> 'जान कर अबला, अपना जाल-दिया है उस सरला पर डाल ?
> किन्तु हा ! यह कैसा सारल्य ? सालता है जो बन कर शल्य;
> भरत से सुत पर भी संदेह; बुलाया तक न उसे जो गेह !'

वीर लोग भाग्य के अधीन नहीं रहते, स्वयं भाग्य को अपने अधीन रखते हैं—

> 'भाग्य वश रहते हैं बस दीन, वीर रखते हैं उसे अधीन !'

इसी क्षोभ से वह विचलित हो जाती है और भूमि पर पैर पटक-पटक कर अपना वैर प्रकट करने लगती है।

लक्ष्मण क्रुद्ध होते हैं, इसका भी मानवीय कारण है। वे विमाता के प्रति अपना रोष प्रकट करते हैं। अपने स्वत्वों पर दूसरों का अधिकार होते देख कोई मनुष्य चुपचाप नहीं रहेगा। जब कैकेयी ने कह दिया कि—

'भरत होता यहाँ तो मैं बताती।'

तो लक्ष्मण आपे से बाहर हो गए। भरत का ऐसी परिस्थिति में नाम लेना उनके लिए चेलेंज-सा था अतः लक्ष्मण कैकेयी को सब सहायकों के साथ ही नहीं भरत-शत्रुघ्न के साथ भी पार लगाने के लिए उद्यत हो उठे। यह स्पष्ट ही बुद्धिवादी प्रभाव है—

'अरे मातृत्व तू अब भी जताती ठसक किसको है भरत की बताती?
भरत को मार डालूँ और तुझको, नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको।
युधाजित आततायी को न छोड़ूँ, बहन के साथ भाई को न छोड़ूँ॥
बुलाले सब सहायक शीघ्र अपने, कि जिनके देखती है व्यर्थ सपने।'

इस विरोध का कारण है कुल परम्परा। राज्य किसी के देने से नहीं लिया जाता जो अपना है ही उसका माँगना क्या? हाँ यदि अनीति द्वारा दूसरे को दिया जाने लगे तो उसकी रक्षा करना धर्म है—

'भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें, पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें?
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा, मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा।'

अधिकार रक्षा का यही प्रश्न महाभारत युद्ध के मूल में भी था—

'अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है-
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।
इस तत्व पर ही कौरवों से पाण्डवों का रण हुआ,
जो भव्य भारत वर्ष के कल्पांत का कारण हुआ!'

(जयद्रथ वध)

'साकेत' का एक-एक पात्र अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट है क्योंकि आधुनिक युग का मनुष्य अपने अधिकारों की रक्षा पहले चाहता है। सुमित्रा ने तो स्पष्ट ही कह दिया है वीर न तो दूसरों का भाग लेते हैं, न अपना देते हैं।

उर्मिला, सीता आदि की वाक्-पटुता भी आधुनिक युग से प्रभावित है। तर्क देना, कारण देकर कार्य कराना, बुद्धिवाद की प्रधानता है। उर्मिला प्रेम में भी हार स्वीकार नहीं करती। पहले पूछती है—

'...अजी तुम जग गए, स्वप्न निधि से नयन कब से लग गए?'

तो दास होने का बहाना उसे अच्छा नहीं लगता। लक्ष्मण ने कहा—

'धन्य जो इस योग्यता के पास है, किंतु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ!'

उर्मिला तुरन्त उत्तर देती है—

'दास बनने का बहाना किस लिए, क्या मुझे दासी कहाना इसलिए?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो, और देवी ही मुझे रक्खो अहो।'

सीता कौशल्या से बात करती है फिर अष्टम सर्ग के आरम्भ में राम से हास-परिहास करती है। गीत गाने की प्रवृत्ति आधुनिक है। सीता वृक्ष सींचने का काम करती हुई गुनगुनाती रहती है। कभी तितली को सम्बोधन करती है, कभी राज हंसिनी को। राम उससे विश्राम लेने को कहते हैं तो सीता की कमना है—

'तुम माया मय हो तदपि बड़े भोले हो,
हँसने में भी तो झूठ नहीं बोले हो।
हो सचमुच क्या आनन्द छिपूँ मैं वन में,
तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन में!'

सीता फूल तक से क्षमा चाहती है—

'यह संग दोप है और कहूँ क्या तुम से,
मैं क्षमा प्रार्थिनी आज अवश्य कुसुम से!'

यह आधुनिक प्रभाव है।

(२) पात्रों का नवीन रूप—आज के युग में मनुष्य का सहायक मनुष्य ही होना चाहिये। राम की सहायता के लिए 'साकेत' में मनुष्य ही आते हैं जिन्हें सभ्य बना लिया गया है। आज निराधार व असम्भव बातों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। हनूमान भी अपने को बन्दर कहने में संकोच का अनुभव करते हैं—

'आगे ऋष्यमूक पर्वत पर वानर ही कहिए, हम थे।
विपम प्रकृति वाले होकर भी आकृति मे नर के सम थे!'

स्वयं गुप्त जी ने सप्तम-सर्ग में इन दक्षिण-वासियों को मनुष्य ही माना है। खरदूषण आदि राक्षस भी दस्युराज के रूप में लिए गए हैं पात्रों का सभाव्य रूप ही लिया गया है।

दो घटनाएँ अवश्य ऐसी थीं जिनसे पाठकों का विरोध हो सकता था—वशिष्ठ का अयोध्या वासियों को घर बैठे-बैठे ही रणक्षेत्र का दर्शन करा देना तथा हनूमान का उड़ जाना।

१. 'खींच कर श्वास आस-पास से प्रयास बिना,
सीधा उठ शूर हुआ तिरछा गगन में' ...।'
और— 'तुमने सागर ही नहीं, किया गगन भी पार।'
२. मंत्र-यष्टि सी जहाँ उन्होंने भुजा उठाई,
दूर दृष्टि-सी एक साथ ही सबने पाई।
देखा, सम्मुख दृश्य आप ही खिंच आया है,
अंधकार मे उदित स्वप्न की सी माया है' !'

किन्तु ये घटनाएँ असम्भव नहीं हैं। मन्त्र सिद्धि से ऐसा हो सकता है। आज का युग इन्हें असत्य नहीं कह सकता क्योंकि अनेक प्रमाण इनकी पुष्टि के मिलते जा रहे है—

'थे योग बल से वश हमारे नित्य पाँचों तत्व भी,
मर्तयत्व में वह शक्ति थी रखता न जो अमरत्व भी' ''।
हाँ वह मनः साक्षित्व विद्या की विलक्षण साधना,
रह मेस्मरेजिम की महत्ता प्रेत चक्राराधना।
आश्चर्य कारक और भी वे आधुनिक बहु वृद्धियाँ,
कहना वृथा है, हैं हमारे योग की लघु सिद्धियाँ।'
(भारत भारती)

इसी प्रकार पुष्पक विमान का आना भी अनुकूल है।

माण्डवी श्रुतकीर्ति आदि पात्रों की उद्भावना आधुनिक दृष्टि से अनुकूल है। दोनों का आर्य नारीत्व, पति सेवा, एकादश सर्ग में व्यजित हैं। वर्तमान युग भगवान के अवतार पर एकाएक विश्वास नहीं करता। गुप्तजी ने राम का भी मानव रूप लिया है। वे आदर्श मानव ही हैं। बात यह है कि ईश्वरत्व का भाव उत्पन्न होने पर हम उसे अति मानवीय समझ लेते हैं जो आकर्षक तो होता है लेकिन अनुकरणीय नहीं होता। वे तो ईश्वर हैं। हम मनुष्य हैं हम उन जैसे कार्य किस तरह कर सकते हैं? यह भावना उत्पन्न हो जाती है जबकि आदर्श मानव रूप हमारी सभावित सीमा के भीतर रहता है। हम सोचते है उन्होंने जो किया, कुछ साधनाओं के उपरान्त हम भी कर सकते हैं। गुप्त जी के राम आधुनिक हैं। वे अपौरुपेय नहीं हैं—आदर्श चरित्र हैं। वे पृथ्वी को महत्व देते हैं, स्वर्ग का सन्देश देने नहीं आए हैं, मनुष्य को ईश्वर बनाने आये हैं—

'नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
सदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।'

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रक्षा का अधिकार है—शासन सत्ता को सबकी सुविधा का ध्यान रखना चाहिये जनहित के सम्मुख धनहित सदैव तुच्छ है—

'निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को.... ।
सुख शांति हेतु मैं क्रांति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया ॥'

राम में आदर्श मानवत्व की स्थापना बिल्कुल आधुनिक दृष्टि के अनुकूल है। गुप्त जी ने ऐसे राम का स्वरूप प्रस्तुत किया है जो आज के युग में भी उपादेय हो सकता है। यही राम की आधुनिकता है।

राम में भी तर्क बुद्धि प्रधान है। लक्ष्मण को समझाते हैं—

'रहो सौमित्रि! तुम क्या कह रहे हो?
सँभाले वेग देखो बह रहे हो।'

मनुष्य को आवेश में अपनत्व नहीं भूल जाना चाहिये। बड़े प्रेम से तर्क देते हैं—

'तुम्हीं को तात यदि वनवास देते, उन्हें तो क्या तुम्हीं यों त्रास देते?....
उन्हीं-कुल केतु के हम पुत्र होकर, करें राजत्व क्या वह धर्म खोकर?'

बड़ों की बात अविचारणीय होती है। तात-ऋण चुकाना पड़ता है। मनुष्य को अपने मन पर शासन करना चाहिए। इस तर्क से लक्ष्मण समझ गए, क्रोध भूल गए—

'मिटा सौमित्र का वह कोप सारा, उमड़ आई अचानक अश्रु-धारा।
पदाब्जों पर पड़े वे आप जब तक-किया प्रभु ने उन्हें भुजबद्ध तब तक!'

राम की इस तार्किक बुद्धि का परिचय चित्रकूट प्रसंग में जाबालि से उत्तर-प्रत्युत्तर देते समय भी होता है। उन्हीं के शब्द देखिये—

'हे राम, त्याग की वस्तु नहीं वह ऐसी!'
'पर मुने, भोग की भी न समझिए वैसी।'
'हे तरुण, तुम्हें संकोच और भय किसका?'
'हे जरठ, नहीं इस समय आपको जिसका!'
'पशु-पक्षी तक हे वीर स्वार्थ-लक्षी हैं।'
'हे धीर, किंतु मैं पशु न आप पक्षी हैं॥'
'मत की स्वतंत्रता विशेषता आर्यों की।
निज मत के ही अनुसार क्रिया कार्यों की॥

हे वत्स विफल परलोक दृष्टि निज रोको।
पर यही लोक है तात आप अवलोको!'

यह सवाद पढ़ते समय ऐसा लगता है पहले से तैयार कर लिया गया हो और दो पात्र राम-जावालि का रूप धारण कर खटाखट बोलते जा रहे हों। उक्ति किसी की कम नहीं! अन्त में राम की तार्किक बुद्धि के सामने जरठ जावालि को भी चुप हो जाना पड़ा। यह प्रवृत्ति आधुनिकता से प्रभावित है।

(३) मनोवैज्ञानिकता—पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण केवल 'साकेत' में ही नहीं गुप्त जी की अन्य रचनाओं में भी मिलता है। मनुष्य न तो देवता होता है न राक्षस। वह मनुष्य इसलिए है कि उसमें अच्छी बुरी दोनों प्रवृत्तियाँ होती हैं। प्राचीन काल के काव्यों में इन प्रवृत्तियों का सघर्ष कम दिखाया गया है क्योंकि वहाँ सघर्ष की प्रधानता न समाज में थी न काव्य में। ठीक भी था। समाज आदर्श रूप था—काव्य भी! किन्तु आज मनुष्य द्वन्द्वात्मक जगत में रहता है, उसकी सत्-असत् प्रवृत्तियों का निरन्तर सघर्ष होता है। अतः साहित्य में भी युग के अनुकूल इस सघर्ष का विधान करना पड़ा। तभी वह साहित्य युग के लिए उपादेय हो सकता था। Hamlet का अन्तर्द्वन्द्व—"To be or not to be that is the question" तो प्रसिद्ध है ही। Paradise lost Divine comeby आदि में भी यही भाव सघर्ष पात्रों का चरित्र उभारता है तो इस सघर्ष को लेखक चरित्र-चित्रण का माध्यम बनाने लगे। यह आधुनिक युग के काव्यों में ही नहीं—उपन्यास, कहानी सब में मिल जायगा। विक्टर ह्यूगो का प्रसिद्ध उपन्यास le Miserable ही ले लीजिये। उसमें Jean valjean का चरित्र आदि से अन्त तक भावों के अतद्वन्द्व पर ही आधारित है। उसका सार यही निकलता है—"The world is full of darkness and sin is Comunitted. But the quilty person's not that who Comunits the sin but that who produces the darkness."×

'साकेत में भी इस मनोविश्लेषण का प्रभाव है। मैं आरम्भ में दशरथ कैकेयी का अन्तर्द्वन्द्व तथा निश्चय स्पष्ट कर चुका हूँ। जितनी गहरी चोट होती है उतनी ही गहरी प्रतिक्रिया भी। डा० सत्येन्द्र ने तो कैकेयी की मातृत्व की भावना की तुलना बर्नार्डशा के एक नारी रूप मे की है जिसमें कहा गया है—

"Women are like lionesses preying upon menkind and that for fulfilling the purpose of Nature She makes man

---

× Les Misrable :—Victor Hugo.

with his own destruction to fulfil her purpose, and that purpose is neither her happiness nor yours, but Nature's Vitahly in a woman is a blind fury creation."

डा० साहब ने लिखा है—

"कैकेयी में ऐसी मातृत्व भावना का कुछ-कुछ आभास मिलता है। स्त्री प्रकृति की क्रिया मात्र होने के कारण पुत्र पर ही सारा ध्यान लगा देती है। पुरुष उसके लिए उसी प्रकार निमित्त है जिस प्रकार वह स्वय है। कैकेयी ने दशरथ और उनकी पीड़ा की चिन्ता न की। विश्व पीड़ा का उसे भय न था, उसका सारा प्रयत्न और सारा उद्योग एक भरत में केन्द्रित था। इसीलिए जब उसे यह आशंका हुई कि दशरथ ने भरत पर सन्देह किया है तो उसकी मातृ-भावना और वत्सल-स्नेह चीत्कार कर उठा।"❀

दूसरे रूप में मनोवैज्ञानिकता का परिचय चित्रकूट प्रसग में मिलता है। जब किसी बात को सुन कर लोग मुग्ध होते हैं तो नेताओं द्वारा नारे लगाने पर स्वयं भी चिल्लाने लगते हैं। कैकेयी जब मातृ हृदय का स्पष्टीकरण कर चुकी तो सब को उससे सहानुभूति हो गई।

'निज जन्म जन्म में सुनें जीव यह मेरा—
धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा!'

कह कर कैकेयी के आँसू धुल गए। उसकी आत्म-ग्लानि ने सबको प्रभावित कर लिया। जब राम ने कहा—

'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई!'

तो उन्हीं के साथ मंत्र मुग्ध जैसी सारी सभा चिल्ला उठी—

'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई!'

४. पीठिका देना :—'साकेत' में जो भी घटना हुई है या पात्रों ने जो कुछ भी कहा है वह एकाएक नहीं होता—क्रमशः विकसित हुआ है। गुप्त जी पहले से ही उपयुक्त पीठिका देते चले हैं। द्वादश सर्ग में जब शत्रुघ्न ने सैन्य सन्नद्ध करने का निश्चय किया है वहाँ भी प्रकृति चित्रण द्वारा एक विस्तृत पीठिका की गई है—इसकी अनुभूति कराने के लिए कि तैयार होने के पूर्व रात्रि में अयोध्या नगरी की क्या स्थिति थी—

❀ डा० सत्येन्द्र

'नगरी भी निस्तब्ध पड़ी क्षणदा छाया में,
भुला रहे थे स्वप्न हमें अपनी माया में।
जीवन मरण समल भाव से जूझ जूझ कर,
ठहरे पिछले पहर स्वयं थे समझ बूझ कर।
पुरी पार्श्व मे पड़ी हुई थी सरयू ऐसी,
स्वयं उसी के तीर हंस माला थी जैसी।
बहता जाता नीर और बहता आता था,
गोद भरी की भरी तीर अपनी पाता था।'

घटनाओं के लिए यह विस्तृत पृष्ठभूमि तैयार करना भी आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार है।

५. सामयिक प्रभाव :—गांधी वाद का, सत्याग्रह आंदोलन का, प्रेम-अहिंसा के पाठ का वर्णन भी 'साकेत' में मिलता है। सत्य का उल्लेख तो सभी पात्र करते हैं—

(१) दशरथ—
'सत्य से ही स्थिर है संसार, सत्य ही सब धर्मों का सार;
राज्य ही नहीं प्राण-परिवार, सत्य पर सकता हूँ सब वार।'

(२) वशिष्ठ—
'वत्स देखो तुम पिता की ओर, सत्य भी शव-सा अकम्प कठोर।'

(३) भरत—
'सत्य सदा शिव होने पर भी, विरूपाक्ष भी होता है!'

जब राम चलने लगते हैं तो नागरिक "लोकमत" की दुहाई देकर उन्हें रोकना चाहते हैं। यह "लोकमत" पूर्णतः गांधीवादी देन है। राजा का चुना जाना भी प्रजा के लिए राज्य का होना सिद्ध करता है—

'बोल उठे जन-'भद्र न ऐसा तुम कहो,
देते हैं हम उन्हें विदा ही कब अहो!
राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना,
करो न यों तुम हाय लोकमत अनसुना।'

यह Public opinion बीसवीं सदी की बात है। १९३० में जब गांधी जी का सत्याग्रह आंदोलन चल रहा था तो सैकड़ों नेता दनादन "भारत माता की जै"—कह कर जेल जा रहे थे। भीड़ उन्हें माला पहनाती थी और दूर तक साथ देती थी। जब सरकारी पुलिस नेता को मोटर पर बैठाने लगती थी तो प्राय: लोग उसके सामने लेट जाते थे। यह आंदोलन 'साकेत' में पूरा प्रभाव

छोड़ गया है ! जब राम चलने ही लगे—वह भी अकेले नहीं—तीन तीन—तो लोग लेट ही गए :—

'जाओ, यदि जा सको रौंद हमको यहाँ—
यों कह पथ में लेट गए वहु जन वहाँ !'

'प्रिय प्रवास' में भी कृष्ण के जाते समय हरिऔध ने लिखा है—

सोए पथ में चपल रथ के सामने आ अनेकों !'

जब प्रजा नहीं मानी तो राम ने समझाना आरंभ किया—

'उठो प्रजा जन उठो, तजो यह मोह तुम,
करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम ?
तुमसे प्यारा कौन मुझे ? कातर न हो,
मैं अपना भी त्याग करूँ तुम पर कहो ?
सोचो तुम संबंध हमारा नित्य का,
जब से भव में उदय आदि आदित्य का.... ।'

यह "विनत विद्रोह"—Civil Disobedience और राम का भाषण गाँधीयुग की देन है। वे न तो स्वय धर्म पथ से विचलित होना चाहते हैं, न जनता को ही होने देते हैं—

'मैं स्वधर्म से विमुख नहीं हूँगा कभी,
इसीलिए तुम मुझे चाहते हो सभी।
पर मेरा यह विरह विशेष विलोक कर,
करो न अनुचित कर्म धर्म पथ रोक कर।
होते मेरे ठौर तुम्हीं हे आग्रही,
तो क्या तुम भी आज नहीं करते यही ?'

राम का धर्म पालन क्या है ! दक्षिण में शान्ति स्थापित कर आर्य संस्कृति की प्रतिष्ठा करना और सन् ३० में काँग्रेसी नेताओं का आदर्श क्या था ! भारत को स्वराज्य दिलाना ! दोनों एक से कार्य हैं। 'साकेत' में तो खादी, चरखा तक आ गए हैं—

'आओ हम कातें बुनें ज्ञान की लय में !'

इससे स्पष्ट प्रमाण आधुनिक युग के प्रभाव का क्या हो सकता है ! तुलसी या केशवदास के रामचन्द्र ने ऐसी स्थिति का स्वप्न भी नहीं देखा होगा !

यह तो गाँधीवाद के सत्य और आन्दोलन की चर्चा हुई। गाँधी की एक कल्पना और थी रामराज्य। 'साकेत' के आरम्भ में तो रामराज्य चा-युग है ही, अन्त में धरा-धाम भी उसी की जय गाने लगते हैं !

(१) 'असुर-शासन शिशिर-मय हेमन्त है,
पर निकट ही राम राज्य वसत है।' (प्रथम सर्ग)

(२) 'धरा धाम को राम राज्य की जय गाने दो,
लाता है जो समय प्रेम पूर्वक, लाने दो।' (द्वादश सर्ग)

६ राष्ट्रीयता.—राष्ट्रीयता भी सामयिक प्रभाव ही है। गाँधीवाद के अन्तर्गत तो इसे नहीं लिया जा सकता, हाँ गाँधीवादी आन्दोलन का यह एक पक्ष जरूर था। गुप्त जी ने राम-रावण के युद्ध को ही राष्ट्रीय रूप में दिया है। सीता को भारत लक्ष्मी के रूप में देखा है जो सिंधु पार बन्दीखाने में आँसू बहा रही है।

'राक्षसियों से घिरी हमारी देवी सीता—
बंदीगृह मे बाट जोहती हुई खड़ी है।
व्याध जाल मे राज हंसिनी पड़ी हुई है।'

"साका-साका" की चेतना से सब नागरिक उद्बुद्ध होकर सन्नद्ध होने लगते हैं। भारतवर्ष अभी निर्वीर्य नहीं हो गया है—

'भरत खण्ड के पुरुष अभी मर नहीं गए हैं,
कट उनके वे कोटि कोटि कर नहीं गए हैं।
रोना धोना छोड़ उठो सब मंगल गाओ,
जाते हैं हम विजय हेतु, तुम दर्प जगाओ।
रामचन्द्र के संग गए हैं लक्ष्मण वन में,
भरत जाँय, शत्रुघ्न रहे क्या आज भवन मे.....!'

साकेत केवल साकेत ही नहीं रह गया है, सारे भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व करने वाला विशाल नगर हो गया है। अयोध्या निवासी भारतवर्ष के निवासी हैं उनको भारतवर्ष के मान की चिन्ता है। जिस 'मध्यदेश' से आर्यों ने दिग्विजय आरम्भ की थी, वही क्या आज शत्रु के सम्मुख सिर झुका दे?

'चढ़ कर उतर न जाय, सुनो कुल-मौक्तिक मानी,
गंगा यमुना सिंधु और सरयू का पानी ।
यदि, परन्तु कुल-कान तुम्हारी हो संकट मे,
तो अपने ये प्राण व्यर्थ ही है इस घट मे .... ।
पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अर्थ ही दण्ड और इति दया-तितिक्षा!'

गाँधीवाद का एक और सिद्धान्त है मनुष्य मनुष्य से प्रेम करना। आत्म-सहिष्णु होना, दूसरे के हेतु त्याग करना चाहे हमें कितना ही कष्ट हो। आत्म

संतोष, आत्म पीड़ा सबसे बड़ी वस्तु है। साथ ही दूसरे की निरन्तर सेवा करनी चाहिए। 'साकेत' में इनकी अभिव्यक्ति भी हुई है। सेवा की प्यास तो प्रत्येक पात्र में है!

(१) 'इधर मैं दास लक्ष्मण हूँ तुम्हारा।' —लक्ष्मण
(२) 'मेरी यही महामति है—पति ही पत्नी की गति है!' —सीता
(३) 'सड़ जाय पड़ी यह इसी उटज के आगे,
मिल जाँय तुम्हीं में प्राण, आर्त अनुरागे।' —भरत
(४) 'अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी,
मैं शासन की नहीं आज सेवा की प्यासी।' —उर्मिला
(५) 'गौरव क्या है, जन भार वहन करना ही—
सुख क्या है, बढ़ कर दुःख सहन करना ही।' —राम

इस प्रकार 'साकेत' आद्योपात गांधीवादी सिद्धान्तों से प्रभावित है। मैं तो 'साकेत' को गाँधीवाद का साहित्यिक प्रतिष्ठापक कहने में भी कोई हानि नहीं समझता।

७. नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण :—'साकेत' के नारी पात्र शिक्षित, कला-पूर्ण, वीर तथा अपना कर्त्तव्य समझने वाले हैं। वे कर्म क्षेत्र में हटने वाली नहीं हैं। गुप्त जी ने नारी को पुरुष का पूर्ण सहयोगी माना है। 'भारत-भारती' में भी इस ओर सकेत किया था कि समाज की उन्नति विना स्त्रियों की उन्नति के सम्भव नहीं। 'यशोधरा' 'सिद्धराज' में भी यही उदात्त रूप मिलता है—

'क्या कर नहीं सकतीं भला यदि शिक्षिता हों नारियाँ?
रण-रंग, राज्य, सुधर्म रक्षा, कर चुकीं सुकुमारियाँ।
लक्ष्मी, अहल्या, बायजाबाई, भवानी, पद्मिनी—
ऐसी अनेकों देवियाँ हैं आज जा सकती गिनी;'
(भारत भारती)

नारी के प्रति यह उच्च दृष्टिकोण आधुनिक है। 'साकेत' की सीता वन का प्रसंग आने पर घबड़ाती नहीं है। राम ने कष्टों का वर्णन किया—

'आतप, वर्षा, हिम अहना, बाघ भालुओं में रहना।
अवलाओं का काम नहीं, वन में जन का नाम नहीं॥
खान पान सब कुछ खोना, निशि मे भी दुर्लभ सोना।
यही नहीं, वनचर होना, रोने से भी मुँह धोना!'

किंतु सीता उत्तर देती है—

'यदि अपना आत्मिक बल है, जंगल में भी मंगल है?'

प्रिय के सुख दुःख का भाग उसका भी है। वह भिन्न कहाँ है! सुख में साथ रहना, दुःख में छोड़ देना क्या आर्य नारी की मर्यादा है! वे जो गौरव लेकर वनवास स्वीकार करते हैं, आधा भाग उसका भी है। वह भी सबके हित-हेतु सघन गहन में भी व्रत नियमों का पालन कर मंगल कामना करेगी। अतः

'नाथ! न भय दो तुम हमको, जीत चुकी हैं हम मम को।
सतियों को पति संग कहीं—अगम गहन क्या दहन नहीं!'

सुमित्रा भी डट कर परिस्थिति का सामना करने को तैयार है—

'राघव शांत रहोगे तुम? क्या अन्याय सहोगे तुम?
मैं न सहूँगी लक्ष्मण! तू। नीरव क्यों है इस क्षण तू?

आधुनिक युग की नारी पुरुष जाति पर भार स्वरूप नहीं है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसके बराबर चलने को तैयार है—चल रही है। पुरुष के कंधे से कंधा भिड़ा कर चलती है। प्रत्येक क्षेत्र में उसका सहयोग है। वह आज युद्ध क्षेत्र में भी लड़ती है। 'साकेत' की उर्मिला भी शिक्षित है चित्रकार है जिसका उल्लेख दो बार कराया गया है और चित्र की श्रेष्ठता भी वहीं पर व्यक्त है—

(१) 'और लाकर चित्रपट सम्मुख किया,
चित्र भी था चित्र और विचित्र भी।
रह गए चित्रस्थ से सौमित्र भी,
देख भाव-प्रवणता, वर वर्णता।
वाक्य सुनने को हुई उत्कर्णता।' (प्रथम सर्ग)

(२) 'लाना, लाना, सखि तूली,
आँखों में छवि भूली।
आ, अंकित कर उसे दिखाऊँ,
इस चिंता से निष्कृति पाऊँ।
डरती हूँ फिर भूल न जाऊँ,
मैं हूँ भूली भूली!' (नवम सर्ग)

वार्तालाप पटुता भी बहुत कुछ आधुनिकता से प्रभावित है। सीता का गीत गाना उसकी व्यक्तिगत विशेषता पर प्रकाश डालता है—

'आओ कलापि, निज चन्द्रकला दिखलाओ,
कुछ मुझसे सीखो और मुझे सिखलाओ।
गाओ पिक, मैं अनुकरण करूँ, तुम गाओ,
स्वर खींच तनिक यों उसे घुमाते जाओ।

शुक पढ़ो-मधुर फल प्रथम तुम्हीं ने खाया,
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया !'

माण्डवी श्रुत कीर्ति का व्यक्तिगत पक्ष भी चित्रित है जिससे वीरत्व भावना का परिचय देता है। श्रुत कीर्ति अपने पति शत्रुघ्न को युद्ध के लिए प्रेरित करती है—

'जिनसे दुगुना, हुआ यहाँ वह भाग हमारा,
हम दोनों की मिले उन्हीं में जीवन,धारा !'

उधर माण्डवी की दिन चर्या का एक भाग यह था—

'हाथ बढ़ा कर रक्खा उसने पादपीठ के सम्मुख भाल।
टेका फिर घुटनों के बल हो द्वार-देहली पर निज भाल॥
टपक पड़ीं उसकी आँखों से बड़ी बड़ी बूँदें दो चार,
दूनी दमक उठी रत्नों की किरणें उनमें डुबकी मार !
यही नित्य का क्रम था उसका, राज भवन से आती थी;
स्वश्रू - शुश्रूषिणी अन्त में पति-दर्शन कर जाती थी !'

'साकेत' की नारियाँ युद्ध स्थल में भी उपस्थित रहती हैं—

'मैं निज पति के संग गई थी असुर-समर में,
जाऊँगी अब पुत्र संग भी अरि-समर में !'

तब उनके पति ही समझाते हैं—

'घर बैठो तुम देवि हेम की लंका कितनी,
उतनी भी तो नहीं धूल मुट्ठी भर जितनी !'

और भरत के सेना सजाने पर कहती हैं—

'पुरुष वेश में साथ चलूँगी मैं भी प्यारे,
राम जानकी संग गए हम क्यों हों न्यारे ?'

उर्मिला भी विरह विदग्धता के साथ रणचण्डी का रूप धारण कर त्रिशूल चमचमाती हुई प्रस्तुत होती है, निवासियों को उत्साहित करती है और स्वयं नेतृत्व करने के लिए तैयार हो जाती है—

'मातृ भूमि का मान ध्यान मे रहे तुम्हारे,
लक्ष लक्ष भी एक लक्ष रक्खो तुम सारे।

× × × ×

देखो निकली पूर्व दिशा से अपनी ऊषा,
यही हमारी प्रकृति पताका, भव की भूषा।

ठहरो, यह मैं चलूँ कीर्ति सी आगे आगे,
भोगें अपने विषम कर्म फल अधम अभागे !'

सत्याग्रह के समय भी असंख्य नारियां जन नेतृत्व कर रही थीं। देशभक्ति, मातृभूमि को सबसे श्रेष्ठ समझना, उसके लिए प्राणोत्सर्ग करने तक को उद्यत हो जाना आधुनिक प्रभाव है। गुप्त जी की अन्य रचनाओं में भी वीर पात्रों ने ऐसे उद्‌गार व्यक्त किए हैं—

'जीवन मरण दोनों एक से हैं वीरों को,
अब भी स्वतंत्र है अवंती निज शक्ति से।
मेरी यह जन्म भूमि जननी जगत में,
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही॥
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की।
पंचतत्व मेरी पुराय भूमि के हैं मुझ में,
कहला रहे हैं यही मुझ से पुकार के—
हम परतन्त्र नहीं, सर्वथा स्वतन्त्र हैं !' (सिद्धराज)

जगद्देव की इस आत्मा में स्वाधीन भारत की पुकार भरी हुई है।

८ मर्यादित श्रृंगार वर्णन :—वर्तमान युग में श्रृंगार वर्णन अत्यन्त कुशलता पूर्वक सीमा के भीतर किया जाता है। अनौचित्य कोई नहीं चाहता क्योंकि मनुष्य की भावनाएँ उदात्त हो गई हैं। सरलता, विनय, तरलता और स्वाभाविक श्रृंगार वर्णन की ओर रुचि अधिक है। गुप्त जी की इस संबंध में मैं एक विशेषता बतला चुका हूँ। उन्होंने पुरुष के शरीर सौन्दर्य का अंग-प्रत्यंग की गठन का वर्णन तो सूक्ष्मता व विस्तार से किया है लेकिन स्त्री-सौंदर्य के मानसिक पक्ष को अधिक प्रधानता दी है। उसके गुण-सौंदर्य का वर्णन प्रधानतः किया है।

"साकेत' में गुण सौंदर्य के साथ जहाँ उर्मिला या सीता के चित्रण में कल्पना से काम लिया है वह अत्यन्त मनोहारी रूप सामने रखता है। संयोग में न तो वर्रं की कमर से उसकी कमर की तुलना की गई है ('तेहि ते अधिक लंक वह खीनी"—जायसी) और न वियोग में रक्त के आँसू ही बहाए गए हैं। जादू के प्रभाव से न तो यहाँ गुलाब जल की शीशी खाली होती है, न एक साँस के साथ उर्मिला छः सात कदम आगे ही बढ जाती है। घड़ी के पैण्डुलम जैसी उसकी हालत कभी नहीं होती। शारीरिक सौंदर्य वर्णन भी मर्यादित है। उर्मिला को लीजिए—

'प्रेम पूरित सरस कोमल चित्त से,
तुल्यता की जा सके किस वित्त से?
शाण पर सब अंग मानो चढ़ चुके,
प्राण फिर उनमें पड़ें जब, गढ़ चुके।
झलकता आता अभी तारुण्य है—

वही जब पति वियोग में होती है तब भी कवि का वर्णन यह है—

'मुख कांति पड़ी पीली पीली, आँखें अशांत नीली नीली।
कुम्हलाई यथा कैखाली, या अस्त चन्द्र की उजियाली।
क्या हाय! नहीं वह कृश काया, या उसकी शेषसूक्ष्म छाया?'

कहीं भी अनौचित्य, हास्यास्पद वर्णन नहीं है। पाठक के मन में मधुर उदात्त भावनाओं की सृष्टि करता है। हृदय की भावनाएँ व्यापक हो जाती हैं।

सीता का सौंदर्य वर्णन लीजिए। गोल गोरी बाहों का वर्णन किया है, केश-कलाप और कपोलों का वर्णन किया है, अधर तथा दन्त-पंक्ति का सौंदर्य निखार दिया है लेकिन उरोज वर्णन को कवि कौशल से बचा गए हैं—

'भाग सुहाग पक्ष में थे, अंचल बद्ध कक्ष में थे!'

जहाँ वर्णन किया भी है वहाँ मातृत्व झलक आया है—

'अंचल पट कटि में खोंस कछौटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे!
अंकुर हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जन मातृ गर्वमय कुशल वदन भव-भावन!'

चेष्टाओं-हावों का विधान 'साकेत' में मिल तो जायगा किन्तु कवि की दृष्टि उधर है नहीं। राम के परम भक्त को प्रत्येक क्षेत्र में मर्यादा का ध्यान रखना ही पड़ता है। 'सिद्धराज' 'यशोधरा' में भी शृङ्गार वर्णन अत्यन्त मर्यादित है। प्रथम परिचय में रूप सौंदर्य से जो प्रभाव पड़ जाता है उसका उल्लेख 'सिद्धराज' में मिलेगा। किन्तु वह भी मर्यादित है—कांचनदे का एक चित्र देखिए—

'संकुचित होके कहाँ जाती राज नंदिनी?
बंदी के समक्ष स्वयं बंदिनी सी हो उठी!
आ के जड़ता ने उसे जकड़ लिया वहीं,
स्तम्भ वह भी था अवलंब लिया जिसका!

हो गए अचल एक पल को पलक भी,
किंतु वह रूप भार अब तक भिलता।
आहा! दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई!'

किन्तु वह लम्बी लम्बी उसासें लेकर शय्या पर नहीं लेटती। परिचारिका को पखा झलने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

'साकेत की उर्मिला भी प्रथम-दर्शन म लक्ष्मण को देख कर मुग्ध होती है तो अपने आँचल का छोर बटने लगती है

'तिरछी यह दृष्टि हो उठी, तकसी सी सब सृष्टि हो चुकी।
× × × ×
सुन देख हुई विभोर मैं, बटती थी परिधान छोर मैं!'

इस वर्णन में सामा का उल्लघन कहीं नहीं मिलेगा। यह भी आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल है।

(६) कला का उद्देश्य—* आधुनिक युग में यह भी प्रश्न उठा है कि साहित्य या कला का उद्देश्य क्या होना चाहिये। कला केवल कला के लिये है या उसका कोई और ध्येय भी है? गुप्त जी आरम्भ से कला को लोक-हितार्थ मानते है—

'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमे उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।
क्यों आज 'रामचरितमानस' सब कहीं सम्मान्य है?
सत्काव्य-युत उसमे परम आदर्श का प्राधान्य है!'

(भारत भारती)

'साकेत' में गुप्त जी ने इस विषय की खुल कर चर्चा की है। यथार्थ आदर्श की व्याख्या आधुनिक है। जो वस्तुत: हमारे सम्मुख हो ही रहा है उसे कवि ने भी कह दिया तो कौन सा काम किया—

'हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा।
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा?'

कला वस्तुत: है क्या? हमारे जीवन में जिसका अभाव है, कला उसकी पूर्ति करती है—

'यह तुम्हारी भावना की स्फूर्ति है, जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है!'

---

*विशेष देखिए प्रथम भाग अध्याय ६—'काव्य कला का उद्देश्य'

चूँकि हम कल्पना द्वारा अपनी पूर्णताओं को पूरा करना चाहते हैं अतः हमारी दृष्टि भविष्य पर अवश्य रहेगी अर्थात् आदर्श को हम नहीं छोड़ सकते। आदर्श ही वह दृष्टि-विन्दु है जहाँ तक हमें स्वय समाज के साथ साथ बढना है तो कला का मूल उद्देश्य इसी आदर्श को मानव जीवन में व्यक्त करना है। जो उसका उद्देश्य यह मानते वे कला में स्वार्थ की भावना ले आते हैं जिससे वह व्यर्थ सी हो जाती है—

'किंतु होना चाहिए कब, क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ!'

और— 'मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही!'

जीवन में कला की उपयोगिता क्या है? माण्डवी के शब्दों में सुनिए—

'कहा माण्डवी ने—'उलूक भी लगता है चित्रस्थ भला।
सुन्दर को सजीव करती है, भीषण को निर्जीव कला!'

कला सुन्दर को सजीव करती है, कला भीषण को निर्जीव करती है और कला शव को शिव करती। यह उसकी उपादेयता है।

जीवन में आदर्श और यथार्थ का समन्वय होना चाहिए अतः कला को भी समन्वयात्मक होना चाहिए। आधुनिक युग के प्रत्येक लेखक ने इस पर जोर दिया है। रवीन्द्र ने कला को लोकोपकारक बताया, प्रसाद ने कला द्वारा जीवन में सामरस्य की प्रतिष्ठा की, 'हरिऔध' ने कला द्वारा अपने आदर्श व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत किए आज 'उत्तरा' में पन्त जी भी अध्यात्म की चर्चा करने लगे हैं। प्रेमचन्द का लक्ष्य क्या था? आदर्शोन्मुख यथार्थवाद! वे Zola के Realism पर विश्वास नहीं करते और न टालस्टाय के Idealism पर ही। कला में वर्णन दोनों का हो आदर्श की ओर यथार्थ को उन्मुख करने वाला हो। गुप्त जी भी सापेक्षता चाहते हैं। न तो कला विशुद्ध आदर्शात्मक हो कि इतनी काल्पनिक हो जाय, उसके पाँव ही धरती से उखड़ जाँय, न इतनी धरातली हो जाय कि अपनी दृष्टि शक्ति से आगे कुछ देख ही न सके।

'वह तुम्हारे और तुम उसके लिए, चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये!'

इस प्रकार गुप्त जी ने आधुनिक युग में उठते हुए विवाद को सुलझाने की चेष्टा भी 'साकेत' द्वारा की!

१०. शैली गत नवीनता :—काव्य-शैली की पद्धति में आधुनिकता है। इसका विस्तृत विवेचन तो बाद में होगा यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि वैयक्तिक भावना को प्रधानता देना, गीतों का विधान, भाषा की छायावादी

विशेषताएँ—लाक्षणिकता, अप्रस्तुत विधान, मूर्त-अमूर्तीकरण, प्रतीकात्मक पद्धति-सभी कुछ नवीन कविता के उपादान 'साकेत' में आ गए हैं। कवि स्वयं विवरण कम देता है, पात्रों के संवादों या संबोधनों द्वारा अपनी अनुभूति व्यंजित कराता है। इस प्रकार वर्तमान युग में प्रत्यक्ष वर्णन की अपेक्षा सांकेतिक अभिव्यक्ति प्रधान होती जा रही है। कहीं तो संवादों को इतना नाटकीय रूप दे दिया जाता है कि बीच के प्रसंग का तारतम्य पाठक को स्वयं बैठाना पड़ता है। एक उदाहरण नवम सर्ग से लीजिए। यहाँ किरण को संबोधन, उसके द्वारा अपनी स्थिति की व्यंजना कराई गई है—

'भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?
झाँक झरोखे से न लौट जा, गूँजे तुझ से तार जहाँ।
मेरी वीणा गीली गीली, आज हो रही ढीली ढीली।
लाल हरी तू पीली नीली, कोई राग न रंग यहाँ!
भूल पड़ी तू किरण कहाँ ?
शीत काल है और सवेरा, उछल रहा है मानस मेरा।
भरे न छींटों से तनु तेरा, रुदन जहाँ क्या गान वहाँ ?
भूल पड़ी तू किरण कहाँ ? आदि"

इस पद्धति में सभी कुछ आधुनिक है।

११. अन्य प्रसंग :—'साकेत' में आधुनिक प्रभाव स्पष्ट करने के प्रधान उदाहरण तो ऊपर दिए गए हैं अन्य स्थलों पर भी यह प्रभाव लक्षित होता है। उर्मिला बचपन में देवताओं पर टीका-टिप्पणी करती है तो परिवार वाले उसे नास्तिक कहते थे—

'अमरों पर देख टिप्पणी, कहतीं 'नास्तिक' खीझ माँमणी।
हँस मैं कहती—प्रसाद दो, तज दूँ तो यह नास्ति वाद दो।'

अंचल से धूल पोंछना, नहाकर कंघी से बाल सँवारना भी आज का प्रभाव है—'वह अंचल धूल पोंछते, कर कँघी धर बाल आँछते।'

नींद को बुलाना, बच्चों की तरह चन्द खिलौना देने की चर्चा की गई है। राम एक स्थान पर लक्ष्मण से पूछते हैं—

'किया है आज क्या कुछ पान लक्ष्मण ?'

इस प्रकार हमने देखा 'साकेत' पर आधुनिक दृष्टिकोण का प्रभाव है। प्राचीन-कथा पात्र होते हुए भी आज के मेल में रखने की चेष्टा हुई है। यही 'साकेत' की आधुनिकता है।

६—चरित्र चित्रण और कथोपकथन

'साकेत' में उद्देश्य की दृष्टि से उर्मिला का चरित्र प्रधान है। महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' शीर्षक जो लेख लिखा उसी का वस्तुतः 'साकेत' प्रत्युत्तर है। उन्होंने लिखा था—"बाल वियोगिनी देवी उर्मिला उसका चरित गेय एवं आलेख्य होने पर भी, कवि ने उसके साथ अन्याय किया। मुने! इस देवी की इतनी उपेक्षा क्यों? इस सर्व सुख वंचिता के विषय में इतना पक्षपात-कपिराय क्यों? हाय वाल्मीकि! जनकपुरी में तुम उर्मिला को सिर्फ एक बार वैवाहिक वधू-वेष में दिखाकर चुप हो बैठे। अयोध्या आने पर सुसराल में उसकी सुधि यदि आपको न आई तो न सही, पर क्या लक्ष्मण के वन-प्रयाण समय भी उसके दुःखाश्रु मोचन करना आपको उचित न जँचा? राम के राज्याभिषेक की जब तैयारियाँ हो रही थीं उस समय नवला उर्मिला कितनी खुशी मना रही थीं, सो क्या आपने नहीं देखा? अपने पति के परमाराध्य राम को राज्य सिंहासन पर असीन देख उर्मिला को कितना आनन्द होता—उसका अनुमान क्या आपने नहीं किया? हाय! वही उर्मिला एक घण्टे बाद राम-जानकी के साथ राज सदन की एक एकान्त कोठरी में भूमि पर लोटती हुई क्या आपको दृष्टि गोचर नहीं हुई? फिर भी उसके लिए "वचने दरिद्रता!" उर्मिला वैदेही की छोटी बहिन थी। सो उस बहिन का वियोग सहना पड़ा और प्राणाधार पति का भी वियोग सहना पड़ा। चलते समय लक्ष्मण को उसे एक बार आँख भर देख भी न लेने दिया। जिस दिन राम और लक्ष्मण सीता देवी के साथ चलने लगे उस दिन भी आपको उर्मिला की याद न आई। उसकी क्या दशा थी, वह कहाँ पड़ी थी, सो कुछ भी आपने न सोचा। इतनी उपेक्षा!······

"उर्मिला ने बड़ा आत्मोत्सर्ग किया उसने अपनी आत्मा की अपेक्षा भी अधिक प्यारा अपना पति राम जानकी को दे डाला और यह आत्म सुखोत्सर्ग उसने तब किया जब उसे ब्याह कर आए हुए कुछ ही समय हुआ था। उसने अपने सांसारिक सुख के सबसे अच्छे अंश से हाथ धो डाला। जो सुख विवाहो-

घर उसे मिलता उसकी बराबरी १४ वर्ष पति वियोग के बाद का सुख कभी नहीं कर सकता। उसी के लिये अन्तर्दर्शी आदि कवि के शब्द भण्डार में दरिद्रता!"

तो प्रेरणा उन्हें इस पत्र से मिली। जो जो अभाव निर्दिष्ट किए गए हैं उन पर गुप्त जी ने प्रकाश डाला है। यह 'साकेत' के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। फिर भी उर्मिला के चरित्र चित्रण में कवि की कुछ और विशेषताएँ हैं। नवम् सर्ग तो उनकी दृष्टि से आज भी अधूरा है। इसका सकेत गुप्त जी ने 'साकेत' के निवेदन में किया है—

"समर्थ सहायकों को पाकर भी अपने दोषों के लिये मैं उनकी ओट नहीं ले सकता। किसी की सहायता से लाभ उठा ले जाने में भी तो एक क्षमता चाहिए। अपने मन के अनुकूल होते हुए भी कोई कोई बात कह कर भी मैं नहीं कह सका। जैसे नवम सर्ग में उर्मिला का चित्रकूट सबधी यह सस्मरण—

'मॅझली मॉ से मिल गई क्षमा तुम्हें क्या नाथ ?
पीठ ठोक कर ही प्रिये, मानें मॉ के हाथ।'

परन्तु इसके साथ ऐसा भी प्रसग आया है कि मुझे स्वय अपने मन के प्रतिकूल उर्मिला का यह कथन लिखना पड़ा है—

'मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी।'

मन चाहा कि इसे यों कर दिया जाय—

'मेरे मानस के हंस, आज वनचारी।'

परन्तु इसे मेरे ब्रह्म ने स्वीकर नहीं किया। क्यों, मैं स्वय नहीं जानता।

उर्मिला के विरह वर्णन की विचार धारा में भी मैंने स्वच्छन्दता से काम लिया है।"

इस स्थिति में कवि की दृष्टि उर्मिला पर ही केन्द्रित रहनी चाहिए। यही किया भी है। 'रामचरित मानस' से वही स्थल चुने हैं जहाँ उर्मिला से सम्बन्ध स्थापित हो सके। 'साकेत' की कथा का आरम्भ ही उर्मिला से हुआ है—

'अरुण पट पहने हुए आह्लाद मे, कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं ? कांति की किरणें उजेला कर रहीं !'

षष्ठ सर्ग में उर्मिला का चिंताकुल दृश्य है, अष्टम सर्ग के अन्त में उसकी लक्ष्मण से भेंट का पुन• अवसर निकाला गया है। नवम सर्ग में विस्तारपूर्वक उसी की वियोगावस्था का चित्रण है, दशम सर्ग में पहली पंक्ति से लेकर अंतिम पंक्ति तक उसी का स्मृति चित्रण है। एकादश सर्ग में माण्डवी उसकी दशा का उल्लेख करती है, द्वादश सर्ग में पहले उसे युद्ध का नेतृत्व करता हुआ दिखाया

है तो अन्त में लक्ष्मण से भेंट कराई गई है। इस प्रकार 'साकेत' में आदि से अन्त तक उर्मिला को ही अपनी भक्ति के अश्रु चढ़ाए हैं, सर्वत्र उसी का ध्यान रक्खा है, उसी की भावनाओं, प्रवृत्तियों, अन्तर्व्यथा को चित्रित करने में वे लोग रहे हैं—

वर्गीकरण—'साकेत' में वर्णित पात्रों को पाँच वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) लक्ष्मण-उर्मिला, राम-सीता, भरत-माण्डवी शत्रुघ्न श्रुतिकीर्ति।

(२) दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी।

(३) वशिष्ठ, जावालि।

(४) मथरा, सुमत।

(५) हनूमान, निषाद आदि।

लक्ष्मण—को 'गिरीश' ने गुप्त जी के "महच्चरित्र की कल्पना" कहा है। तुलसी ने राम को प्रधानता देकर लक्ष्मण को गौण स्थान दिया, गुप्त जी ने उसे पूरी प्रधानता तो नहीं दी, हाँ चरित्र कुछ उभार जरूर दिया। पचवटी में लक्ष्मण का जो साधक स्वरूप निखारा गया है—

'जाग रहा यह कौन धनुर्धर, जबकि भुवन भर सोता है—'

वही 'साकेत' में भी है। इसके जीवन में मधुर-कोमल तथा उग्र—दोनों ही पक्ष व्यक्त किए गए हैं। प्रेम पक्ष तो प्रथम सर्ग में व्यक्त है—

(१) 'हँस पड़े सौमित्र भावों से भरे,
उर्मिला का वाक्य था केवल 'अरे'!
रंग घट में ही गया, देखा,. रहो,
तुम त्रिवुक धरने चली थीं, क्यों न हो?'
उर्मिला भी कुछ लजा कर हँस पड़ी,
वह हँसी थी मोतियों की सी लड़ी!
'बन पड़ी है आज तो—'उसने कहा,
क्या करूँ, वस में न मेरा मन रहा।
हार कर तुम क्या मुझे देते कहो?
मैं वही दूँ, किन्तु कुछ का कुछ न हो!'

दोनों एक दूसरे से कम नहीं हैं, बातचीत में भी और उछल कूद में भी। लक्ष्मण की इच्छा पर जब उर्मिला "सिमिट सी" गई तो लक्ष्मण कैसे अपनी हार स्वीकार करते!

इसी प्रेम ने उर्मिला के विरह की पृष्ठभूमि तैयार की है। उन्हें साथ न ले जा सके—

'प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड मुझे भी जाएँगे।'

(२) यही लक्ष्मण उर्मिला से मिलने की उपयुक्त साधना करते हैं। उर्मिला उनके लिए केवल उपभोग्य ही नहीं है। यह उनकी साधना का काल है—

'वन में तनिक तपस्या करके,
बनने दो मुझको निज योग्य।
भाभी की भगिनी, तुम मेरे,
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।'

(३) इसी लक्ष्मण का उग्र पक्ष तीन स्थलों पर व्यंजित होता है। एक तो दशरथ-कैकेयी के सम्मुख जहाँ उनके अधिकार का प्रश्न है—

'गई लग आग सी सौमित्रि भडके, अधर फड़के, प्रलय घन तुल्य तड़के।'

और कैकेयी दशरथ सबको सुना सुना कर अपने वीरत्व की घोषणा करते हैं—

'सभी सौमित्रि का बल आज देखें, कुचक्री चक्र का फल आज देखें।
भरत को सानती है आप में क्यों? पड़ेंगे सूर्य वंशी पाप में क्यों?'

दूसरा अवसर है जब सुनते हैं चित्रकूट में भरत दल बल सजा कर आ रहे हैं। उन्हें शका होती है कहीं एकाकी समझ कर आक्रमण की दुरभिसंधि तो नहीं है? जब माँ वैसी थी तो शायद भरत के मन में भी पाप आ गया हो—

'विनयी होकर भी करें न आज अनय वे,
विस्मय क्या है, क्या नहीं स्वभातृ तनय वे?'

लेकिन वे भी निर्बल नहीं हैं सामना करने के लिए तैयार हैं—

'पर कुशल है कि असमर्थ नहीं हैं हम भी,
जैसे को तैसे, एक बार हो यम भी।'

और इस रूप मे यदि भरत आए ही होंगे तो उसका सकल्प है—

'उनको इस शर का लक्ष चुनूँगा क्षण में,
प्रतिपेध आपका भी न सुनूँगा रण मे।'

लक्ष्मण जो कुछ कहते हैं, साफ कहते हैं। हृदय मे बात रखने का स्वभाव नहीं है।

तीसरा अवसर है सीता हरण के पूर्व जब सीता की बात उनको लग जाती है—

'किंतु तुम्हारे ऐसे निर्मम प्राण कहाँ से मैं लाऊँ?
और कहाँ तुम सा जड़, निर्दय यह पाषाण हृदय पाऊँ।'

तो लक्ष्मण भभक उठते हैं। उन जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति का इस कटाक्ष पर तिल मिला उठना स्वाभाविक ही था, इसलिए उत्तर देते हैं—

'मैं कैसा क्षत्रिय हूँ, इसको तुम क्या समझोगी देवी !
नहीं अन्ध ही किन्तु वधिर भी अवला वधुओं का अनुराग,
जो ही जाता हूँ मैं, पर तुम करना नहीं कुटी का त्याग !'

(४) मूलतः लक्ष्मण की सेवा वृत्ति, कर्त्तव्य भावना लक्षित होती है। सीता से तो कहते ही हैं—

'रहा दास ही और रहूँगा सदा तुम्हारा पद सेवी !'

उधर राम से बरावर उन्होंने दासत्व का प्रार्थना ही की जिससे सेवा भावना ही प्रकट होती है—

'तुम्हें कुछ भी नहीं करना पड़ेगा,
स्वयं सौमित्रि ही आगे अड़ेगा।
मुझे आदेश देकर देख लीजे,
न मन में नाथ ! कुछ संकोच कीजे।
इधर' मैं दास लक्ष्मण हूँ तुम्हारा,
उधर हो जाय चाहे लोक सारा !

× × × ×

अपेक्षा कुछ नहीं है नाथ इसकी,
मुझे यदि मारना है, मार डालो।
निकालो तो न जीते जी निकालो !
प्रभो रक्खो सदा निज दास मुझको,
कि निष्कासन न ही गृह वास मुझको !'

वही सीता हरण के उपरान्त राम को आश्वासन भी देते हैं—

'पच सकती है रश्मि राशि क्या महाग्रास के तम से भी ?
आर्य उगलवा लूँगा अपनी आर्या को यम से मैं भी।'

इस चित्रण में विशेषता यह है कि स्वाभाविकता कहीं नहीं आई है। शक्ति के उपरान्त वे पुन' कर्त्तव्य रत हो जाते है—

'यदि वैरी को मार न कुल लक्ष्मी को लाऊँ,
तो मेरा यह शाप मुझे मैं सुगति न पाऊँ।'

गुप्त जी ने परिवर्तन यथेष्ट किया किन्तु लक्ष्मण का मनुष्योचित रूप ही चित्रित किया। उसमें हमें इस धरती के मनुष्य की प्रवृत्तियाँ झाँकती हुई मिलती हैं। 'गिरीश' ने लिखा है—"महाराज दशरथ ने साकेत का राजा

बनाते बनाते रामचन्द्रजी को वनवासी बना दिया, और 'साकेत' महाकाव्य की प्रेरणा ने लक्ष्मण को इस महाकाव्य प्रदेश का राजा बनाते बनाते उन्हें बनवासी बना दिया। यह विचित्रता कितनी मनोरंजक है।"

उर्मिला के सम्बन्ध में पहले ही मैं लिख चुका हूँ कि वह 'साकेत' की प्रधान पात्री है उसे नायिका कहने में भी कोई हानि नहीं।

(१) पहली विशेषता तो प्रेम की है। उसके पारिवारिक जीवन के आरम्भ में कमी किसी वस्तु की नहीं रही। लक्ष्मण उसके पति हैं। हास-परिहास करने का अधिकार है ही वह स्वामी के रूप में ही उन्हें देखना भी चाहती है किन्तु उनकी कर्त्तव्य-भावना में बाधक नहीं बनना चाहती थी। जो कहती थी—

'शस्त्र धारी हो न तुम विष के बुझे, क्यों न कॉंटों में घसीटोगे मुझे!'

वहीं लक्ष्मण के समझाने पर विवश भाव से सब कुछ मान जाती है, और प्रेममयी हो जाती है—

"श्री सीता के कंधे पर, ऑंसू बरस पड़े झर झर।'

(२) प्रेम की कसौटी है त्याग, आत्म बलिदान। उर्मिला पति के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर देती है। उसकी अनुभूति आदर्श प्रेम की अनुभूति है, अपनी दुर्बलता की नहीं। भ्रातृ-स्नेह का भाव चतुर्दिक व्याप्त हो, इस कारण वह तप रही है—

'आज स्वार्थ है त्याग भरा, है अनुराग विराग भरा।
तू विकार से पूर्ण न हो, शोक भार से चूर्ण न हो॥
भ्रातृ स्नेह सुधा बरसे, भू पर स्वर्ग भाव सरसे!'
(चतुर्थ सर्ग)

षष्ठ सर्ग में भी उर्मिला ने यही भाव व्यक्त किया है कि प्रेम स्वयं एक कर्त्तव्य है इसका आदर्श जनता के सम्मुख रखना प्रिय का काम है। मर्म कथा सुनकर उसका व्यथित होना मानव-सुलभ दुर्बलता थी, आकस्मिक वेग विकलता थी। अतः उर्मिला जीवित रहना चाहती है तभी तो प्रिय को जीवन में सफल होकर लौटता हुआ देख पाएगी—

'हे त्राण आज भी इष्ट मुझे, ये प्राण आज भी इष्ट मुझे।
रह कर वियोग से अस्थिर भी, देखूँ मैं तुम्हें यहाँ फिर भी—'
क्योंकि—'हे प्रेम स्वयं कर्तव्य बड़ा, जो खींच रहा है तुम्हें खड़ा।
यह भ्रातृ स्नेह न ऊना हो, लोगों के लिए नमूना हो।'

उसके लिए यही बहुत है कि वे जागते-सोते कभी उसका ध्यान कर लें वह धन्य हो जायगी। आने का दिन दूर चाहे हो लेकिन यह सहारा उसे आशापूर्ण करता रहेगा—

'आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी तो बस फिर मैं पा चुकी सभी!'

(३) चौदह वर्ष तक घोर विरह व्यथा में तपना उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है। जहाँ तक उसके निरन्तर रोते रहने का प्रश्न है गुप्त जी ने गाँधी जी को एक पत्र में लिखा "और क्षमा कीजिए, आपके राम की भी कुशल नहीं। साकेत के पात्रों ने मानो हठ कर लिया है कि इन्हें रुला कर ही छोड़ेंगे। हम रोते रहें और ये हँसते रहें—यह हो नहीं सकता। अस्तु भरत ने राम को रुला कर ही छोड़ा और धोखा देकर नहीं, डंके की चोट! इसे स्वयं राम ने स्वीकार कयि है—

'रे भाई तू ने रुला दिया मुझको भी,
शंका थी तुझ से यही अपूर्व अलोभी!'

जब 'साकेत' का प्रत्येक पात्र रोता है तो उर्मिला—जो वास्तव में दुखी थी—का आँसू बहाना अतिरंजित नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि वह लगातार रोती है, १४ वर्ष रोती रही है—यह जरा अधिक हो गया है। यह उर्मिला के प्रति न्याय नहीं है। ऐसी विषम कसौटी उसके लिए रखना ठीक सा नहीं हुआ है—कम से कम गुप्त जी के आलोचकों की धारणा यही है।

इस रुदन का आरम्भ हुआ है चतुर्थ सर्ग से। षष्ट सर्ग में स्वयं कवि वर्णन करता है—

'सीता ने अपना भाग लिया पर इसने वह भी त्याग दिया!'

इससे अधिक त्याग क्या हो सकता था? गौरव भी इसी में है। ईश्वर ने इसके वियोग में क्या शुभ किया समय बतलाएगा—

'नव वय में ही विश्लेष हुआ, यौवन में ही यति वेष हुआ!'

दशरथ की मृत्यु के उपरान्त—

'उर्मिला सभी सुध बुध त्यागे, जा गिरी कैकयी के आगे!'

मानो मौन रूप से कोसती हो सब दोष तुम्हारा ही तो है। अष्टम सर्ग में लक्ष्मण क्षण भर के लिए पहचान भी न सके।

'यह काया है या शेष उसी की छाया,
क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया!'

उर्मिला को यहाँ भी कर्त्तव्य भावना का ध्यान है वह अपने स्वार्थ के लिए उन्हें बाँधना नहीं चाहती—

'मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजोऽभय भारी!'

नवम सर्ग में उर्मिला स्वयं विरह में जलती हुई आरती सी बन गई है जो मानस-मन्दिर में स्थित प्रिय की उपासना के लिए की जा रही हो! उनके स्मरण में तल्लीन वह अपनी सुधबुध ही भूल जाती है--प्रिय मय हो जाती है। वियोग की चरम दशा क्या है? अपनत्व भूलकर आराध्य मय हो जाना!

आँखों में प्रिय मूर्ति थी भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम वियोग।
आठ पहर चौंसठ घड़ी स्वामी का ही ध्यान,
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्म ज्ञान॥'

यही महादेवी वर्मा ने कहा है—

'हो गई आराध्यमय मैं चिर विरह की साधना से!'

उर्मिला के निरन्तर रुदन की विशेषता यही है कि वह स्वार्थ सहित नहीं है—

'मैं अपने लिए अधीर नहीं स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं!'

(४) विरह दग्ध होने पर भी उर्मिला में वीर क्षत्राणी का रुधिर है। भरत के उद्बुद्ध करने पर वह स्वयं त्रिशूल लिए बढ़ आती है। उसका भवानी-वेष कवि के शब्दों में ही देखिये—

'आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानी,
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।
जटा-जाल से बाल विलंबित छूट पड़े थे,
आनन पर सौ अरुण, घटा में फूट पड़े थे।
माथे का सिंदूर सजग अंगार सदृश था,
प्रथमातप सा पुण्य गात्र, यद्यपि वह कृश था।
बाँया कर शत्रुघ्न-पृष्ठ पर कण्ठ-निकट था॥
दाएँ कर में स्थूल किरण सा शूल विकट था!'

(५) अन्तिम विशेषता सेवा भाव का है। मिलन का अवसर निकट आता है वह आराध्य की सेविका ही रहना चाहती है। प्रथम सर्ग से यहाँ उसका भाव बदल गया है। वहाँ "क्या मुझे दासी कहाना इसलिए?" कह कर प्रत्याख्यान करा दिया था। राम ने भी आकर उसी की प्रशंसा की।

'तू ने भी सह धर्म चारिणी के भी ऊपर,
धर्म स्थापन किया भाग्य शालिनि इस भू पर !'

और उर्मिला अपने पति के चरणों पर प्रणाम करने के लिए झुकी ही थी कि पति ने दोनों हाथों से सँभाल लिया ! लक्ष्मण के मन में भी उसके प्रति उच्च धारणा है। आज साधना के उपरान्त ही वह स्वामी कहलाने योग्य हो सका है।

राम 'साकेत के नायक हैं। गांधी जी को लिखे गये पत्र में भी गुप्त जी की यह धारणा रही है और 'साकेत' के समर्पण में भी वे लिखते हैं—

'तुम दयालु थे दे गए कविता का वरदान,
उसके फल का पिण्ड यह लो निज प्रभु गुण गान।'

और पहले लिखा है—

'स्वयं तुम्हारा वह कथन भूला नहीं ललाम-
वहाँ कल्पना भी सफल, जहाँ हमारे राम !'

(१) उनके चरित्र की पहली विशेषता है अवतार 'होने पर भी आदर्श मानव के रूप में प्रतिष्ठित होना राक्षसों से जनता को मुक्ति दिलाना तो उनका कर्त्तव्य है ही, इससे अधिक दक्षिणी असभ्य जातियों में आर्य-संस्कृति का प्रचार करना है। गुप्त जी ने अपने राम को यह नया काम सौंप दिया ! वनवासी भी उनका स्वागत अभिषेक करने को तयार हैं—

लेकर पवित्र नेत्र-नीर रघुवीर धीर,
वन मे तुम्हरा अभिषेक करें, आओ तुम।
जंगल में मगल मनाओ, अपनाओ देव,
शासन जनाओ, हमे नागर बनाओ तुम !'

(२) दूसरी विशेषता है कर्त्तव्य-धर्म पालन करने की। वनवास स्वीकार करना इसका प्रमाण है। सुमन द्वारा यही सदेश उन्होंने भिजवाया है—

'पर धर्म रोकता है वन में, करना न सोच मन में।
देगा मुझको विश्रांति वही, हे तात तुम्हें भी शांति वही !'

इसी आधार पर वे लक्ष्मण को रोकते हैं—

कहा प्रभु ने कि—'हाँ, बस चुप रहो तुम,
अरंतुद वाक्य कहते ही अहो ! तुम।
जताते कोप किस पर हो कहो तुम ?
सुनो, जो मैं कहूँ, चंचल न हो तुम !'

(३) गुरुजनों के प्रति पूज्य भाव, माताओं से आज्ञा लेकर जाना, समझाना उनके गुण हैं। चित्रकूट प्रसग में उनकी बौद्धिकता, तर्क-शक्ति का परिचय होता है। जब सभा बैठती है तो वे नियमानुसार प्रश्न करते हैं—

'हे भरत भद्र, तुम कहो अभीसित अपना।'

उनमें सहृदयता तथा मातृत्व शक्ति समझने की शक्ति भी है।

(४) गुप्त जी ने जीवन के व्यापक आदर्श अधिकतर राम से ही स्थापित कराए हैं। त्याग, प्रेम, समन्वय, बलिदान, मर्यादा आदि का उल्लेख कराया गया है!

'सुख धन धरती में नहीं किंतु निज मन में।'

× × × ×

'निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी।
हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी॥'

× × × ×

'शासन सब पर है इसे न कोई भूले,
शासक पर भी, वह भी न फूल कर ऊले।'

× × × ×

'भावुक जन से ही महत्कार्य होते हैं।
ज्ञानी ससार असार मान रोते हैं॥' आदि।

(५) गुप्त जी ने राम का स्वरूप अधिक बदला नहीं है। 'मानस' के राम की चिर प्रशात मुद्रा यहाँ भी बनी है—

'राम-भाव अभिषेक समय जैसा रहा।
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा॥'

यही स्वरूप तुलसी के राम का था—

'प्रसन्नता यो न गता भिषेक स्तथा न यम्लौ वनवास दुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनं स्यमेत् सदास्तु सा मजुल मगल प्रदा॥'

हाँ "भाई का बदला भाई ही," कह कर कुंभकर्ण को मार गिराना उनके भावावेश का भी सूचक है।

(१) सीता का चरित्र है तो परम्परा के अनुसार ही, हाँ उर्मिला, भरत के प्रति स्नेह दिखाने का अवसर उसे मिला है। पति-परायण भी है, सुख-दुःख को समदृष्टि से देखने वाली—

'मातृ सिद्धि, पितृ सत्य सभी, मुझ अर्धाङ्गिनी बिना अभी।
हैं अर्धाङ्ग अधूरे ही, सिद्ध करो तो पूरे ही॥'

बन में उसे कोई भय नहीं होगा, वह जंगल में सबको मित्र बना लेगी फिर मन में दुःख कहाँ ?—

'खग मृग भी हिल जाएँगे सभी मेल मिल जाएँगे।
देवर एक धनुर्धारी—होंगे सब सुविधाकारी॥
वे दिन रात साथ देंगे मेरी रक्षा कर लेंगे!'

(२) अष्टम सर्ग में उसका गृहिणी रूप व्यक्त है। वह कमर में आँचल खोंस कर वृक्ष-लताएँ सींचती है। कवि उसका हृदय-वर्णन करता है—

'रुकने-झुकने में ललित लंक लच जाती।
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती॥
तनु गौर केतकी-कुसुम-कली का गाभा।
थी अंग-सुरभि के संग तरंगित आभा॥
भौंरों से भूषित कल्प-लता-सी फूली।
गाती थीं गुनगुन गान भान-सा भूली॥'

'प्रसाद जी' ने भी श्रद्धा के सौंदर्य की तुलना केतकी से की है। यह गीति प्रवृत्ति वर्तमान प्रभाव है। वह दुःख में भी सुख की अनुभूति कर लेती है। आचार्य शुक्ल ने तुलसी की आलोचना करते हुए लिखा था कि राम-सीता का प्रेम-जीवन की विविधता के बीच कर्म क्षेत्र में खिलता है। राज महलों के कोनों में नहीं! गुप्त जी ने मानो उसी की एक झाँकी दी है। सीता काम भी करती है प्रसन्न वदन अपना उल्लास भी व्यक्त करती है—

'कहता है कौन कि भाग्य ठगा है मेरा ?
वह सुना हुआ भय दूर भगा है मेरा।
कुछ करने में हाथ लगा है मेरा,
वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा॥
वह वधू जानकी बनी आज यह जाया!'

ऋषि कन्याएँ उसकी सखी हैं गुरुजन ही परिवार के प्राणी हैं, वन देवी प्रतिथि हैं और सर्वाधिक प्रिय का साथ है! फिर उसको अभाव क्या ? वह तो भील-ललनाओं से भी करने योग्य काम पूछती है—

'ओ भोली कोल-किरात-भिल्ल-बालाओ,
मैं आप तुम्हारे यहाँ आ गई, आओ।

'मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ,
दो अहो! नव्यता और भव्यता पाओ।
लो मेरा नागर भाव भेंट जो लाया,
मेरी कुटिया मे राज भवन मन भाया!'

(३) चित्रकूट में उसके साकेत निवासियों का अतिथि की तरह स्वागत करती है। अपनी कर्त्तव्य-भावना में वह लक्ष्मण को उर्मिला से मिलाना भी नहीं भूली है—

'गुरुजन समीप थे एक समय जब राघव,
लक्ष्मण से बोलीं जनक सुता साऽलाघव।
'हे तात, ताल संपुटक तनिक ले लेना,
बहनों को वन-उपहार मुझे है देना।'
'जो आज्ञा'—'लक्ष्मण गए तुरंत कुटी में-'
तो दीख पड़ी कोणस्थ उर्मिला रेखा।'

वही सीता "आ पहुँचे पितृ पद भी मेरे"—कह कर उन्हें सचेत कर देती है। उसी ने "अवा सम" भरत को आशीष भी दी है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि सीता को दो दो व्यथाएँ झेलनी पड़ी (१) पति वियोग (२) राक्षसों का बंधन। अत उसकी महत्ता के सम्मुख उर्मिला बहुत दब गई है। असल में गुप्त जी ने सीता को उसी प्रकार कम महत्व दिया है जिस प्रकार राम को। दोनों का वर्णन राम कथा में आना आवश्यक था, अत किया गया।

(४) सीता द्वारा पति प्रेम भी व्यक्त किया गया है। वह राम से अपना अखण्ड संबंध बतलाती हुई हनुमान से कहती है—

'करें न मेरे पीछे स्वामी, विषम कष्ट साहस के काम,
यही दु खिनी सीता का सुख, सुखी रहें उसके प्रिय राम।
मेरे धन वे घनश्याम ही, जानेगा यह अरि भी अंध,
इसी जन्म के लिए नहीं है राम जानकी का संबंध!!

(१) 'भरत' के चरित्र चित्रण में पहली विशेषता है। भ्रातृ प्रेम सप्तम सर्ग से चरित्र प्रस्फुटित होता है जब 'साकेत' के राजमार्ग पर चलते हुए उन्हें घोर नीरवता, उदासीनता दृष्टिगोचर होती है। नागरिक न वार्तालाप करते हैं न नटों पर घूमते हैं! जब कारण मालूम हुआ तो सर्व प्रथम अपनी माँ को ही विनाश का मूल कह देते हैं। वह माँ क्या? उसकी माता ही तो कैकेयी है!

आवेश में लक्ष्मण कैकेयी को "अनार्या की जनी कह गए तो भरत ने—"जो, द्विरसने, हम सभी को मार"—का प्रयोग किया है।

'मृत्यु ? उसमें तो सहज ही मुक्ति, भोग तू निज भावना की भुक्ति,
धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह खा, गया जो भून कर पति-देह !'

(२) फिर उन्हें अपने ऊपर ग्लानि होती है पश्चाताप करते हैं—

'आज मैं हूँ कोसलाधिप धन्य, गा, विरुद गा, कौन मुझ-सा अन्य !'

केवल एक मात्र प्रदेश कौशल ही तो नहीं था—

'स्वार्थिनी ! तू कर सकेगी त्याग,
राज्य में घर से लगी हा आग।
सूर्य कुल मे यह कलंक कठोर,
निरख तो तू तनिक नभ की ओर !'

उन्हें आसमान के तारे भी ज्वलित अंगार जैसे मालूम पड़ते हैं। फिर वे राज-पद हटाने देने की चर्चा करते हैं ताकि लोभ की जड़ ही नष्ट हो जाय !

'राज पद ही क्यों न अब हट जाय ?
लोभ मद का मूल ही कट जाय,
भर सके कोई न दर्प न दंभ।
सब जगत मे ही नया आरंभ !'

वस्तुतः भरत यहाँ बिल्कुल क्रांतिकारी आदर्श उपस्थित करते हैं जिसमें सब नागरिक एक परिवार की तरह रहें, नरपति नहीं रहें। जिसकी जहाँ उपयोगिता हो वहीं रक्खा जाय ! तो क्या आवेश में गुप्त जी ने जनवादी समाज—Socialistic Society—की कल्पना की है ? तब तो आज का भारतवर्ष उधर ही बढ रहा है—

'विगत हों नरपति, रहें नर मात्र, और जो जिस कार्य के हों पात्र-
वे रहें उस पर समान नियुक्त, सब जिएँ ज्यों एक ही कुल भुक्त !'

वही भरत कौशल्या के सामने नत मस्तक होकर सब अपराध अपने ही सिर ले लेते हैं।

(३) भरत की पितृ भक्ति दशरथ का शव देखकर उमड़ पड़ी है।

'हा ! पिता यों हो रहे हो सुप्त, क्या हुई वह चेतना चिर लुप्त ?'

नरपति के मृत संस्कार में वे पुनः विचलित हो उठते हैं—

'इस अधम की बाट तो कुछ देर, देखते तुम काल कारण हेर।
बन गए हैं आर्य, तुम परलोक, कौन समझे आज मेरा शोक ?

× × × ×

इस पिता की ही चिता के पास, मुझ अगति को भी मिले चिरवास !'

इस प्रकार व्याकुल वे पितृ चिता के पाद तल में लोट रहे थे।

(४) भ्रातृ भक्ति, आत्म ग्लानि, राज्य का आदर्श चित्रकूट में व्यक्त हुआ है। सर्वस्व नष्ट हो गया तब उसकी इच्छा क्या रही ?—

'हे आर्य, रहा क्या भरत अभीप्सित अब भी !
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी ?'

कितना ही भगीरथ प्रयत्न करते हैं कि राम लौट चलें, पर कोई तर्क काम नहीं करता। वे अपना शरीर तक का मोह छोड़ने को तैयार हैं पर राम पर कोई वश नहीं चलता। अन्त में उसे कहना ही पड़ता है—

'हे, आर्य तुम्हारा भरत अतीव अवश है,
क्या कहूँ और क्या करूँ कि मैं पथ पाऊँ ?
क्षण भर ठहरो मैं ठगा न सहसा जाऊँ !'

और राम की चरण पादुका को लेकर दुःख से जूझने को तैयार हो जाते हैं—

'बच उनके बल पर अवधि पार मैं पाऊँ !'

(५) उनका तपस्वी रूप द्वादश सर्ग में उल्लिखित है जहाँ राज कार्य में वे भोजन की चिन्ता भी छोड़ बैठे हैं। आशा यही है राम आएँगे, समय आ रहा है। १४ वर्ष के उपरान्त यह दृढ़ आशावादिता या तो उर्मिला की ही है या भरत की ही।

'मिले भरत में राम हमें तो मिलें भरत को राम कभी।
वही रूप है, वही रंग है-वही जटाएँ, वही सभी!
बायीं ओर धनुष की शोभा, दायीं ओर निषंग छटा।
वाम पाणि में प्रत्यंचा है, पर दक्षिण में एक जटा!'

किन्तु भरत को अखण्ड विश्वास है राम आएँगे। उन्हें अयोध्या आने से रोक कौन सकता है ?—

'यह विषाद भी प्रिये अन्त में स्मृति विनोद बन जावेगा,
दूर नहीं अब अपना दिन भी, आने को है आवेगा!'

(६) वीरत्व की भावना सैन्य सजाने पर लक्षित होती है। राम के लिए वे

अपने को युद्ध में भी समर्पित कर देना भाग्य पूर्ण समझते हैं। उनका दृढ़ संकल्प हनुमान से कहे गए इन वाक्यों से स्पष्ट होता है—

'माताओं से विदा माँग मेरी भी लेना,
मैं लक्ष्मण-पथ-पथी उर्मिला से कह देना।
लौटूँगा तो साथ उन्हीं के और नहीं तो,
नहीं, नहीं, वे मुझे मिलेंगे भला कहीं तो!'

भरत का आदर्श चरित्र चित्रण करने में गुप्त जी बहुत सफल हुए हैं।

माण्डवी भरत की पत्नी है। प्रसंगवश उसका उल्लेख एकादश सर्ग में आया है। जब सोने की थाली में पत्तल बिछा कर वह भोजन लाती है। मंदिर की पूजा करना, राजमहल की सूचना देना उसका दैनिक कार्य था। उर्मिला, शत्रुघ्न की दशा का ज्ञान भी वही रखती थी। उसके मन में भी एकांत प्रेम की इच्छा थी—साधना व लोक पक्ष के सामने दब गई। फिर भी सुख दुःख जीवन में आते जाते रहते हैं। वीर पुरुषों का काम है सामना करें—

'मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से, अमर सुधा से जीते हैं।
किंतु हलाहल भव-सागर का, शिव शंकर ही पीते हैं"

इसका कारण वह पहले बतलाती है—

'जीवन में सुख दुख निरन्तर आते जाते रहते हैं।
सुख तो सभी भोग लेते हैं, दुख धीर ही सहते हैं!'

'कामायनी' की श्रद्धा ने दुःख को एक झीना परदा कहा है जिस में सुख छिपा रहता है—

'दुख की पिछली रजनी बीत, विकसता सुख का नवल प्रभात।
एक झीना परदा यह नील, छिपाए है जिसमें सुख गात!'

शत्रुघ्न वीर है। वह भी भरत के आदर्श पर चलता है सेना सज्जित करते समय आदेश मिलने पर एकदम घोड़े पर चढ़कर घोड़ा दौड़ा देता है—

'छू कर उनके चरण द्वार की ओर बढ़े वे,
झोंके पर ज्यों गंध अश्व पर कूद चढ़े वे!'

श्रुतिकीर्ति का भी वीर क्षत्राणी रूप वर्णित हुआ है। पति को टीका करती हुई कहती है—

'जाओ स्वामी, यही माँगती मेरी मति है,
जो जीजी की, उचित वही मेरी भी गति है!'

दोनों के चरित्र चित्रण में कोई विशेषता मालूम नहीं पड़ती। नवीनता

इतनी ही है कि गुप्त जी ने इन्हें भी उपेक्षित नही रक्खा है। कम से कम नाम का स्मरण अवश्य कर लिया है।

दशरथ की कल्पना 'मानस' से भिन्न नहीं है। हाँ गुप्त जी ने उन्हें भी रुलाया है ही। जीवन में उन्हें कोई असंतोष था नहीं। अभिषेक कर देना चाहते थे। उनकी स्वाभिमानी प्रवृत्ति, सत्यवादिता का परिचय कैकेयी से वार्तालाप में होता है। वर माँगने पर कुछ क्षण तो वे सन्न रह गए—

'देव यह सपना है कि प्रतीति ? यही है नर-नारी की प्रीति ?'

वे धर्म संकट में पड़ जाते हैं। राम का मुख पकड़ कर कैकेयी की ओर करते हुए समझाते हैं—

'अभागिन देख कोई क्या कहेगा ?
यही चौदह बरस वन में रहेगा ?
विभव पर हाय ! तू भव छोड़ती है,
भरत का, राम का जुग फोड़ती है।'

गुप्त जी यहाँ पितृ स्नेह की व्यंजना कराने में अत्यन्त सफल रहे हैं। चारों पुत्र एक तो दशरथ को वृद्धावस्था में हुए थे। अब राम को ही वनवास देने का प्रसंग आ गया। यहाँ गुप्त जी ने उनके हृदय में भावों के अन्तर्द्वन्द्व का विधान किया है जिसकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ। इस अनिश्चय की स्थिति में उन्हें लक्ष्मण की उग्र बातें भी प्रिय लगती हैं—

'कहो फिर वत्स ! जो पहले कहा था—
वही गर्जन मुझे सुख दे रहा था—
नहीं हूँ मैं पिता सचमुच तुम्हारा,
(यही है क्या पिता की प्रीति-धारा ?)

× × × ×

मुझे बंदी बना कर वीरता से,
करो अभिषेक साधन धीरता से।
स्वयं निस्वार्थ हो तुम, नीति रक्खो,
न होगा दोष कुछ, कुल रीति रक्खो।'

जब राम चले ही गए तो दशरथ चेतना शून्य होकर गिर पड़े। आशा थी संभवतः सुमंत के साथ वे लौट आएँ, प्राण किसी तरह टिके हुए थे। जब रही सही आशा भी समाप्त हो गई तो वे भी चल दिए।

दशरथ का मोह, पुत्र प्रेम, अन्तर्द्वन्द्व 'साकेत' में अच्छी तरह व्यक्त हुआ है।

कौशल्या का मातृ हृदय दर्शनीय है। ईर्ष्या, द्वेष, सापत्य डाह से वे मुक्त हैं—शुद्ध आर्य माता का प्रतिनिधित्व करती हैं। पूजा पाठ में ही समय व्यतीत करती हैं। राम ने जब बनवास की बात कही तो उन्हें विश्वास ही न हुआ—

'माँ को प्रत्यय भी न हुआ, इसीलिए भय भी न हुआ!'

जब लक्ष्मण रोने लगे तो—"ईश्वर यह क्या होता है?" उनका हृदय भी शंकित हो उठता है—

'सच हैं तब क्या वे बातें? दैव! दैव! ऐसी घातें।
काँप उठीं वे मृदु देही, धरती घूमी या वे ही!'

स्वयं दशरथ के सम्मुख पुत्र के लिए क्षमा माँगने को तैयार होती हैं। राम ने ऐसा अपराध क्या किया—

'तू सबका जीवन धन है, किसका यह निर्दयपन है?'

जब लक्ष्मण ने स्थिति का ज्ञान कराया तो कौशल्या ने यही कहा—

'मुझे राज्य का खेद नहीं, राम भरत में भेद नहीं!'

कैकेयी की नीति है, वह राज्य लेकर भरत को दे दे उन्हें कोई डाह नहीं है, राज्य की चाह भी नहीं है। बस वह चाहती यही है—

'मेरा राम न वन जावे, यहीं कहीं रहने पावे।'

भरत का राज्य उन्हें स्वीकार है बस पुत्र का वनवास वे नहीं सह सकतीं। यहाँ वात्सल्य तथा मातृत्व दोनों को ही सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

सुमित्रा में वीर क्षत्राणी की प्रतिष्ठा की गई है जो न तो अपना भाग देते हैं, न दूसरों का लेते हैं। पहले राम को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करती है फिर—"मैं न सहूँगी, लक्ष्मण तू?" कहकर पुत्र को उत्साहित करती हैं। राम की अपेक्षा लक्ष्मण पर उनका जोर भी अधिक है। उसका यह रूप आर्य नारी की परम्परा है।

नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में परिवर्तन सम्बन्धी गुप्त जी की महान देन है कैकेयी। नवीन पात्र की उद्भावना सरल होती है। कवि जैसा चाहे प्रस्तुत कर दे। किन्तु ऐतिहासिक पात्र का स्वरूप परिवर्तन बड़ा कौशल चाहता है। गुप्त जी ने तुलसी की कैकेयी को बदल दिया है, घृणा के स्थान पर हार्दिक सहानुभूति का पात्र बना दिया है। "पहाड़ सा पाप" करने के उपरान्त गुप्तजी

ने उससे राई भर "अनुताप" क्या कराया जन्म जन्मों का कलंक ही धो दिया! हिन्दी महाकाव्यों के चरित्र चित्रण में यह अभूत-पूर्व घटना है।

"कैकेयी का प्रश्न मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। इसी पक्ष से उसे सुलझाया जा सकता है और इसी पक्ष से उसे सुलझाने का प्रयत्न 'साकेत' के कवि ने किया है। कैकेयी की कथा एक नारी हृदय की भूल, पुत्र प्रेम भावना, सपत्नि दोष और पुत्र द्वारा तिरस्कृत होने पर प्राणांतक ढंग से टूट जाने की कथा है। कैकेयी के इस नवीन चरित्र चित्रण के प्रकाश में 'साकेत' के कई चरित्रों में नया जीवन आ जाता है। कैकेयी की आत्म प्रवंचना उसे कितना दुख दे रही है यह चित्रकूट प्रसंग में जाना जा सकता है। तुलसी ने इस प्रसंग में उन्हें मौन रखकर उनके साथ अन्याय ही किया है। 'साकेत' की कैकेयी के प्रति हम सच्ची सहानुभूति से भर जाते हैं—वह स्वयं अपने से छली है। दोष न मंथरा का है, न विधाता का। इतना बड़ा आत्म छल, इतनी बड़ी आत्म-प्रवंचना भला किस नारी ने सहन की है?"×

उसी के शब्द देखिये—

'हा! लाल? उसे भी आज गमाया मैंने,
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने,
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने॥

अन्त में यही स्पष्टीकरण है—

'मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
जिसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा!'

वशिष्ट राज पुरोहित भी हैं और राज गुरु भी। अपने ज्ञान-पद के अनुकूल दार्शनिक है अतः दशरथ मृत्यु पर कहते हैं—

'नर देह यहाँ का यहीं रहा,
वह श्वास श्रृंखला टूट गई।
आत्मा बंधन से छूट गई!'

सब को धैर्य देते हुए राजा का शव तेल में रखा देते हैं। भरत आगमन के उपरान्त उन्होंने जीव जगत आदि सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या कर राजवासियों को समझाया है। रानियाँ सती होने का प्रस्ताव करती हैं तो वे यह कह कर

× डा० रामरतन भटनागर

रोकते हैं कि इससे भी धर्म पालन नहीं होगा, उनका कर्त्तव्य जीवित रहना ही है—

'सहमरण के धर्म से भी ज्येष्ठ, आयु-भर स्वामि स्मरण है श्रेष्ठ !'

और भरत को उन्होंने यही कहते हुए सान्त्वना दी है कि तुम्हें अपना कर्त्तव्य नहीं भूलना चाहिए—

'अब उठो हे वत्स धीरज धार,
वैठते हैं वीर क्या थक हार?
शत्रु-सर सम तुम सहो यह शोक,
सतत कर्म क्षेत्र है नर लोक।'

सप्तम सर्ग के अन्त में कवि ने वशिष्ठ के द्वारा सत्य-शिव-सुन्दर की एकता व्यक्त कराई है—

'पा लिया है सत्य-शिव-सुन्दर सा पूर्ण लक्ष,
इष्ट हम सबको इसी का आनुगत्य है।
सत्य है स्वयं ही शिव, राम सत्य सुन्दर है,
सत्य काम सत्य और राम नाम सत्य है॥'

राजपुत्रों के शिक्षक भी वही रहे हैं। राम की नीति परीक्षा चित्रकूट में होती है। अन्तिम सग में उन्होंने अपने योग वल से साकेत निवासियों को राम-राक्षस युद्ध का दृश्य दिखाया है। तुलसी के 'मानस' से इनमें विशेष अन्तर नहीं है।

जावालि ऋषीश्वर चित्रकूट में राम की परीक्षा जैसी लेते हैं। तर्क, बुद्धि और युक्ति उनके साधन हैं। "यह भावुकता है" कह कर राम को टालना चाहते हैं पर वे दृढ हैं, तो हँसते हुए मुनि जी वशिष्ठ की ओर देखने लगते हैं—

'हँस कर जावालि वशिष्ट ओर तब हेरे,
मुसका कर गुरु ने कहा-शिष्य हैं मेरे !'

मंथरा और सुमंत राज परिवार के सेवक हैं। कुचक्र मूलतः मंथरा का रचा हुआ है जिसने अपनी मति के अनुसार कैकेयी को सम्मति दी। बोलने में बड़ी निर्भीक, निस्संकोच है। हाथ से अपना कपाल ठोक ठोक कर उसे उत्तेजित कर देती है—"हो गया भोलेपन का अन्त !" संशय का बीज बो कर अभिप्राय भी स्पष्ट कर देती है—

'शेष है अब भी क्या कुछ हाल ?
सरलता भी ऐसी है व्यर्थ, समझ जो सके न अर्थानर्थ।
भरत को करके घर से त्याज्य, राम को देते हैं नृप राज्य !'

उसका कार्य पूरा हो गया अतः धरती पर माथा टेक कर तुरत चली जाती है। उसका गतिशील चित्रण हुआ है एक झाँकी दिखा कर ही सारा चरित्र सामने रख दिया और कार्य पूर्ति होने पर कथा प्रवाह को पृष्ठ-भूमि में डाल दिया।

सुमंत दशरथ की मृत्यु पर विचलित होते हैं, इस समय क्रिया करने के लिए पुत्र भी उपस्थित नहीं—

'क्या हुआ देखिए यह गुरुवर,
हा! अमर पूज्य इस भाँति मरें।
सुत चार कहाँ जो क्रिया करें!'

इसके पूर्व राम-लक्ष्मण-सीता को अयोध्या नगरी की सीमा तक पहुंचाने भी वही गाए थे, उन्होंने भी राम को समझाया था लेकिन—

'लौटे सुमंत ही बेचारे, अनुरोध तर्क भी सब हारे !'

वे इतने खिन्न हुए मानो उन्हीं के जीवन का उपहास हुआ हो। सारा दिन बाहर ही व्यतीत कर रात्रि के अंधकार में नगर प्रवेश करने का उनका साहस हुआ—

'जब रजनी आकर प्राप्त हुई, बाहर ही साँझ समाप्त हुई।
नीरव गति से, उदास घर में, तब सचिव प्रविष्ट हुए पुर में !'

निषाद राम वनगमन सुन कर स्वागतार्थ आ जाता है। राम प्रेम-पूर्वक उसे गले से लगाते हैं। वह यथेष्ट आदर सत्कार कर दूसरे दिन राम को गंगा पार पहुँचा देते हैं। गुप्त जी ने उसका स्थान बढाने का प्रयत्न किया है। वह केवल हाथ बाँध कर खड़ा नहीं रहता, वह भी कहता है—

'मैं अभाव में भाव लेखता हूँ तुम्हें,
निज गृह में गृह नहीं, देखता हूँ तुम्हें।
त्रुटियों पर पद-धूलि डालिए आइए,
घर न देखकर, मुझे निहार निभाइए।
न हो योग्य आतिथ्य, अटल अनुरक्ति है,
चाहे मुझमे शक्ति न हो, पर भक्ति है !'

हनूमान परम राम सेवक हैं। कवि ने विशेषता यह रक्खी है कि सीता-हरण से लेकर लक्ष्मण मूर्च्छा तक की कथा उन्हीं से कहलाई है। आलोचकों ने कहा है कि हनूमान अपना कर्त्तव्य भूल सा गए हैं और कथा सुनाने बैठ गए हैं। फिर भी वीरत्व, कार्य क्षमता में कमी नहीं। अपना परिचय दिया है—

'पर विलम्ब से हानि, सुनो मैं हनुमान मारुति प्रभु दास,
संजीवनी हेतु जाता हूँ योग-सिद्धि से उड़ कैलाश।'

अभी तक जो लम्बी चौड़ी कथा सुनाते रहे उसमें तो समय, अवसर का ध्यान न रहा, अब परिचय देने में उन्हें विलंब से हानि हो जाने की सम्भावना होती है। फिर भी अपनी वीरता पर उन्होंने नम्रता-पूर्वक राम की अनुकंपा ही मानी है—

'दुस्तर क्या है उसे विश्व में, प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान।
पार किया मकरालय मैंने, उसे एक गोष्पद सा-मान!

'गिरीश' को हनूमान के इस चित्रण में एक कमी मालूम होती है—"मानस में वे जैसे विपद रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं उसका अवसर कवि ने 'साकेत' में हमारे लिए उपलब्ध नहीं किया!"

इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि गुप्त जी ने दो पात्रों के चित्रण में तो विशेष श्रम किया है, शेष को परंपरानुसार ही रहने दिया है कहीं कहीं एकाध नई प्रवृत्ति झलका दी है ताकि वे आधुनिक से प्रतीत हों।

विशेषताएँ :—चरित्र चित्रण संबंधी कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) प्रत्येक पात्र के गुण-अवगुण पूर्व संस्कारों के अनुसार हैं। सुमित्रा का वीरत्व लक्ष्मण में उग्रता का रूप धारण कर लेता है। राम दशरथ की भाँति सत्यवादी कौशल्या की भाँति सरल स्थान है।

(२) प्रत्येक पात्र जीवन के कर्म क्षेत्र में प्रवृत्त है। अन्य रचनाओं में भी जग जीवन से उदास, निष्क्रिय पात्र नहीं मिलेंगे। नारी पात्रों का चरित्र उभारने में गुप्त जी ने विशेष कौशल से काम लिया है, लेकिन वे भी कर्त्तव्य पालन से पीछे नहीं हटतीं।

(३) प्रत्येक पात्र मर्यादा पालन करता है। जीवन में कुछ न कुछ आदर्श उपस्थित करता है।

(४) चरित्र उभारने में मनोविज्ञान का पूरा ध्यान रखा गया है।

(५) पारिवारिक व्यक्तियों को दृश्य रूप में ही प्रतिष्ठित किया है ताकि वे जन साधारण के लिए अनुकरणीय बन सकें।

(६) साधारण चरित्र भी उदात्त हैं, गुणवान तथा सहृदय हैं।

(७) चित्रण में प्राचीनता के साथ हो नवीन पद्धतियों का ध्यान रखा गया है। पात्र प्राचीन होने पर भी आधुनिक युग के अनुकूल रखे गए हैं।

(८) 'साकेत' के पात्रों में गुप्त जी के दो पात्र विशेष उल्लेखनीय हैं—उर्मिला तथा कैकेयी। एक का कलंक मिटाया है दूसरे को उपेक्षित नहीं रक्खा है।

अब लीजिए कथोपकथन। कविता हो, नाटक हो, उपन्यास हो, चाहे साहित्य की कोई विधा हो, कथोपकथन एक तो कथा वस्तु को आगे बढाते हैं दूसरे चरित्रों पर प्रकाश डालते हैं, तीसरे स्वय पात्रों की मनोवृत्तियों का परिचय कराते हैं, चौथे उपयुक्त विराम स्थल उपस्थित करते हुए चमत्कार उत्पन्न करते हैं। नाटकों में इनका विशेष महत्त्व होता है क्योंकि वहाँ लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं कह सकता। जो कुछ भी वर्णन करना है पात्रों के सवादों द्वारा व्यक्त करने को वह वाध्य सा हो जाता है। सवादों से लेखक की भाषा शक्ति, सूक्ष्मता तथा कम कह कर अधिक व्यजित करना अर्थात् अर्थ गाभीर्य का परिचय होता है। गुप्त जी की विशेषता यह है कि नाटकों की इस प्रणाली को महाकाव्य तथा अन्य प्रबध रचनाओं में फिट कर दिया है। जहाँ सवाद-स्थल आए हैं, उनकी मार्मिकता, प्रवाह बढ गए हैं। 'साकेत' के कथोपकथन उपर्युक्त सभी विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए मिलेंगे।

(१) पहला लीजिए। कथोपकथनों द्वारा कथा को अग्रसर करने का काम अनेक स्थलों पर लिया गया है। (१) मथरा कैकेयी सवाद (२) दशरथ-सुमत सवाद (३) राम-निषाद सवाद (४) वशिष्ठ-भरत सवाद (५) उर्मिला-सखी सवाद आदि। यह प्रधान गुण है। प्राय. जो भी कथोपकथन होगा—यदि दूसरों पर प्रकाश डाले या चमत्कार उत्पन्न करे, कथा को तो अग्रसर करेगा ही!

द्वितीय सर्ग के आरभ में मथरा ने जितना तीन पृष्ठों में कहा है उतना एक पृष्ठ में भी कहा जा सकता था। किन्तु एक तो वह धीरे धीरे पीठिका तैयार करती है, रानी का मन अपनी ओर करती है, तब अन्त में पूरा प्रभाव समझ लेने पर अभीष्ट बात कहती है। एक दम आकर कह देती तो न पाठक पर अभीष्ट प्रभाव पड़ता न कैकेयी ही उसे राज महल में रहने देती। उसका वाक्य—

'भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह।'

उसके मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। इस कथोपकथन ने कथा-वस्तु को

राम के बनवास तक अग्रसर किया है क्योंकि तभी रानी को संतोष होता है। उसका मान करना, दशरथ का पूछना, वरदान माँगना, दशरथ का रात भर सोच, दूसरे दिन उसे समझाना, राम का माताओं से विदा माँगना और सुमंत द्वारा सीमांत में पहुँचाए जाने तक की कथा मूल में इस कथोपकथन से बढ़ती गई है।

दशरथ को सुमंत का मौन रहना ही खल जाता है—

'बोले फिर वे कि—कहाँ छोड़ा,
ले चलो मुझे कि जहाँ छोड़ा।
मुझको भी वहीं छोड़ आओ;
वह रामचन्द्र मुख दिखलाओ !'

यह कथोपकथन केवल कथा को बढ़ाने के लिए है। इसी प्रकार वशिष्ठ का यह लंबा उपदेश दिया तो भरत को, गया है पर मुख्यतः कथा को अग्रसर करने के लिए है—

'हम रुकें क्यों चल रही है साँस,
गति न बिगड़े, दे नियति भी आँस।
विघ्न तो हैं मार्ग के कुश काँस,
फँस न जावे इस हृदय में फाँस।
तात, जीवन गीत सुनकर काल;
नाचता है आप देकर ताल॥
सुगति होती है तभी यह अप्त;
प्रलय में भी लय रहे निज व्याप्त !
उठ खड़े हों निज पदों पर आज;
धैर्य धारें स्वजन और समाज !
वीर देखो उस प्रजा की ओर;
चाहती है जो कृपा की कोर !'

(२) 'साकेत' के कथोपकथन दूसरे चरित्रों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। इसके अन्तर्गत लिए जा सकते हैं (१) कैकेयी-राम का संवाद (२) माण्डवी-भरत का संवाद (३) दशरथ-कैकेयी का संवाद (४) राम-जावालि का [illegible] आदि।

"नहीं चौदह बरस वन में रहेगा !" द्वारा दशरथ का [illegible] निष्ठुरता, राम की कोमलता एक साथ व्यंजित हुई है। [illegible] ी का

'यदि मैं उकसाई गई भरत से

और— 'तुम हलके कब थे ?–हँसी कैकयी रोई !'
क्रमशः भरत और राम के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं।

राम-जावालि का कथोपकथन तो ३० पंक्तियों से भी अधिक हुआ है मानो दोनों ने उत्तर प्रत्युत्तर देने का निश्चय सा कर दिया हो ! माण्डवी के कथन द्वारा भरत की कर्मण्यता, दृढ़ता, कर्त्तव्य परायणता पर प्रकाश पड़ता है—

'ऐसे ही अगणित यत्नों से तुम्हें जगत ने पाया है—
उस पर तुम्हें न हो, पर उसको तुम पर ममता माया है !
नाथ, न तुम होते तो यह व्रत कौन निभाता, तुम्हीं कहो ?
उसे राज्य से भी महार्घ धन देता आकर कौन अहो !
मनुष्यत्व का सत्व - तत्व यों किसने समझा बूझा है ?
सुख को लात मार कर तुमसा कौन दु.ख से जूझा है ?'

(३) 'साकेत' में पात्रों के कथोपकथन स्वयं अपने चरित्र पर सर्वाधिक प्रकाश डालते हैं। प्रथम सर्ग से द्वादश सर्ग तक इन्हीं की संख्या अधिक मिलेगी। (१) लक्ष्मण-उर्मिला का संवाद (२) कैकेयी-दशरथ का संवाद (३) दशरथ सुमंत का संवाद (४) राम-कौशल्या का संवाद। (५) भरत-राम का संवाद (६) भरत शत्रुघ्न का संवाद (७) उर्मिला नागरिकों का संवाद आदि।

राम अपने स्वभावानुसार गम्भीर, शान्त व उदार हैं, लक्ष्मण कर्त्तव्य निष्ठ हैं, उग्र भी हैं। दशरथ मोह में ही पड़े रह कर सुरधाम चले जाते हैं, उर्मिला-भरत आशावाद में अपने आराध्य-युग्मों की बाट जोहते-जोहते १४ वर्षों की कठोर साधना करते हैं। उदाहरण लीजिए—

(१) 'तब कहा सौमित्रि ने कि 'यही सही,
तुम रहो मेरी हृदय देवी सदा।
मैं तुम्हारा हूँ प्रणय सेवी सदा।'
फिर कहा—'वरदान भी दोगी मुझे ?
मानिनी कुछ मान भी दोगी मुझे ?'
उर्मिला बोली कि —'यह क्या धर्म है ?
कामना को छोड़कर ही कर्म है ?'

(२) 'कहा लेकर नृप ने नि श्वास—दिलाऊँ मैं कैसे विश्वास ?
परीक्षा कर देखो कमलाक्षि, सुनो तुम भी सुरगण चिर साक्षि !
सत्य से ही स्थिर है संसार, सत्य ही सब धर्मों का सार।
राज्य ही नहीं प्राण-परिवार, सत्य पर सकता हूँ सब वार।'

(३) 'भूपति ने आँखें खोल कहा—यह कौन है कि जो बोल रहा ?
कौसल्ये धन्य राम मातः ; क्या कहूँ हाय रे धिक धातः !
यह शोक कहाँ तक रोकूँ मैं ? किस मुँह से तुम्हें विलोकूँ मैं ?
हा, आज दृष्टि भी कहाँ गई, वह वधू जानकी जहाँ गई !'

ऐसे ही भरत का कैकेयी के सम्मुख कौशल्या के सम्मुख हृदय सम्पूर्ण मानवीय गुणों से भरा हुआ व्यक्त हुआ है। कभी तो सवाद ऐसे खटाखट चलते हैं मानो विद्यार्थियों की तरह पात्रों ने उन्हें घोट रक्खा हो और अन्ताक्षरी या वाद-विवाद प्रतियोगिता (debate) में दनादन बोले जा रहे हों। यह मानना पड़ता है कि कहीं-कहीं गुप्त जी को कथोपकथनों से विशेष मोह हो गया है और वे कथा-प्रवाह में व्यवधान पैदा कर देते हैं। 'यशोधरा' सिद्धराज' में भी, 'नहुष' 'द्वापर' में भी सवाद इसी तरह के हैं। बस पात्रों ने बोलना आरम्भ किया नहीं कि रिकार्ड की तरह अविराम धारावाहिक रूप से गतिशीलता प्रदर्शित करते हैं। हाँ जहाँ गुप्त जी ने निश्चय नहीं किया कि पात्रों को बोलने पर बाध्य ही नहीं कर देंगे—वहाँ कथोपकथन सप्राण पाठकों का हृदय-स्पर्श करने की क्षमता आ जाती है। सब मिला कर गुप्त जी को कथोपकथनों में केशव की तरह अभूतपूर्व सफलता मिली है।

कथोपकथनों में प्रवाह और शक्ति का यह उदाहरण देखिये जिसका एक एक शब्द हृदय में चोट करता है—

'दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?
पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?
घोर नरकानल चिरन्तन चण्ड,
किन्तु वह तो है यहाँ हिम खण्ड !
चण्डि ! सुन कर ही जिसे, सातंक;
चुभ उठें सौ विच्छुओं के डंक !' '

तीक्ष्णता, व्यंग्य, आवेश, उत्साह, खेद—सभी कुछ इन कथोपकथनों से व्यंजित हो जाते हैं।

इस प्रकार गुप्त जी चरित्र चित्रण और कथोपकथन दोनों में सफल रहे हैं।

७—साकेत में प्रकृति चित्रण

प्रकृति मनुष्य को सदा अनुप्राणित करती रही है प्रकृति की स्वच्छंद गोद में ही वह बढ़ा, प्रकृति के सौंदर्य पर मुग्ध हुआ, कभी गर्जन तर्जन द्वारा उसे भय हुआ। उसने कभी प्रकृति पर अपने भावों की झलक देखी, तो कभी प्रकृति के अनुकूल अपने भावों को देखा। जब साहित्य में वह अपनी भावाभिव्यक्ति करता या तो प्रकृति सम्बन्धी उद्‌गार उसके व्यक्त होते ही। अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल उन्होंने प्रकृति का विधान करना आरम्भ किया। प्रकृति ने मानव जीवन के सभी क्षेत्रों पर प्रभाव डाला। वैज्ञानिक ने उसके तत्व खोजकर उस पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा की—आज तक करता जारहा है। भक्त लोगों ने उसे नाम रूप गुणों से युक्त मानकर परमात्मा का एक पक्ष माना। ज्ञानी ने प्रकृति को मिथ्या कहा—

> 'असत असार या पसार में हमारी जान,
> जन भरमाए सदा, ऐसे रहिबो करें।'

तो कवि ने उसमें भाव-मग्न होने की क्षमता पाई। वर्ड्सवर्थ का तो यहाँ तक विश्वास था कि छोटे से छोटा फूल बड़े से बड़ा विचार उत्पन्न करा सकता है तथा—

> "One impulse from the vernal wood
> Can teach you more of man
> Of moral evil and of good
> Than all the sages can"

अँग्रेजी काव्य का सारा रोमांटिक काल, बल्कि वर्डस्वर्ड से लेकर टेनीसन तक, प्रकृति की रम्य-गोद में पला है। कवियों को नदी से कहीं प्रेरणा मिलती है तो कहीं भ्रमर गीत गाते हैं और कहीं तारों से संदेश भेजा जाता है। कहीं तो प्रकृति एकाकी मन में टीस जगा देती है—

"The lightening of the noon-tide ocean
Is Heshing round me and a tone
Arises from its mlesured motion
How sweet did any heart now share in my emodtion
—P. B Shelley

हिन्दी का कवि भी आदि-काल से प्रकृति के अंचल में घोर गर्जन, दामिनी की दमक, उत्तुंग लहरों का नृत्य और शीतल चन्द्रातप का प्रसार देखता आया है। आरम्भिक काव्यों में प्रकृति-वर्णन दो ही रूपों में मिलता है—उद्दीपन रूप तथा अलंकरण रूप में। संयोग वियोग का वर्णन करता हुआ तो नायक नायिका को प्रकृति के बीच बिठा दिया। भ्रमर, कमल, चन्द्र, मोर, मीन, हंस, शुक, पिक न मालूम कितनी बार उपमान बन कर आए हैं। कौन गिन सकता है? विद्यापति से लेकर पद्माकर तक का सारा शृंगार इन्हीं से भरा पड़ा है। तब हिन्दी कवि के लिए प्रकृति की उपयोगिता शायद इतने से अधिक थी भी नहीं।

भारतेन्दु युग में अन्य क्षेत्रों की भाँति प्रकृति चित्रण के सम्बन्ध में भी परिवर्तन हुआ। भले ही भारतेन्दु का झुकाव उच्च महालिकाओं, मनोहर घाट बाटों की ओर ही प्रधानतः रहा—उनके गंगा यमुना के वर्णन भी प्रकृति प्रेम का अभाव ही सूचित करते हैं—फिर भी उनके समकालीन अनेक भावुक कवि गणों की दृष्टि प्रकृति के नाना रूपों की ओर जाने लगी थी।" बाबू हरिश्चन्द्र, पंडित प्रतापनारायण आदि कवियों और लेखकों की दृष्टि और हृदय की पहुंच मानव क्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के अपर क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहन सिंह जी ने नर-क्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेल में देखा है।" फिर प्रकृति अधिकाधिक काव्य क्षेत्र में लाने की एक प्रवृत्ति जैसी चल ही पड़ी। हिन्दी कविता पर बँगला द्वारा पश्चिमी कविता का प्रभाव भी पड़ा। रवीन्द्र स्वयं प्रकृति में रहस्यानुभूति के दर्शन करने को सन् १६१३ के उपरान्त हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति बढ़ती गई। 'प्रिय प्रवास' का प्रत्येक सर्ग प्रायः प्रकृति वर्णन से आरम्भ होता है, 'कामायनी' की प्रत्येक घटना प्रकृति के अंचल में घटी है। 'पंत' और 'निराला' ने प्रकृतिगत अनुभूति की और गहराई दे दी। गुप्त जी भी इस परम्परा से प्रभावित हुए। अभी तक हिन्दी में प्रकृति वर्णन प्रधानतः इन रूपों में पाया जाता है (१) आलम्बन रूप में (२) उद्दीपन रूप में (३) अलंकार रूप में (४) भावों की पृष्ठभूमि के रूप में (५) उपरोक्त सत्ता की अभिव्यक्ति के

रूप में (६) मानवीकरण रूप में (७) चित्रों के रूप में। 'साकेत' के प्रकृति-चित्रण में ये सभी रूप मिलते हैं।

(१) आलम्बन रूप—जब प्रकृति का वर्णन यथातत्थ रूप में होता है। कवि प्रकृति की ही भावनाओं का आधार बनता है, प्रकृति साध्य होती है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है। प्रथम सर्ग में कवि अयोध्या नगरी का, सरयू का वर्णन करता है—

'स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
किन्तु सुर-सरिता कहाँ, सरयू कहाँ?''''
दीखते उनसे विचित्र तरंग हैं,
कोटि शक्र-शरास होते भंग हैं''' ।
तीर पर हैं देव-मन्दिर सोहते,
भावुकों के भाव मन को मोहते।
आस पास लगीं वहाँ फुलवारियाँ,
हँस रही हैं खिलखिला कर क्यारियाँ!'

पंचम सर्ग में वर्णन—

'जिसकी शृंगावली विचित्र बढ़ी-चढ़ी;
हरियाली की भूल, फूल पत्ती कढ़ी
क्षिप्त सलिल कण किरणयोग पाकर सदा,
वार रहे हैं रुचिर रत्न-मणि संपदा।
वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा,
किसे न होगा यहाँ हर्ष विस्मय बड़ा!'

हिन्दी कविता के वर्तमान काल में कवियों की दृष्टि प्रकृति के इस आलंबन रूप की ओर अधिक गई है। गुप्त जी की रचनाओं 'पंचवटी', 'सिद्धराज' में भी इसके सुन्दर उदाहरण हैं। 'पञ्चवटी' तो विशेषकर कवि की नैसर्गिक प्रकृति-प्रियता का बोध कराती है। उसमें वातावरण भी विस्मयजनक है। प्रकृति के बाह्य अन्तर पक्षों का समन्वय मिलता है। उसका आरम्भ ही—

'चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में!'

से होता है। 'सिद्धराज' का आरम्भ "सन्ध्या हो रही है"—से होता है। साकेत के द्वादश सर्ग में भी प्रकृति का यही रूप मिलता है—

'सफल सौध-भू पटल व्योम के अटल मुकुर थे;
उडुगन अपना रूप देखते टुकर टुकुर थे।

फहर रहे थे केतु उच्च अट्टों पर फर फर;
ढाल रही थी गंध मृदुल मारुत-गति भर भर।
स्वयमपि संशयशील गगन घन नील गहन था,
मीन-मकर, वृष-सिंह पूर्ण सागर या वन था॥
झोंके झिलमिल झेल रहे थे दीप गगन के;
खिल खिल, हिल मिल खेल रहे थे दीप गगन के!'

(२) उद्दीपन रूप—गुप्त जी ने उर्मिला के वियोग चित्रण में कुछ प्रकृति चित्र उसकी भावनाओं को उद्दीप्त कर देने के रूप में अंकित किए हैं। इस विधि में प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती वह साधन हो जाती है। उसका वर्णन किसी और वस्तु के लिए होने लगता है। हिन्दी काव्यों में यह पक्ष प्रधान रहा है। सूर, नंददास, सेनापति का प्रकृति चित्रण इसी के अन्तर्गत है। इसका कारण यह रहा कि प्रकृति वातावरण उपस्थित करने के साथ-साथ अनुभूति को भी तीव्र करती है। अपने यहाँ प्राचीन काव्यों में प्रकृति का आलंबन रूप में चित्रण इसलिए कम हुआ कि प्रकृति के प्रति अलग—आलंबन रूप में रस का उत्पादक न होकर भाव का उत्पादक माना गया है। प्रकृति विषयक रति को आचार्यों ने भाव माना अर्थात् प्रकृति के इस रूप चित्रण होने से उनके मतानुसार रसानुभूति नहीं हो सकती जो काव्य का लक्ष्य है—बल्कि भावानुभूति हो सकती है।

'साकेत' के नवम् सर्ग में इसके उदाहरण मिल सकते हैं—

'चन्द्रकान्त मणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार!'

× × × ×

'धर कर धरा धूप ने धाँधी—धूल उड़ाती है यह आँधी।
प्रलय आज किस पर कटि बाँधी? जड़ न बनो दिन बीती!'

इस सम्बन्ध में गुप्त जी ने विशेषता यह रक्खी है कि प्रकृति के उपादानों को उद्दीपन की अपेक्षा वियोगिनी की भावनाओं के मेल में रख दिया है। उसकी सहानुभूति प्रकृति तक विस्तृत करा दी गई है इसे बिंब प्रतिबिंब भाव कहा जा सकता है—

'विहग उड़ना भी ये हो बद्ध भूल गए, अये;
यदि अब इन्हें छोड़ूँ तो और निर्दयता दए।
परिजन इन्हें भूले, ये भी उन्हें मन, हैं वहे,
बस अब हमीं साथी संगी, सभी इनके रहे!'

इस सम्बन्ध में गुप्त जी ने स्वयं लिखा है— साधारणतः विरह वर्णन देखा जाता है कि विरही जन सारे उद्दीपन विभावों को उपालंभ देकर

करते हैं। द्विजराज चन्द्रमा तक को कसाई कह देना तो कोई बात ही नहीं, और भी न जाने क्या क्या नहीं कहा जाता। किन्तु उर्मिला इस विचार के विरुद्ध मानो विद्रोह करती है। वह सब का स्वागत करती है। इस कारण प्रकृति की शोभा में उसको अपने प्रियतम की आभा दिखाई देती है—कभी वह चक्रवाक की सान्त्वना देती है, कभी कोयल को धैर्य धराती है, कभी लता को अवसर से लाभ उठाने के लिए प्रेरित करती है, कभी कली को शिक्षा का पाठ पढाती है। मकड़ी और मक्खी भी उसकी सहानुभूति से वंचित नहीं। अपने रुदन से वह एक पत्ता भी सूखा नहीं रहने देना चाहती, और उसे सरस बनाने के लिए अंचल पसार लेती है।"

उद्दीपन रूप में प्रकृति मध्य युगीन कविता में यथेष्ट चित्रित हो चुकी थी, अतः गुप्त जी ने उसमें परिवर्तन कर दिया है।

३ अलकरण रूप :—इस प्रकृति में शारीरिक गुणों के लिए प्रकृति के विषय उपादान रूप में आते हैं। 'साकेत' में इनकी प्रचुरता है। अरुण पट पहने हुए उर्मिला को प्रकट मूर्तिमती उषा सी बताया गया है। लक्ष्मण के हाथों से वह चचला सी छिटक कर छूटती है। पृथ्वी पर झुका हुआ उसका मस्तक अर्ध-चन्द्र-सा मालूम पड़ता है। प्रिय के नेत्रों, अधरों के लिए रूपकातिशयोक्ति का एक प्रयोग देखिए—

'निरख सखी ये खंजन आए,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाए!
फैला उनके तप का आतप, मन से सर सरसाए,
घूमे वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड छाए।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाए,
फूल उठे है कमल, अधर के ये बंधूक सुहाए।
स्वागत, स्वागत शरद, भाग्य के मैंने दर्शन पाए,
नभ ने मोती वारे, लो ये अश्रु अर्घ्य भर लाए!'

× × × ×

'जान पडता नेत्र देख वडे वडे–हीरकों मे गोल नीलम हैं जडे।
पद्मरागो से अधर मानो वने, मोतियों से दाँत निर्मित हैं घने!'

'जयद्रथ वध' से एक उदाहरण लीजिए—

'विषधर वनेगा रोप मेरा खल तुझे पाताल में,
दावाग्नि होगा विपिन मे, वाड़व जलधि जल जाल मे।

जो व्योम में तू जाएगा, तो वज्र वह वन जाएगा;
चाहे जहाँ जाकर रहे, जीवित न तू रह पाएगा !'

४. भावों की पीठिका:—प्रकृति का वस्तुतः सबसे अधिक महत्व वातावरण उपस्थित करने में होता है। हत्या के समय, प्रेम विकास के समय एक ही चित्रण नहीं हो सकता। "There are certain places which cry aloud for murder, certain old houses demand to be haunted and there are certain coasts which cry aloud for murder."*

गुप्तजी ने इस उपयुक्त वातावरण-निर्माण में प्रकृति से बहुत सहायता ली है। पात्र अपने भावों के मेल में प्रकृति को देखते हैं। उर्मिला क्षुब्ध है अतः प्रकृति भी उसे क्षुब्ध मालूम पड़ती है। रात्रि का निविड़ अन्धकार उसकी वेदना को और बढ़ा देता है।

दशरथ की मृत्यु पर राज-भवन में चारों ओर शोक छा गया। गुप्त जी ने इन व्यापारों का प्रकृति पर भी आरोप कर दिया—

'बस यहीं दीप निर्वाण हुआ, सुत-विरह वायु का बाण हुआ।
घुँधला पड़ गया चन्द्र ऊपर, कुछ दिखलाई न दिया भू पर॥
अति भीषण हा हा कार हुआ, सूना सा सब संसार हुआ !'

मानो प्रकृति को भी दशरथ की मृत्यु पर शोक हो रहा हो। आर्नल्ड ने भी सोहराब की मृत्यु होते समय प्रकृति का ऐसा ही चित्र उपस्थित किया है—

"And you would pay that sun and stars took part,
In that unnatural conflict; for a cloud
Grew suddenly in Heaven, and darkened the sun
Over the fighter's heads, and a wind rase
Under their feet, and moaning swept the plain
And in a sandy whirlwind wrapped the pair." ×

'साकेत' में इसके और वर्णन देखिए। ! रात्रि में लक्ष्मण जाग कर पहरा देते हैं। यहाँ प्रकृति उस करुणा की व्यञ्जक है कि जो राम सीता महलों में निवास करते थे आज वृक्षों के नीचे पड़े हैं—

* R. L Stevenson.

× 'Sohrab And Rustam'—Arnold.

'देव मूर्ति वे राज मंदिरों के पले,
कुश शय्या पर आज पडे थे तरु तले।
घरक रही है सॉय सॉय कर रात भी,
मानो लय मे लीन तरंगाघात भी।
तब भी लक्ष्मण घूम रहे हैं जाग कर,
निद्रा का निज तुच्छ भाग तक त्याग कर।'

यहाँ प्रकृति करुणा को और गहरा कर देती है।

चित्रकूट की महान सभा बैठने वाली है। प्रकृति द्वारा उसके उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार की गई है—

'तदनंतर बैठी सभा उटज के आगे,
नीले वितान के तले दीप बहु जागे।
टकटकी लगाए नयन सुरों के थे वे,
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे।
उत्फुल्ल करौंदी-कुंज वायु रह रह कर,
करती थी सबको पुलक पूर्ण मह मह कर।
वह चन्द्र लोक था, कहाँ चाँदनी वैसी,
प्रभु बोले गिरा गभीर नीर-निधि जैसी।'

इसी तरह एकादश सर्ग आरंभ में प्रकृति की पीठिका देते हुए भरत की कर्त्तव्य परायणता का वर्णन किया गया है—"सौधपार्श्व में पर्ण कुटी है . . . आदि। युद्ध के हेतु तैयार होने के पूर्व उन्निद्र साकेत नगरी की एक झाँकी भी प्रकृति की पीठिका देते हुए की गई है—

'नागरी थी निस्तब्ध पड़ी क्षणदा छाया में,
भुला रहे थे स्वप्न हमें अपनी माया में' . . ।'

'सिद्धराज' में भी प्रकृति द्वारा उपयुक्त वातावरण तैयार किया गया है—

रात हो चुकी थी, दीप दीपित था पौर में,
काँपती शिखा सी लिए आँगन मे रूपसी।
रानकदे संकुचित और नत थी खडी,
था खंगार सम्मुख सजीव एक चित्र सा।
देखती थी ऊपर अनंत तारा मण्डली,
द्वन्द्व जगती का यह, नीरव निस्पंदता।'

'साकेत' का उर्मिला को प्रिय-वियोग में समय काटना भी कठिन हो गया

है। सुबह होती है, शाम होती है और दिन बीत जाता है। यहाँ भी प्रकृति गत करुणा है—

'रीता दिन बीता रात हुई, ज्यों त्यों वह रात प्रभात हुई।
फिर सूनी सूनी साँझ हुई, मानो सब वेला बाँझ हुई!'

न तो दिन "रीता" ही होता है न समय "बाँझ" ही, लेकिन उर्मिला उन पर अपने मनोभावों का आरोप कर लेती है।

'प्रिय प्रवास' में भी प्रकृति द्वारा विषाद की पृष्ठभूमि उपस्थित की गई है। कृष्ण जाने वाले हैं अतः सूर्य भी छिपता छिपता चढ जाता है—रात तामसी हो जाती है—

'आई वेला हरि गमन की छा गई खिन्नता सी,
थोड़े ऊँचे नलिन पाते ही जा छिपे पादपों में।
'आये सारे स्वजन करके साथ अक्रूर को ले,
धीरे धीरे सज्जनक कढ़े सद्म में से मुरारी!'

या द्वितीय सर्ग का एक प्रकृति वर्णन लीजिए—

'गत हुई अब थी द्वि घटी निशा,
तिमिर पूरित थी सब मेदिनी।
अति अनूपमता संग थी लसी,
गगन के तल तारक-मालिका!
तम ढके तरु थे दिखला रहे,
तमस पादप से जन वृंद को।
सकल गोकुल गेह समूह भी;
तिमिर निर्मित सा इस काल था!'

५. मानवीकरण रूप :—इसमें प्रकृति को मानव रूप दे दिया जाता है। उसे भी पात्र भावानुकूल सजीव सत्ता मान लेते हैं। 'साकेत' में कहीं तो कवि ने स्वयं इस रूप में प्रकृति वर्णन किया है कहीं पात्रों द्वारा कराया है। प्रथम सर्ग में रात्रि रूपी नायिका का गमन पहला रूप है, उषा को भी नायिका रूप में लाया गया है—

'सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ;
किंतु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले.......।

वेष भूषा साज उषा आ गई,
मुख कमल पर मुस्कराहट छा गई।
पक्षियों की चहचहाहट हो उठी,
चेतना की अधिक आहट हो उठी……।'

प्रसाद ने भी उषा रात्रि पर नायिका का आरोप किया है। ऊषा सोने के तीर बरसाती हुई उदय होती है तो रात्रि पगली भिखारिन की तरह अस्तव्यस्त तारों के रूप में अपनी मणियाँ लुटा चलती है—

'फटा हुआ था नील वसन क्या ओ यौवन की मतवाली।
देख, अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली भाली!'

निराला की 'संध्या सुन्दरी' कविता तो मानवीकरण का प्रसिद्ध उदाहरण है।

गुप्त जी ने द्वादश सर्ग में सारी अयोध्या नगरी को ही वासक सज्जा नायिका बना दिया है!

'मज्जन पूर्वक सुधा नीर से पुरी नहाई।
उस पर उसने वर्ण वर्ण की भूषा पाई॥
लिख बहु स्वागत वाक्य सु परिचय दे रति मति का।
वासक सज्जा बनी देखती थी पथ पति का!'

इससे अच्छा उदाहरण मानवीकरण का 'साकेत' में और क्या हो सकता है? ये तो अभी मूर्त वस्तुएँ हैं, गुप्त जी ने नींद जैसी अमूर्त वस्तु का भी मूर्तीकरण कर दिया है। 'प्रिय प्रवास' में भी यह मानवीकरण है—

'अचल के शिखरों पर जा चढ़ी, किरण पादप शीश विहारिणी।
तरणि बिंब तिरोहित हो चला गगन मण्डल मध्य शनैः शनैः॥'

दूसरा प्रकार है जहाँ स्वयं पात्र भावों का विस्तार करते हुए प्रकृति द्वारा तादात्म्य स्थापित करते है। सीता ने, उर्मिला ने ऐसा किया है। भावोत्कर्ष में उर्मिला प्रकृति को सखी-सी बना लेती है—

'अरी सुरभि! जा, लौट जा, अपने अंग सहेज,
तू है फूलों मे पली, यह काँटों की सेज!'

× × × ×

'चातकि! तुझको आज ही हुआ भाव का भान,
हा! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान!'

इसी प्रकार "भूल पड़ी तू किरण कहाँ?" तथा—

'तप में तू भी कम नहीं, जो जुगनू बड़ भाग,
भवन भवन में दीप हैं, जा वन वन में जाग !'

आदि पंक्तियां भी हैं। Ruskin ने निर्जीव वस्तुओं में मानवीय गुणों की संभावना करने को संवेदना का हेत्वाभास कहा है।

हरिऔध की राधा ने भी प्रकृति के साथ आत्मीयता स्थापित की है—

'पीड़ा नारी हृदय तल की नारी ही जानती है,
जूड़ी तू ही है विकच वदना शांति तू ही मुझे दे !'

× × × ×

'अलि, अब मत जा तू कुंज में मालती थी,
सुन मुझ अकुलाती ऊबती की व्यथाएँ !' (प्रिय प्रवास)

६. चित्ररूप :—गुप्त जी ने प्रकृति के विराट चित्रों को लघु रूप में और कहीं लघु चित्रों को विराट रूप में भी चित्रित किया है।

'तप में क्षिप्त-लोक सुप्त यों, अलि नीलोत्पल में प्रसुप्त ज्यों !'

सारी साकेतपुरी घनीभूत अंधकार में इस प्रकार सोई है जिस प्रकार एक भ्रमर नीले कमल में सोया रहता है। यह विराट का लघुकरण है। ऐसे ही ये उदाहरण हैं—

(१) 'हुआ विदीर्ण जहाँ तहाँ श्वेत आवरण जीर्ण,
व्योम शीर्ण कंचुक धरे विषधर सा विस्तीर्ण !'

(२) 'वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा !'

(३) 'फैल गया आलोक, दूर हो गया अँधेरा-
रवि ने अपना पद्म प्रफुल्लित होता हेरा;
चमक उठा हिम सलिल रात भर बहते बहते !'

ये तो प्रकृति के स्थिर चित्र हैं, गुप्त जी ने गत्यात्मक चित्र भी प्रस्तुत किए हैं—

'अरुण संध्या को आगे ठेल, देखने को कुछ नूतन खेल।
सजे विधु की बेंदी से भाल, यामिनी आ पहुँची तत्काल !'

और ऐसा ही यह चित्र भी है जब चाँद हँसता हुआ छिप जाता है—

'मूँदे अनंत ने नयन धार वह झाँकी.
शशि खिसक गया निश्चित हँसी हँस बाकी।'

(७) बिंबग्रहण—कहीं गुप्त जी ने प्रकृति चित्रण इस तरह किया है मानो वह स्वयं अपनी साधना में मस्त कार्य करती जा रही हो। जैसे सत्यनारायण कविरत्न ने लिखा था—"तुझी से मिलने की धुन में नदियाँ निनाद करती

ही जा रही है, उसी प्रकार उर्मिला सखी से नदी की धारा देखने को कहती है—

'सखि, निरख नदी की धारा।
ढल मल, ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भरके।
उछल उछल कर छल छल करके।
थल थल तरके, कल कल करके, बिखराता है पारा!'

इसके अनेक उदाहरण हैं। 'साकेत' में प्रकृति का अर्थ ग्रहण पंचम सर्ग के एक स्थान पर मिलता है बस। प्रधानता बिंब ग्रहण की है—

'कहीं खडे थे खेत, कहीं प्रांतर पडे,
शून्य सिंधु के द्वीप गॉव छोटे बडे।
पथ के प्रहरी वृक्ष झूमते थे कहीं,
खग मृग चरते हुए घूमते थे कहीं।
छोटी मोटी कहीं कहीं थीं झाडियॉ,
बनी शशादिक हेतु प्राकृतिक बाडियॉ।'

(८) परम्परागत रूप—इसके अन्तर्गत 'साकेत' का षड्ऋतु वर्णन आता है जिसका विधान नवम् सर्ग में हुआ है। ग्रीष्म से आरम्भ होकर बसंत ऋतु वर्णन में समाप्त होता है। बसंत जिस प्रकार नवीन वर्ष का शुभ सूचक है, उसी प्रकार उर्मिला के जीवन में आशाप्रद भी है। अतः गुप्त जी ने बसन्त से आरम्भ करने की अपेक्षा ग्रीष्म से किया है। संस्कृत काव्यों में, हिन्दी काव्यों में इस प्रकार प्रकृति विधान अधिक हुआ है। ऋतु वर्णन भी यहाँ सकारण हैं। इनके वर्णन की विशेषता यह है कि ऋतु के अनुकूल गुण भी व्यंजित होते हैं। ग्रीष्म के समय शुष्कता, पावस के समय आर्द्रता, शरद के समय कोमलता आदि उनके वर्णनों के साथ-साथ प्रकट होते हैं।

(१) ग्रीष्म-ऋतु—

'आकाश जाल सब ओर तना, रवि तंतु वाय है आज बना।
करता है पद प्रहार वही—मक्खी सी भिन्ना रही मही।
या तो पेड उखाडेगा, या पत्ता न हिलाएगा।
बिना धूल उडाए हा! ऊष्मानिल न जाएगा।'

(२) पावस-ऋतु—

'मेरी ही पृथिवी का पानी,
ले ले कर यह अंतरिक्ष सखि
आज बना है दानी।

मेरी ही धरती का धूम
बना आज आली, घन घूम
गरज रहा गज सा झुक झूम
ढाल रहा मद मानी........ !'

(३) शरद-ऋतु—

'अंबु, अवनि, अंबर में स्वच्छ शरद की पुनीत क्रीड़ा सी,
पर सखि, अपने पीछे पड़ी अवधि पित्त पीडा सी !'...

(४) हेमंत ऋतु—

'सी सी करती हुई पार्श्व में पाकर जब तब मुझको,
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको !
कंबल ही संबल है अब तो,
ले आसन ही आज पुनीत।
आया यह हेमन्त दया कर,
देख हमें संतप्त सभीत !'

(५) शिशिर-ऋतु—

'करती है तू शिशिर का बार बार उल्लेख,
पर सखि मैं जल सी रही, धुआँधार यह देख !
सचमुच यह नीहार तो अब तू तनिक निहार,
अंधकार भी शीत से श्वेत हुआ इस बार........ !'

(६) वसंत-ऋतु—

'काली काली कोयल बोली,
होली होली होली !
हँस कर लाल लाल होठों पर हरियाली हिल डोली,
फूटा यौवन फाड़ प्रकृति की पीली पीली चोली.... !'

'साकेत' में प्रकृति चित्रण की एक और विशेषता मालूम पड़ती है। इसकी कथा का आरम्भ भी प्रकृति वर्णन से हुआ है और अन्त भी। उषा से आरम्भ करना तथा संध्या में समाप्त करना भी मंगलमय है। आरम्भ की पंक्तियाँ हैं—

'खुल गया प्राची दिशा का द्वार है—
गगन सागर में उठा क्या ज्वार है.... !'

बिल्कुल अन्त की पंक्तियाँ हैं—

'स्वच्छतर अम्बर में छन कर आ रहा था,
स्वादु मधु गंध से सुवासित मधुर सोम.... ।
समुदित चन्द्र किरणों का चौंर ढारता था,
आरती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम !'

इस प्रकार 'साकेत की कथा का आरम्भ और समाप्ति दोनों ही प्रकृति के शुभ शान्त अंचल में होते हैं। पहले भी मधुर स्निग्ध वातावरण और बाद में भी। इस प्रकार प्रकृति एक शान्तिप्रद रूप में (Healer) भी उपस्थित होती है।

इस प्रकृति चित्रण में गुप्त जी ने देश काल का सर्वत्र ध्यान रखा है। परम्परा पालन के लिए दृश्य वर्णन किसी बगीचे में लगे हुए पेड़ पौधों के नाम गिनाने के समान नहीं है, उनका स्थान के अनुसार महत्व है।

गुप्त जी ने प्रकृति चित्रण में नवीन प्रवृत्तियों का समावेश ही नहीं किया अपितु उसको त्रुटियों की ओर संकेत भी किया। प्रकृति का उद्दीपनात्मक रूप उन्हें प्रिय नहीं। प्रकृति वर्णन उनके सदैव स्वाभाविक हैं। गुप्त जी प्रकृति के नाना रूपों से अपने हृदय का तादात्म्य शीघ्र स्थापित कर लेते हैं इसलिए उनमें प्रभावात्मकता आ जाती है। उनकी समन्वय भावना यहाँ भी मिलेगी। मनुष्य को प्रकृति में रमाया है—

'विश्व मे रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?'

तो प्रकृति को भी मनुष्य में रमाया है। मानव और प्रकृति में यह पारस्परिक सम्बन्ध सूत्र गुप्त जी ने ही आधुनिक महाकाव्यकारों में स्थापित किया है। 'साकेत' इसका प्रमाण है।

८—विरह वर्णन और राधा से तुलना

'विरह ! अहह कराहते इस शब्द को,
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा !' —पन्त

कहा जाता है कि गुप्त जी की कवि कल्पना का सबसे सुकुमार व करुण भाग उर्मिला देवी को मिला। सब रचनाओं को मिलाकर देखने में तो शायद यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत न हो, फिर भी 'साकेत' में अक्षरशः सत्य है। गुप्त जी के विरहोद्‌गार बड़े मर्मस्पर्शी हैं। उन्हें हम विप्रलंभ शृंगार का कवि कह सकते हैं। जो वेदना, जो कोमलता, जो सरसता और गम्भीरता तथा प्राचीनता के साथ जो नवीनता 'साकेत' में है वह आधुनिक हिन्दी कवियों में कम ही मिलेगी। उर्मिला के वियोग वर्णन को नागमती के वियोग वर्णन के उपरान्त हिन्दी × काव्य में वियोग शृंगार का एक उत्कृष्ट निरूपण माना जा सकता है।

विरह दुःखपूर्ण अवश्य है फिर भी प्राचीन काल से ही उसे महत्व अधिक दिया गया है; उसे वस्तुतः प्रेम की जागृति कहा गया है। कारण यह है कि अनुभूतियों का सर्वाधिक व्यापकता विरह में ही सम्भव होती है। वे मलिनता के धरातल से धीरे धीरे उठकर उदात्त, निष्कलुष होती जाती हैं और कवि को उनकी अभिव्यंजना द्वारा प्रवृत्तियों की अन्विति में बहुत सहायता मिलती है जो उसका ध्येय होता है। इस कारण मानव मात्र और कवि दोनों ने ही विरह को प्रधानता दी है। कालिदास ने कहा—

'स्नेहा दाहुः किमपि विरह व्यापदस्ते ह्यभोग्या।
दिष्टे वस्तुन्युप चित रसाः प्रेम राशी भवन्ति ॥'

तो आचार्य विश्वनाथ ने यहाँ तक कहा है कि बिना वियोग के संयोग पुष्ट ही नहीं होता—

'न विना विप्रलंभेन, संभोगः पुष्टि मश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ, भूयान्रागो विवर्धते !'

× इस अध्याय में मैंने रामचन्द्र शुक्ल के लेख से बहुत कुछ सहायता ली है।

अँग्रेजी में भी इसकी प्रधानता मानी गई है—

"And love is lovelest when embalmend in tears.'

और शैली का तो यह कथन प्रसिद्ध है ही—

"Our sweetest songs are those
That tell of the saooest thought."

हिन्दी कविता में विरह वर्णन का अध्ययन करते हुए एक विशेषता पर अवश्य ध्यान जाता है कि नारी के विरह पर ही कवियों की दृष्टि अधिक टिकी है। सस्कृत साहित्य में पुरुष के विरह वर्णन भी अत्यन्त कुशलता से वर्णित हैं। कारण चाहे जो रहा हो पर तथ्य यह है अवश्य। विद्यापति ने तो राधा को इतना रुलाया है कि प्रति क्षण माधव माधव रटती हुई वह स्वय माधवमय हो जाती है लोचन "फेग्राएल" होकर मार्ग देखते रहे लेकिन हरि नहीं आए और—

'एखन तखन करि दिवस गमाओल, दिवस दिवस करि मासा।
मास मास करि बरस गमाओल छोड़लु जीवन आसा।'

तक उसकी दशा हो गई। कबीर की विरहिनी आत्मा मार्ग में पथिकों से दिशा निर्देश चाहती है और सूर की गोपियों ने तो स्पष्ट ही कह दिया—"ऊधो विरहौ प्रेम करै।" अतः कृष्ण वियोग में वे उसी प्रकार तड़फड़ाना सतोषजनक समझती है। जायसी की नागमती-पद्मावती जगल के वृक्षों-पशुओं से अपना विरह निवेदन करती है लेकिन उत्तर कोई नहीं देता। रीतिकालीन कविता में विरह वर्णन भी रीतिग्रस्त हो गया। ऊहात्मक पद्धति द्वारा नायिका की वेदना उछल-कूद व्यक्त की जाने लगी। दो कदम के फासले पर कवियों ने वियोग की ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कराई हैं कि पढ़ कर बरबस हँसी आ जाती है। केवल घनानद और बोधा ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने पुरुष की वेदना का अत्यत मार्मिक वर्णन किया है। प्रेम मार्ग के ऐसे प्रवीण तथा धीर पथिक हिन्दी कवियों में कम हैं।

आधुनिक युग में अन्य क्षेत्रों की भाँति विरह वर्णन का भी सस्कार किया गया। उपहास के स्थान पर गम्भीरता, शालीनता लाने की चेष्टा हुई। वेदना को वाच्य न रखकर व्यजित किया जाने लगा अर्थात् अन्य उपादानों के वर्णन अपनी विरहानुभूति झलकाई गई। हरिऔध, गुप्त, प्रसाद, पत, महादेवी—सभी कवियों ने इसकी प्रधानता रक्खी है। 'साकेत' में उर्मिला का विरह वर्णन प्राचीन कवियों का प्रभाव लेकर चला है तो नवीन पद्धति का भी समाहार करता गया है।

उर्मिला पर दृष्टि इसलिए भी जाती है कि घटना क्रम में सबसे दुखी वही है। सीता, माण्डवी, श्रुतिकीर्ति सभी अपने-अपने पति देवों के साथ रहती हैं—बात करने का सहारा तो है! उसके लिए एक सखी तथा उद्यान के वृक्ष, पशु-पक्षियों को छोड़कर और कौन है! ये भी क्या उसकी मूलभूत वेदना का निवारण करने में समर्थ होते हैं? 'साकेत' में तो उन्होंने उर्मिला की वेदना तीव्र ही की है। और जीवन जगत के व्यक्त क्षेत्र में ही सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने वाले गुप्त जी यहाँ भावुक होते गये हैं—उर्मिला का एक-एक उद्गार जैसे पकड़ कर सामने रख दिया है। मानो पाठकों से कहते हों—लो देखो, मेरी कविता में शुष्कता उपदेश ही उपदेश खोजा करते हो। यह तरल काव्य-रस से स्निग्ध सिंचित उर्मिला रूपी पुष्प का मुरझाना भी देखो जो बाद में पुनः सप्राण हो गया है।

गुप्त जी ने तो 'साकेत' के किसी अन्य पात्र को गढ़ने में इतना कौशल दिखाया न अन्य किसी एक रचना में। वे निरन्तर कल्पना लोक में विहार करने वाले कवि नहीं रहे लेकिन यहाँ उनकी कल्पना कहीं कहीं गृद्धराज के पंख लेकर उड़ी है—विभिन्न दृश्य, अप्रस्तुत विधान इसके प्रमाण हैं। उसे खूब रुलाया और उनकी दृष्टि से यह आज भी अधूरा है। वियोग की मनोव्यथा का अन्त हो भी कैसे सकता है? तो हिन्दी कविता तथा कवि दोनों की दृष्टियों से उर्मिला विरह वर्णन महत्वपूर्ण है।

इस विरह का आरम्भ चतुर्थ सर्ग से मानना चाहिये जिसका मूल कारण है सेवा भाव तथा कर्त्तव्य भावना। वह पूछती है कि चलूँ या रहूँ! लक्ष्मण ने समझाया तुम्हारे रहते संकोच ही होगा। राम-सीता की सेवा में बाधा होगी तो उन्हें भी छोड़ जायँगे। इतना प्रिय के लिए सहना ही पड़ेगा।

'लक्ष्मण हुए वियोग जयी, और उर्मिला प्रेम-मयी।
वह भी सब कुछ जान गई, विवश भाव से मान गई!'

यहीं वह बीज है जिससे विरह अंकुरित होता है। नेत्रों से आँसू झरने लगते हैं। वह मन को समझाती है और १४ वर्ष के लिए दीर्घ व्यथा शिरोधार्य कर लेती है। नव वय में ही उसका विश्लेष हो जाता है।

विरह वर्णन की प्रवृत्तियाँ व विशेषताएँ इस प्रकार देखी जा सकती है—

(१) उपयुक्त पीठिका—काव्य कौशल की दृष्टि से हम विरह की पहली विशेषता है पीठिका पूर्वक चित्रण। उर्मिला नवम सर्ग में न जाने क्या-क्या बक जाती है, फिर भी हमें वह पागल की तरह उन्मत्त प्रलाप नहीं लगता क्योंकि गुप्त जी ने उसकी उपयुक्त पृष्ठ भूमि दी है जिसमें उसका स्वाभाविक विकास

हुआ है जो 'साकेत' की सर्व प्रमुख घटना है उसे कवि ने असंभाव्य नहीं होने दिया। षष्ठ सर्ग से कवि धीरे धीरे इसका विधान करता चला है—

'पुरदेवी सी यह कौन पड़ी ? उर्मिला मूर्च्छित मौन पड़ी,
किन तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई यह कुमुद्वती जल भिन्न हुई।'

वह अश्रुमय नेत्रों से भयातुर चारों ओर देखती है, सखियाँ उपचार करती हैं,। श्वेत कमल की भाँति नव वधू कुम्हला गई !

'मुख कान्ति पड़ी पीली पीली, आँखें अशांत नीली नीली।
क्या हाय ! यही वह कृश काया, या उसकी शेष सूक्ष्म छाया ?'

सुलक्षणा समझाती है अब धैर्य का अवसर है। उर्मिला भी आशा के सहारे जीवित है उसे निष्फल होकर भी बनाए रखना चाहती है—

'अब भी सुलक्षणे आशा है ? यदि है विश्वास-विनाशा है ?'

क्योंकि जिस व्रत का पालन करने वे गए हैं उसे अपूर्ण कैसे छोड़ आएँगे ! वही ऐसी अभागिनी रही जो साथ न दे सकी। धैर्य रखे तो कैसे रक्खे ?

'यह दीर्घ काल काटूँ जिससे, पूछूँ अब हाय ! और किससे ?'

एकाएक क्या से क्या हो गया ? माँ को न मालूम एकाएक क्या सूझा कि तनिक सोचा विचारा भी नहीं। कहाँ अभिषेक, कहाँ वनवास ! वह भावी को कोसने लगती है—

'दुर दृष्ट बता दे स्पष्ट मुझे, क्यों है अनिष्ट ही इष्ट तुझे ?
तू है बिगाड़ता काम बना, रहता है बहुधा वाम बना।
करता प्रहार तू यहाँ वहाँ, धोखा देता है जहाँ तहाँ।'

वह आकाश की ओर देखती है तो वह भी ईर्ष्यालु-सा प्रतीत होता है। साँझ की ज्वाला के बहाने मानो भभक उठा हो ! रात के उपरान्त दिन, दिन के उपरान्त रात। इस तरह—

'उर्मिला कभी तो रोती थी, फिर कभी शांत सी होती थी।
देता प्रबोध जो, सुनती थी, मन में अतर्क्य कुछ गुनती थी।'

तात्पर्य यह है कि वियोग जन्य जो भी अवस्था होती है प्रलाप करना या प्रकृति का उद्दीपन, शरीर की कृशता—इन सब का उल्लेख गुप्त जी पहले से करते चले हैं। अष्टम सर्ग में जब हम लक्ष्मण के साथ "दीख पड़ी कोणस्थ उर्मिला रेखा"—का दृश्य देखते हैं तो आश्चर्य नहीं होता। शरीर की सूक्ष्म छाया का वर्णन षष्ठ सर्ग में ही कर दिया गया था अतः लक्ष्मण भी क्षण भर अन्य मनस्क रह जाते हैं। नवम् सर्ग में उपालंभ, महानुभूत आशा सब पूर्व स्थिति के विकास हैं। आने का दिन दूर होते हुए भी उर्मिला का अवलंब

यही है कि प्रिय यदा कदा उसका स्मरण करते रहें। ऐसा ही कवि पंत ने लिखा है—

'विदा ! विदा ! शायद मिल जाँए यदा कदा !
मैं बोला–'तुम जाओ, प्रसन्न मन जाओ मेरा आशी,
उसकी पलकों में आँसू थे, ओठों पर निश्छल हँसी !'

(२) गंभीरता—उर्मिला का विरह वर्णन सदैव गंभीर रहा है मजाक की हद तक नहीं पहुँच पाया है। वह दुखी है, संतप्त है। आरम्भ में वेदना की तीव्रता अब अन्त व्यापिनी सूक्ष्म धारा हो गई है जो बाहर से कम दिखाई पड़ती है पर भीतर ही भीतर रोम रोम में व्याप्त है। उर्मिला की जो हलचल है वह भीतर की है क्योंकि गुप्त जी ने उसकी वेदना का विश्लेषण किया है। बाहरी नाप जोख वैसे परित्यक्त तो नहीं कहनी चाहिए पर है अभाव सा। एकाध उदाहरण ढूँढ खोजकर मिल जाय तो इतने बड़े महाकाव्य में वह नगण्य ही है। गुप्त जी ने वेदना का आन्तरिक रूप व्यक्त किया है। समान रूप की अन्य वस्तुओं के वर्णन द्वारा उसकी विरहानुभूति व्यंजित की है, व्यक्त नहीं।

'भीगी या रज में सनी अलिनी की यह पाँख,
अलि खुली किंवा लगी नलिनी की वह आँख ?'

× × × ×

'हाय ! न आया स्वप्न भी और गई यह रात,
सखि, उडगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूँ प्रभात ?'

यहाँ भ्रमरी, कमलिना, तारों व प्रभात का वर्णन तो है, पर उनसे उर्मिला की वेदना व्यक्त है। यह पद्धति एक प्रकार का अप्रस्तुत विधान है जहाँ दूसरों के वर्णन द्वारा व्यंजना की जाती है।

गंभीरता का दूसरा कारण है विश्लेषण पद्धति।

'मैं पिंजडे में पड़ी हुई हूँ किन्तु खुला है द्वार भी,
काल कठिन क्यों न हो किन्तु है मेरे लिए उदार भी !'

× × × ×

'हृदय स्थित स्वामी की स्वजनि, उचित क्यों नहीं अर्चा,
मन सब उन्हें चढ़ावे, चंदन की एक क्या चर्चा ?
बँध कर घुसना अथवा, जल पल भर दीप दान कर खुलना,
तुमको सभी सहज है, मुझको कर्पूर वर्ति, बस घुलना !'

गुप्त जी ने जहाँ ऊहात्मक वर्णन भी किया है वहाँ ऊहा का आधार सत्य

है, केवल उसका कारण मात्र कल्पित किया है। जैसे वीर बहूटी लाल होती ही हैं। यह तो आधार हुआ—जो सत्य है। लेकिन उर्मिला कहती है मानो दूब का हृदय निकल पड़ा हो! यह कारण कल्पित है जिसका आरोप कर दिया गया है—

'इन्द्र वधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय,
नन्हीं दूबा का हृदय निकल पड़ा यह हाय!'

इसी प्रकार बूँदें जब गरम होंगी तो भाप बन कर गिरेंगी ही लेकिन वह मानो उसकी विरहाग्नि से हो रहा हो—

'बुंदियों को भी आज इस तन स्पर्श का ताप,
उठती हैं वे भाप सी गिर कर अपने आप।'

हाँ दो तीन स्थानों पर ऊहा रीतिकाल की तरह ही है—

(१) 'चन्द्र कांत मणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार।
चन्द्र कांत आवें प्रथम, जो सबके शृङ्गार॥'

(२) 'ठहर अरी, इस हृदय मे लगी विरह की आग।
ताल वृंत से और भी धधक उठेगी आग॥'

लेकिन न तो बिहारी के वर्णन की भाँति गुलाब-जल की शीशी उसकी विरहाग्नि के कारण खाली ही होती है न चाँदी का थाल ही चटकता है। उर्मिला के विरह वर्णन म निरन्तर मानसिक पक्ष प्रधान है इस कारण "साँपिन यह सेजिया नागिन भई रतिया"—का वर्णन नहीं मिलेगा।

जायसी ने भी नागमती के विरह वर्णन म गम्भीरता रखी हैं। उसके भी यहाँ कारण हैं जो पाठक की सहानुभूति जाग्रत करते हैं—

(१) 'सखि झूमक गावें अंग मोरी,
हौं झुराव बिछुरी मोरी जोरी।'

(२) 'लागिउँ जरै जरै जस भारू,
फिर फिर भूँजेसि तजइ न बारू।'

(३) 'पिउ सौं कहेउ सँदेसड़ा हे भौंरा, हे काग।
सो धनि बिरहे जरि मुई तेहिक-धुँवा हम लाग।'

'यशोधरा' भी एक स्थान पर कहता है—

'फलों के बीज फलों मे फिर आए, मेरे दिन फिरे न हाय।
गए घन कै कै बार न घिर आए वे निर्झर जरे न हाय।'

यहाँ 'साकेत' की उर्मिला कहती है—

'फूल! खिलो आनन्द से तुम पर मेरा तोप,
इस मनसिज पर ही मुझे, दोप देख कर रोप।'

३. विस्तार :—यह मुख्य विशेषता है। नवम् सर्ग के अधिक भाग में उर्मिला के हृदय का विस्तार ही व्यक्त हुआ है। एक ओर तो यह विस्तार मानव मात्र तक है। वह सारे नगर की प्रोषित पतिकाओं को बुलाने को अपनी सखी से कहती है—

'प्रोषित पतिकाएँ हों जितनी भी सखि, उन्हें निमंत्रण दे आ,
सम दुःखिनी मिले तो दुःख बँटे जा, प्रणय पुरस्सर ले आ।'

चूँकि वे दुःखी होंगी, जब वर्णन करेंगी तो परस्पर एक दूसरे का दुःख बँट जाएगा। कोई उसका अभाव मिटा कर उसे सुख देगी तो वह भी किसी को सुख देगी!—

'इतनी बड़ी पुरी में क्या ऐसी दुःखिनी नहीं कोई?
जिसकी सखी बनूँ मैं, जो मुझ-सी हो हँसी-रोई?'

इससे यह भी ध्वनि निकलती रहती है कि 'साकेत' में उससे अधिक दुःखी कोई है भी नहीं! फिर वह नगर की बालाओं को ललित कला सिखाने के लिए आश्रय खोल देने की चर्चा करती है ताकि वह अपना ज्ञान ही न भूल जाय!

'मैं निज ललित कलाएँ भूल न जाऊँ वियोग-वेदन में,
सखि, पुरबाला-शाला खुलवा दे क्यों न उपवन में?'

पुरुषों से व्यापक होकर उसकी वेदना प्रकृति के अंचल तक पहुँचती है, पेड़, पौधों, पशु पक्षियों तक उसका प्रसार हुआ है। सखी से कहती है पिंजड़ों में बन्द तोता, मैना उड़ा दे। उन्हें भी वैसी ही वेदना होगी जैसी उसे है—

'सखि, विहँग उड़ा दे, हों सभी मुक्तिमानी।'

कभी तोते से पूछती है तुझे शिक्षा देने वाले आज कहाँ चले गए—

'कह विहग कहाँ हैं आज आचार्य तेरे।'
विकच वदन वाले, वे कृती-कांत मेरे।।'

फिर उसी को सुना कर अपनी स्थिति बतलाती है—

'सचमुच 'मृगया में?' तो अहेरी नए वे।
यह हत हरिणी क्यों छोड़ यों ही गए थे?'

मैना को चुप देख कर समझती है यह हमारी बातें ही ध्यान-पूर्वक सुन रही है। खरगोश को सम्बोधित करती है—

शशक विदित है तुझे आज वे नाथ कहाँ?
तेरी ही प्रिय जन्म भूमि में, दूर नहीं।
जा, तू भी कहना कि उर्मिला दूर यहीं!'

इसी प्रकार कपोत से पूछती है तुम्हीं प्रिय का प्रेम पत्र ले आते जो दुःख का समय व्यतीत करने में सहायक होते ! उधर चकोरी से कहती है—

'औरों की क्या कहिए, निज रुचि ही एकता नहीं रखती,
चन्द्रामृत पीकर तू चकोरि, अंगार है चखती ।'

फिर उसे स्मरण होता है अब पक्षियों को खोल देने में निर्दयता होगी। अब तो उन्हें सब भूल भाल गए होंगे ! वही सगी-साथी हैं। जो जहाँ रहता है अपना समाज, वातावरण बना लेता है ! पक्षियों को अपने साथ रखने की चर्चा करती है

'मेरे उर अंगार के बनें बाल गोपाल,
अपनी मुनियों से मिले पले रहो तुम लाल !'

ये तो पशु पक्षी हुए, उर्मिला की सहानुभूति मक्खी मकड़ी और जुगनू तक व्यापक हो गई है—

(१) 'सखि, हटा न मकडी को,
आई है वह सहानुभूति वशा।
जा लगता मैं भी तो,
हम दोनों की यहाँ समान दशा।'

(२) 'तप में तू भी कम नहीं, जी जुगनू बड भाग।'

और मलयानिल को वह लौट जाने का संदेश देती है। कमलिनी किरण तो आत्मीयता है ही, लता कुंजों से भी उसको सहानुभूति हो गई है। कैंची से काटने का निषेध करा देती है—

'सींचे ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फल यथेच्छ बढ़ के, फैलें लताएँ हरी।
क्रीडा कानन शैल मंत्र जल से संसिक्त होता रहे,
मेरे जीवन का, चलो सखि वहीं सोता भिगोता बहे !'

जायसी ने तो मानव भावना का प्रयोग प्रकृति तक व्याप्त करके दिखाया और पशु पक्षियों को नागमती के विरह में युक्त प्रदर्शित किया, या संदेश देकर भेज दिया, पर गुप्त जी ने उससे भी आगे बढ़ कर काव्य में मनुष्य को मकड़ी, जुगनू जैसे जीवों से आत्मानुभूति प्रदर्शित करा दी। वियोगिनी का विरह महत्तम से लघुत्तम तक व्याप्त हो गया !

यशोधरा ने फूल और दाड़िम को अपनाया है—

'दरक कर दिखा गया निज सार जो हँस दाड़िन, तू खिल खेल।
प्रकट कर सका न अपना प्यार जो, री कठिन हृदय सब झेल।'

× × × ×

मेरे फूल रहो, तुम फूले!
तुम्हें झुलाता रहे समीरण झौंटे देकर झूले।
तुम उदार दानी हो, घर की दशा सहज ही भूले,
क्षमा, कभी यह उष्ण पाणि भी भूल तुम्हें यदि छू ले!'

जायसी की नागमती तो उस भाव विस्तार में रोती फिरती है। वन उपवन पशु पक्षी जो भी सामने आता है—दुःख सुनाने लगती है—

'तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी;
केहि दुख रैनि न लावसि आँखी।'

उनसे वह संदेश तक भेजती है—

'तासौं दुःख कहिए हो बीरा,
जेहि सुनि कै लागै पर पीरा···।'

घनानन्द ने वायु को ही दूत बनाकर भेज दिया है प्रिय के पाँवों की धूल ले आने की प्रार्थना की है।

'विरह बिथा की पूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पाँयन की हा, हा! नैंकु आन दै।'

उर्मिला ने व्यापकता तो प्रदर्शित की है लेकिन प्रिय के पास संदेश नहीं भेजा है और पशु पक्षी प्रत्युत्तर में उसके प्रति सहानुभूति प्रकट नहीं करते जैसा 'पद्मावत' में हुआ है।

४. अन्तर्दशाएँ:—वियोगा वस्था की ११ अतर्दशाएँ मानी गई हैं—(१) अभिलाषा (२) चिन्ता (३) स्मृति (४) गुण, कथन (५) उद्वेग (६) प्रलाप (७) उन्माद (८) जड़ता (९) व्याधि (१०) मूर्च्छा (११) मरण। 'साकेत' में इनका विस्तृत विधान हुआ है।

(१) अभिलाषा वियोग की पहली अवस्था है। इसमें प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा होती है—

'यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम-धन, जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।'

× × × ×

'अब जो प्रियतम को पाऊँ;
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ!

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ !'

यहीं नागमती ने कहा था—

'यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव,
मकु तेहि मारग गिरि पड़ै, कंत धरैं जेहि पाँव !'

(२) चिंता—'हरे ! हाय ! क्या से यहाँ क्या हुआ ?
उड़ा ही दिया मथरा ने सुआ।
हिया-पींजरा शून्य माँ को मिला;
गया सिद्ध मेरा, रही मैं शिला !'

× × × ×

'बिखर कली झड़ती है कब सीखी किंतु संकुचित होना ?
संकोच किया मैंने, भीतर कुछ रह गया, यही रोना !'

(३) स्मृति—जब बीती बातों का स्मरण होता है। जब विरहिणी का प्रिय अनुपस्थित होता है तो उसे प्रिय का, तत्सम्बन्धी घटनाओं का या अपने ही पूर्व जीवन का स्मरण हो आता है। दशम सर्ग में इस अवस्था का अच्छा निरूपण है। नवम् सर्ग में सात आठ स्थानों पर उर्मिला को गत जीवन की घटनाओं का स्मरण होता है।'चित्रकूट प्रसग की स्मृति से वह कहती है—

'मिली मैं स्वामी से, पर कह सकी क्या सँभल के ?
वहे आँसू होके सखि, सब उपालंभ गता के।
उन्हें ही आई जो विरख मुझको, नीरव दया;
उसी की पीडा का अनुभव मुझे हा रह गया।'

एक स्थान पर प्रिय से वार्तालाप का स्मरण होता है—

'लाई सखि, मालिनें थीं डाली उस बार जब
जम्बू फल जीजी ने लिए थे, तुझे याद है ?
मैंने थे रसाल लिए, देवर खड़े थे वहीं
हँस कर बोल उठे—'निज निज स्वाद है।'
मैंने कहा—'रसिक तुम्हारी रुचि काहे पर ?'
बोले—'देवि दोनों ओर मेरा रस वाद है।
'दोनों का प्रसाद-भागी हूँ मैं' हाय आली आज
विधि के प्रमाद से विनोद भी विषाद है।'

सरयू को सम्बोधन कर वह धनुष-भंग के प्रसंग का उल्लेख करती है—

'ध्वनि मंडप मध्य छा गई, तब लौं भार्गव मूर्ति आ गई।
प्रभु से भव चाप भंग था, प्रिय को भार्गव का प्रसंग था॥
मुनि की निज गर्व-गर्जना, प्रिय की तत्क्षण योग्य तर्जना।
प्रभु की वह सौम्य वर्जना, सबकी थी बस एक अर्जना!
'डरते हम धर्म शाप से, न डराओ मुनि आप चाप से,
द्विजता तक आत तायिनी, वध में है कब दोषदायिनी!'

गुप्तजी ने उर्मिला के बाल्य-काल का तथा लक्ष्मण के साथ सयोग-मय-जीवन स्वयं उसी के मुख से वियोगावस्था के अन्तर्गत कहला दिया है। इस कौशल से दो लाभ हुए—एक तो उन्हें सयोगावस्था का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं करना पड़ा फिर भी उसकी मधुर झाँकी दे दी। दूसरा लाभ हुआ कि यही स्मरण वियोग की अनुभूति को और गहरा रंग देता है। इसीलिए तो अयोध्या नगरी में उर्मिला के समान दुःखी और कोई नहीं है। करुणा की अभिव्यंजना बढ़ा दी गई है।

(४) गुण कथन—प्रिय स्मरण होने के साथ साथ विरहिणी की मनोवृत्तियाँ उसके गुणों में रमने लगती हैं। इसमें प्रिय का सौन्दर्य, वीरता, बुद्धिमत्ता, विवेक, हास, रूप, वेशभूषा आदि सभी गुण आ जाते हैं। उर्मिला वर्णन करती है—

'अपने को भूले वे, मेरी ही कह उठे सखेद हृदय से!"

× × × ×

'अंबु अवगाह आर्य पुत्र ले रहे हैं थाह!'

× × × ×

'तुझ पर मुझ पर हाथ फेरते साथ यहाँ!'

× × × ×

'हैं हैं!' कह लिपट गए थे यहीं प्राणेश्वर,
बाहर से सकुचित, भीतर से फूले से!'

(५) उद्वेग—इसमें विरहिणी को सुखदायी वस्तुएँ भी दुःखदायी हो जाती हैं। जगत् प्रकृति सब उसकी वेदना को प्रदीप्त करते हुए प्रतीत होते हैं। इसके अन्तर्गत 'साकेत' की प्रकृति का उद्दीपनात्मक रूप आ जाएगा जो है तो कम, पर उल्लेखनीय अवश्य है—

'वह कोइल, जो कूक रही थी–आज हूक भरती है,
पूर्व और पश्चिम की लाली रोष वृष्टि करती है।
लेता है निःश्वास समीरण, सुरभि धूलि चरती है'...'

× × × ×

'वह जीवन मध्याह्न सखी अब श्रांति क्लांति जो लाया,
खेद और प्रस्वेद पूर्ण यह तीव्र ताप है छाया''...।'

× × + ×

'रस हैं बहुत, परंतु सखि, विष है विषम प्रयोग,
बिना प्रयोक्ता के हुए यहाँ भोग भी रोग।'

× × × ×

'आई थी सखि मैं यहाँ लेकर हर्षोल्लास,
जाऊँगी कैसे भला देकर यह नि.श्वास।'

यशोधरा में भी उद्वेग का चित्र प्रस्तुत करने वाला यह वर्णन बहुत सुन्दर है—

'उनका यह कुंज-कुटीर वही,
झड़ता उड़ अंशु अबीर जहाँ।
अलि, कोकिल, कीर शिखी सब हैं,
सुन चातक की रट 'पीव कहाँ ?'
अब भी सब साज समाज वही–
तब भी सब साज अनाथ यहाँ।'

इसी से मिलन वर्णन 'साकेत' में देखिए—

'यही वाटिका थी, यही थी मही, यही चन्द्र था, चाँदनी थी यही ?
यही वल्कली मैं लिए गोद मे, उसे छेड़ती थी महामोद में''''।'

लेकिन अन्त में सब गुणों पर पानी फिर गया !

(६) प्रलाप—वियोग में कभी विरहिणी अपनी स्थिति भूल कर अनर्गल प्रलाप करने लगती है जिसका वस्तु कथन मे कोई सम्बन्ध नहीं होता। विरह की असह्य ज्वाला में कथन का कोई क्रम नहीं रहता। उर्मिला कभी भोजन न लाने को कहती है, कभी—"आजा मेरी निदियाँ गूँगी"—कह कर नींद को बुलाने लगती है, कभी अपने यौवन रूपी बाल को चुपचाप अचल में सोए रहने को कहती है, कभी मछली को सम्बोधित करती है—

'शफरी, अरी, बता तू तड़प रही क्यों निमग्न भी इस सर में ?
जो रस निज गागर मे सो रस-गोरस नहीं स्वयं सागर मे।'

कभी भ्रमरी को सम्बोधन करती है—

'भ्रमरी, इस मोहन-मानस के,
सुन, मादक हैं रस भाव सभी।
मधु पीकर और मदान्ध न हो,
उड़ जा, बस है अब ज्ञेय तभी ···।'

तो कहीं मधुमक्खी से कहती है—

'अरी गूँजती मधुमक्खी!
किसके लिए बता तूने वह रस की मटकी रक्खी?
किसका संचय दैव सहेगा?
काल घात में लगा रहेगा,
व्याध बात भी नहीं कहेगा, लूटेगा घर लक्खी!'·····

यह सब प्रलाप है।

(७) उन्माद—इस अवस्था में चित्त भ्रांत हो जाता है, विरहिणी अपने आप को भूल जाती है, स्थिति दशा का ज्ञान नहीं रहता क्योंकि उसकी सोच विचार की शक्ति अक्षम हो जाती है, उचित अनुचित में वह भेद नहीं कर पाता। "वह चेतन को अचेतन और आम को नीम समझने लगता है। कभी रोता है तो कभी हँसता, कभी ऊपर की ओर साँस लेता है तो कभी नीचे की ओर। हृदय के पेंडुलम की गति रुकने की नौबत आ जाती है। उसे यह खबर नहीं रहती कि वह क्या, क्यों और किससे बोल रहा है!" साकेत में इसके अनेक उदाहरण हैं—

'जिधर पीठ दे दीठ फेरती,
उधर मैं तुम्हें ढीठ हेरती!'

× × × ×

'मेरी दुर्बलता क्या दिखा रही तू अरी, मुझे दर्पण में?
देख, निरख मुख मेरा वह तो धुँधला हुआ स्वयं ही-क्षण में!'

× × × ×

'सखी सत्य क्या मैं घुली जा रही?
मिलूँ चाँदनी में बुरा क्या यही?
नहीं चाहते किन्तु वे चाँदनी,
तपोमग्न हैं आज मेरे धनी!'

× × × ×

'क्या क्षण क्षण में चौंक रही मैं ?
सुनती तुझसे आज यही मैं।
तो सखि क्या जीवन न जनाऊँ ?
इस क्षणदा को विफल बनाऊँ ?'

× × × ×

'आते यहाँ नाथ निहारने हमें, उद्धारने या सखि, तारने हमें ?
या जानने को, किस भाँति जी रहे ? तो जान लें वे, हम अश्रु पी रहे !'

व्याधि, मूर्च्छा आदि के भी उदाहरण हैं लेकिन 'जड़ता', 'मरण' दशाएँ नहीं मिलतीं। 'यशोधरा' में अवश्य कहा गया है—

'मरण सुंदर बन आया री ! शरण मेरे मन भाया री !'
आली, मेरे मनस्ताप से पिघला वह इस बार
रहा कराल कठोर काल सा हुआ सदाय सुकुमार
'नर्म सहचर सा छाया री ! मरण सुंदर बन आया री !'

उर्मिला की विरह दशा का वर्णन प्रारम्भ के एक स्थान पर केवल दो पंक्तियों में कर दिया गया है। कभी वह १४ वष की अवधि भूल जाती है। समझती है लक्ष्मण आ गए अतः स्वागतार्थ कहती है "आओ"। जैसे ही स्मरण होता है तो "जाओ" कह देती है। आठ पहर चौंसठ घड़ी निरंतर प्रिय के ध्यान में ही वह आत्म विस्मृत हो जाती है। वियोग की वस्तुतः चरम दशा है, विरही का अपने को भूल कर दूसरे में मिल जाना—प्रिय-मय हो जाना। उर्मिला इस दशा तक पहुची हुई है। विद्यापति ने अपनी पदावली की की नायिका को भी इसी दशा तक पहुँचाया है—

'अनुखन माधव माधव सुमिरत, सुंदरि भेल मधाई।'

उर्मिला के विरह वर्णन में विशेषता यह है कि वह लक्ष्मण जैसे व्यक्ति की पत्नी है राज महल की सबसे अधिक दुखिनी है। फिर भी अपनी पद श्रेष्ठता का गर्व उसे नहीं रहता। गर्व है अवश्य पर वह पतिव्रत शक्ति का है। वह बसंत-पति कामदेव को भी फटकार देती है—

'नहीं मोगिनी यह मैं कोई जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिंदूर बिंदु यह, यह हरनेत्र निहारो।
रूप-दर्प कंदर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण धूलि उस रति के सिर पर धारो !'

लेकिन दैनिक जीवन के व्यवहार में वह असाधारण जन सामान्य नारी के रूप में सामने आती है जो विरह दग्ध है। इसलिए भी उसकी विरह व्यंजना

अत्यन्त मार्मिक हो गई है अन्यथा नगर भर की दुखी नारियों को आमन्त्रित कर भावों का आदान-प्रदान करने को तैयार न होती।

(५) षट् ऋतु वर्णन—पिछले अध्याय में मैं बतला चुका हूँ कि गुप्त जी को प्रकृति का उद्दीपन रूप अधिक प्रिय नहीं है।' तब पूछा जा सकता है ऋतु वर्णन की क्या आवश्यकता थी? कवि तो इसका विधान उद्दीपन रूप में ही करते आए हैं। कारण यह मालूम पड़ता है कि गुप्त जी प्राचीन पद्धति को एक दम तिरस्कृत नहीं करना चाहते। ऋतु वर्णनों द्वारा उन्होंने उद्दीपक स्वरूप रखे भी कम हैं, अधिकतर उर्मिला की भावाभिव्यक्ति का आलंबन इन्हें बनाया गया है। इन्हें देख देखकर वह अपने भाव व्यक्त करती जाती है जिससे वेदना, खिन्नता के साथ-साथ दृढ आशा, उत्साह की प्रवृत्तियाँ भी झलक मारती हैं।

दूसरी बात यह है कि गीत शैली इस ऋतु वर्णन में प्रयुक्त हुई है। उर्मिला प्रत्येक ऋतु का वर्णन छोटे-छोटे मधुर गीतों के रूप में करती है जिसमें जीवन के कठोर भावोत्पादक दृश्य हटा दिए गए हैं। इस तरह परंपरा का पालन भी हो गया और नवीन पद्धति का समाहार भी हो गया।

(१) जहाँ प्रकृति के व्यापारों को उर्मिला अपने मनोव्यापारों के मेल में रखने की चेष्टा करती है। वह नहीं चाहती कि प्रकृति गत व्यापार उसके सामने से हटा दिए जाँय अपितु उन्हें प्रोत्साहित करती है—

'अवसर न खो निठल्ली, बढ़ जा, बढ़ जा विटप निकट वल्ली,
अब छोड़ना न वल्ली, कदम्ब अवलम्ब तू मल्ली!'

उसने तो यहाँ तक कहा है कि उसके दुख में प्रकृति की संवेदना प्रकट करने की आवश्यकता नहीं, वह अपनी सी स्वयं रहना चाहती है दूसरों को कष्ट क्यों दे?

'तरसूँ मुझ सी मैं ही सरसे हरसे हँसे प्रकृति प्यारी!'

अर्थात् उसने प्रकृति को अपने भावों के मेल में अधिक देखा है, उद्दीपन रूप में कम!

(२) जहाँ प्रकृति के नाना दृश्यों में उसने अपने प्रिय की छाया देखी है—

'प्रकृति तू प्रिय की स्मृति-मूर्ति है जड़ित चेतन की त्रुटि पूर्ति है।
रख सजीव मुझे मन की व्यथा कह सखी, कह तू उनकी कथा!'

वह खञ्जनों में प्रिय के नेत्रों का आभास पाती है, दुपहरिया के फूल में प्रिय के अधरों का, हंसों में प्रिय की चाल का, आदि। नागमती को भी प्रकृति के कण-कण में प्रिय का आभास मिलता है—

'रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती।'

× × × ×

'उन बानन्ह अस को जो न मारा बेधि रहा सिगरौ संसारा।'

× × × ×

'गगन मेघ राते तेहि छाया।' आदि।

ऐसा ही प्रमाद एक स्थान पर कहते हैं—

"प्राची की अरुण मुकुर में सुन्दर प्रतिविम्ब तुम्हारा।
उस अलस उषा मे देखूँ अपनी आँखों का तारा।"

(३) ऋतु वर्णन उन्होंने ग्रीष्म से आरम्भ किया है—

आया अपने द्वार तप तू दे रही किवाड,
सखि क्या मैं बैठूँ विमुख ले उशीर भी आड़?"

वह उसका स्वागत करेगी। सुख भोग जब किया तो दु:ख भी अवश्य भोगेगी। धूप पृथ्वी को जला रही है आँधी धूल उड़ा रही है मानो प्रलय ने ही विनाश का कार्यक्रम बना लिया हो। तभी उसे प्रिय की तप साधना का स्मरण हो आता है—

"मन को यों मत जीतो
बैठी है यह यहाँ मानिनी, सुध लो इसकी भी तो।
इतना तप न तपो तुम प्यारे
जले आग सी जिसके मारे
देखो ग्रीष्म भीष्म तनु धारे, जन को भी मन चीतो।"

वर्षा ऋतु में बादल घुमड़ आते हैं तो सोचती है कि उच्छ्वास की तरह चारों ओर छा रहे है। फिर इच्छा होती है उन्हीं की भाँति वह भी बरस जाय—

"बरस घटा बरसूँ मैं संग
सरसें अवनी के सब अंग,
मिले मुझे भी कभी उमंग, सबके साथ सयानी।"

कोई घटना भी नीचे से ही बादलों की तरह ऊपर उठती है। पंत ने भी बादलों के लिए लिखा है—

"धीरे-धीरे संशय से उठ, बढ अपयश से शीघ्र अछोर।"

मेंहदी भीतर मे लाल होती है बाहर से हरी। उर्मिला की समझ में इसका कारण नहीं आता। उसे त्रिविध वायु भी उन्हीं प्रिय जैसी ज्ञात होती है—

"त्रिविध पवन ही था, आ रहा जो उन्हीं सा,
यह घन रव ही था, छा रहा जो उन्हीं सा
प्रिय सदृश हँसा जो, नीप ही था कहाँ वे ?
प्रकृत सुकृत फैले, भा रहा जो उन्हीं सा !"

उन्हीं बादलों को वह धन्य मानती है जो वंश वंश को सन्तोष वृद्धि तथा वैभव प्रदान करते हैं किन्तु उसके आशा रूपी अंकुर काया रूपी धरती में उग नहीं पाए—

"सखि आशांकुर मेरे इस मिट्टी में पनप नहीं पाए
फल कामना नहीं थी, चढ़ा सकी फूल भी न मन भाए।"

दैव जो कुछ समयानुसार लाता है उसे स्वीकार करना चाहिए। इस तरह उर्मिला भाग्य से संतोष कर लेती है।

शरद ऋतु आई तो वह हंसों से अपना संदेश पूछने लगती है—क्या लाए हैं ! चन्द्रमा का काला भाग मानो डिठौना है, उधर चंचल जल धारा से उसके भावों में भी मथन होने लगता है—

"मेरी छाती दलक रही है मानस शफरी ललक रही है
लोचन सीमा झलक रही है, आगे नहीं सहारा।"

हेमंत के स्वाद का सब अवसर बीत जाता है। उसके प्रिय लौट आएँ तो वह ऋतु का उपकार चुका दे—प्रार्थना केवल इतनी है—

हे ऋतुवर्य क्षमा कर मुझको देख दैन्य यह मेरा
करता रह प्रति वर्ष यहाँ तू फिर फिर अपना फेरा।

मानो उसे सतत-सभीत देखकर ही हेमन्त आया हो ! शरीर से चाहे वह क्षीण हो गई है, लेकिन मन से स्नेहपूर्ण है अतः नाइन को तेल लगाने से निषेध कर देती है वही क्षीण नहीं है, कमलिनी भी क्षीण हो गई है—

"एक अगेरवी में ही क्या दुबली हो गई सखी घर में ?
देख पद्मिनी भी तो आज हुई नाल शेष निज सर में !"

तब एकाएक विचार परिवर्तन होता है। वह राज्य को भी धिक्कार देती है—

"प्रभु को निष्कासन मिला, मुझको कारागार
मृत्यु दण्ड उन तात को, राज्य तुझे धिक्कार !"

हेमन्त में रात्रि विषय पाले की तरह जमी हुई मालूम पड़ती है। वहीं संयोगावस्था का स्मरण हो जाता है—

"आए सखि, द्वार पटी द्वार से हटा के प्रिय
वंचक भी वंचित से कपित विनोद में।
'ओढ़' देखो तनिक तुम्हीं तो परिधान यह,
बोले डाल रोमपट मेरी इस गोद में।
क्या हुआ, उठी मैं झट प्रावरण छोड कर
परिणत हो रहा था पवन प्रतोद मे।
हर्षित थे तो भी रोम रोम हम दपंति के
कर्पित थे दोनों वहु वन्धन के मोद मे।"

यहाँ एक तथ्य पर ध्यान दीजिए। उर्मिला ने—"बाहु बधन के मोद" का उल्लेख किया है किन्तु पाठक को वह नहीं खटकता। कारण यह कि वियोग वर्णन के अन्तर्गत वर्णन होने से उसकी सभोगात्मक तीव्रता कम हो गई है। यदि सयोग शृ गार के अन्तर्गत यह वर्णन होता तो आलोचक इसमें सभवतः अश्लीलत्व दोष ढूँढ निकालते! और यह मनिराम के—

'केलि के रात अघाने नहीं दिनहूँ मे लला पुनि पुनि घात लगाई'

इस वर्णन को भाँति हो जाता। गुप्त जी का सौंदय वर्णन सर्वत्र मर्यादित है।

शिशिर के उपरान्त वसन्त आता है नवीन इच्छाएँ लेकर, जब अलस कुमुदिनी पखुरियाँ खोलने लगती है, ऊषा आसमान में दिनकर के मुख पर रोली मसल देती है! किन्तु उर्मिला भ्रमर को पास नहीं आने देती—

भ्रमर इधर मत भटकना, ये खट्टे अंगूर,
लेना चपक गंध तुम किन्तु दूर ही दूर।"

वसत से दया की भीख माँगती है! चारों ओर नवीन सौरभ है, उमग है, उसे वैषम्य प्रतीत होता है क्योंकि वह शुष्क है—

"सूखा है यह मुख यहाँ, रूखा है मन आज
किन्तु सुमन सकुल रहे प्रिय का वकुल समाज

वह कमल की पूर्ण सुषमा मण्डित देखना चाहती है क्योंकि—

तू सुषमा का कर-कमल रति मुखाब्ज उद्ग्रीव
तू लीला लोचन नलिन औ प्रभु पद राजीव।"

प्रिय के हाथ, मुख, नेत्र, पैरों की तुलना कमल से की गई है। तुलसी ने एक स्थान पर कमल को पाँच वस्तुओं का एक साथ उपमान बनाया है।

उसका स्पर्श होते ही फूल कुम्हला जाते हैं किन्तु लता ने इन्हें धूल में झड़

जाने की अपेक्षा प्रिय के चरणों पर सगौरव चढने के लिए उत्पन्न किया है। कोयल की कूक कैसी है जो हृदय में हूक उठा देती है ?

"क्या ही सकरुण, दारुण, गंभीर
निकली है नभ का चित्त चीर
होते हैं दो दो दृग सनीर
लगती है लय की एक कूक
ओ कोइल, यह कौन कूक ?"

यशोधरा भी कहती है—

'कूक उठी है कोयल काली ओ मेरे वन माली !....
लता कंटकित हुई ध्यान से ले कपोल की लाली
फूल उठी है हाय ! मान से प्राण भरी हरियाली
ढलक न जाय अर्घ्य आँखों का गिर न जाय यह थाली
उड़ न जाय पंछी पाँखों का आओ हे गुणशाली
ओ मेरे वनमाली ?"

उर्मिला तब आँसुओं को रोकने का, अपने आँचल में ही सिमटे रहने का आदेश सा देती है। सुखी तो पूर्णतः कोई भी नहीं है। वह फिर उन्हें रोकना नहीं चाहती इसलिए कि—

'नयनों को रोने दे मन, तू संकीर्ण न बन, प्रिय बैठे हैं,
आँखों से ओझल हों, गए नहीं वे कहीं, यहीं पैठे हैं !
आँख, बता वे तू ही, तू हँसती या यथार्थ रोती है ?
तेरे अधर दशन ये, या तू भर अश्रु विन्दु ढोती है ?'

यही उर्मिला नवम सर्ग के प्रारम्भ में भी कह चुकी है—

'पहले आँखों में थे, मानस मे कूद मग्न प्रिय अब थे—
छींटें वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे ?'

इस प्रकार 'साकेत' में ऋतु वर्णन हुआ है। विद्यापति जायसी ने बारहमासे द्वारा विभिन्न महीनों में विरहिणी की अवस्था का वर्णन किया है। गुप्त जी इस क्षेत्र में रीतिकालीन परंपरा को मान कर चले हैं, इन प्राचीन कवियों की परंपरा में नहीं।

६. परार्थ भावना :—एक विशेष बात यह दिखाई पड़ती है कि उर्मिला अपनी दीर्घ विरह जन्य वेदना के साथ साथ दूसरों का कष्ट सहने के लिए तैयार है। प्रेम में त्याग अवश्य होता है, अपने प्रिय के लिए प्रेमी सर्वस्व निछावर कर देता है—यह तो ठीक है। वह अपना दुःख स्वयं सहने को तैयार हुआ

लेकिन दूसरों का दुःख भी अपने सिर लेने को कहाँ तैयार होता है ? यदि दूसरों को सुख हो सके तो उर्मिला उनका दुःख भी सहन करने को तैयार है। यह नवीनता मालूम पड़ती है। जैसे चाँद सितारों, पेड़ पौधों से उसने खूब हँसते रहने को कहा है क्योंकि रोने के लिए वह है ही।

'हँसो हँसो हे शशि फूल फूलो, हँसो हिंडोरे पर बैठ झूलो।
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ, झड़ी लगा दूँ इतना पिए हूँ !'

एक स्थान पर सखी से कहती है मालिनें उद्यान को परिष्कृत करती रहें। वन में प्रियतम को उसका स्मरण होता होगा—कैसा है, क्या है ! अपना सुख वह सबसे पहले नहीं चाहती। दूसरों के उपरान्त क्रम क्रम से उनकी भी बारी आएगी ही—

'सबको सुख होगा तो मेरी भी आएगी बारी !'

नागमती ने भी कहा था—

'मोहि भोग सौं काज न बारी, सौंह दिष्टि की चाहन हारी !'

उर्मिला का वियोग एकातिक और लोक से परे नहीं है। वह स्वय आरती सी बनकर साधना अवश्य करती है लेकिन जन-कल्याण की उसमें भावना भी है। सर्वोत्तम उदाहरण तो द्वादस सर्ग में उसकी रण सज्जा है, नवम सर्ग में भी उल्लेख हुआ है जहाँ वह भरत से दीन कृषकों की अवस्था पूछती है। यह बात दूसरी है कि लक्ष्मण राम-सीता के वियोग में वे भी रो रहे हैं—सारी अयोध्या ही आठ आठ आँसू बहा रही हो। इससे स्पष्ट होता है कि वह पर-हित से उदासीन नहीं हैं।

'पूछी थी सुकाल दशा मैंने आज देवर से-
'कैसी हुई उपज कपास, ईख, धान की ?'
बोले—'इस बार देवि, देखने में भूमि पर,
दुगुनी दया सी हुई इन्द्र भगवान की।
पूछा यही मैंने एक ग्राम मे तो कर्षकों ने,
अन्न, गुड, गोरस की वृद्धि ही बखान की॥
किन्तु 'स्वाद कैसा है, न जाने, इस वर्ष हाय !'
यह कह रोई एक अबला किसान की !'

उर्मिला कृषकों की प्रशसा करती हुई कहती है वास्तविक राज्य वही करते हैं। जिनका अन्न खेतों में है उनसे और कौन अधिक सपन्न हो सकता है ? राज्य को उन्हीं के हितार्थ कार्यरत रहना चाहिए—

'वे गोधन के धनी उदार, उनको सुलभ सुधा की धार।
सहनशीलता के आगर वे श्रम-सागर तरते हैं!'

(७) सेवा कर्त्तव्य—उर्मिला विरह में भी प्रिय का कर्तव्य नहीं भूलती। चाहती अवश्य है वे तुरन्त आ जायँ, लेकिन भ्राता राम की सेवा छोड़कर नहीं। वियोगजन्य टीस कसकती रहे लेकिन वे कर्त्तव्य विमुख होकर न लौटें। स्वप्न में वह देखती हैं प्रिय आ गए—चारों ओर उल्लास-छा गया—

'स्वजनि, धन्य है आज की घड़ी,
तदापि खिन्न सी तू यहाँ खड़ी!'

(क्योंकि वस्तुतः लक्ष्मण आए नहीं हैं)

त्वरित आरती ला उतार लूँ, पग दृगम्बु से मैं पखार लूँ,
चरण हैं भरे देख, धूल से, विरह सिंधु में प्राप्त कूल से।
विकट क्या जटाजूट है बना, भृकुटि युग्म में चाप सा तना।
वदन है भरा मंद हास से, गलित चन्द्र भी श्री-विलास से।
ललित कंधरा, काठ कम्बु सा, नयन पद्म-से, ओज अम्बु सा!
तनु तपा हुआ शुद्ध हेम है, सुलभ योग है और क्षेम है।
उदित उर्मिला-भाग्य धन्य है, अब कृती कहाँ कौन अन्य है!'

यह तो प्रिय आगमन पर हर्ष हुआ, वह अपनी सी बड़भागी अन्य को नहीं समझती। फिर तुरन्त ध्यान आता है क्या प्रिय अकेले लौटे हैं! राम-सीता कहाँ है? तो क्या वे उन्हें वन में छोड़कर ही लौट आए हैं?

'प्रभु कहाँ, कहाँ किंतु अग्रजा, कि जिनके लिए था मुझे तजा?'

क्योंकि स्वयं मग में वह कह चुकी है—

'भ्रातृ स्नेह सुधा बरसे, भू पर स्वर्ग भाव सरसे!'

तब तो सब किया कराया चौपट हो गया!

'वह नहीं फिरे क्या तुम्हीं फिरे? हम गिरे अहो तो गिरे, गिरे!'

उर्मिला वेदना में थी लेकिन गर्विणी थी—प्रिय पर-सेवा के लिए भ्रातृ भक्ति का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए गए हैं। इसलिए वह चौदह वर्ष की साधना कर रही है—उनके प्रति अपना कर्तव्य निर्वाह कर रही है। अब तो उसका त्याग, सहना, गर्व सभी कुछ निरर्थक हो गया। लोग यही कहेंगे कि वे मोह के कारण तपोभ्रष्ट होकर लौट आए। राम-सीता को वन में ही छोड़ दिया। अतः हे प्रिय तुम अब भी लौट जाओ उनकी सेवा करो—

'समय है अभी, हा! फिरो फिरो, तुम न यों यशः स्वर्ग से गिरो।
प्रभु दयालु हैं लौट के मिलो, न उनके कुटी द्वार से हिलो!'

देखिए उर्मिला असह्य वेदना सहती है। लेकिन स्वप्न में भी उसे प्रिय लक्ष्मण के आदर्श सेवा-भाव, कर्तव्य भाव का ध्यान है। वह चाहे जितना और तप ले, बस जग हँसाई नहीं होनी चाहिये।

'अवश से रहे प्राण ये धँसे, तदपि कौन है जो मुझे हँसे ?
अब हँसी न हो, और क्या कहूँ ? तुम व्रती रहो, मैं सती रहूँ !'

और जाग्रत होने पर अपने को धिक्कारने लगती है कि उन पर विश्वास तक न रहा !—

'धिक् ! प्रतीति भी न थी नाथ की, पर न थी सखी, बात हाथ की।
प्रतिविधान मैं क्या करूँ बता, इस अनर्थ का भी कहीं पता ?'

विरह वर्णन के अन्तर्गत सखी को रखना भी कवि कौशल है। विरहिणी को सम्बोधन करने का आधार मिल जाता है। पाठक भी समझता है वह वार्तालाप द्वारा या लम्बे-लम्बे स्वकथन (monologue) द्वारा अपने मनोभाव अन्तर्व्यथा को प्रकट कर रही है अन्यथा सब अस्वाभाविक होकर अरण्य रोदन मात्र रह जाय !

(८) निरन्तर आशा—उर्मिला वियोग व्यथा झेलती हुई भी जीवन से निराश नहीं है अतः मृत्यु की कामना भी नहीं करती। कभी न कभी उसके सुखपूर्ण दिन आएँगे अवश्य ! यह प्रबल आशा ही विरह-सागर पार करने में एक मात्र सबल होती है—

'री आवेगा फिर भी वसंत, जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त।
दुःखों का भी है एक अन्त, हो रहिए दुर्दिन देख मूक !'

जैसा रहीम ने कहा था—

'रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइ हैं बनत न लगि है देर !'

मन पर तो अधिकार किया जा सकता है पर आँसू हमारा भेद खोल देते हैं—

'अरे एक मन, रोक थाम तुझे मैंने लिया।
दो नयनों ने, शोक, भरम खो दिया, रो दिया !'

आँसू "जिय दुख" को प्रकट करते ही हैं। एक स्थान पर उसकी इच्छा है, दूर से प्रिय को देखती रहेगी उनकी धूल में लोट कर अपने को धन्य समझ लेगी !

'यही आता है इस मन मे
छोड धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन मे !

प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ, रहूँ निकट भी दूर
व्यथा रहे पर साथ साथ ही समाधान भर पूर
हर्ष डूबा हो रोदन में !'

बिल्कुल महादेवी वर्मा की तरह उक्ति मालूम पड़ती है—

'दूर तुमसे हूँ, अखण्ड सुहागिनी भी हूँ !'

उर्मिला ने इसी कारण एक स्थान पर अपने को सागर की लहर कहा है जो विलीन न होकर निरन्तर गतिशील रहना चाहती है अन्यथा उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा ! बेबश होकर भी वह आत्माधीन है, भाग्य को जो करना था कर चुका ! वह वेदना भी चाहती है कम से कम अनुभूति तो रहेगी। यौवन को समझाती है—प्रिय आयेंगे तुझे भेंट चढ़ा दूँगी—

'डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल,
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल।
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !'

मेरा मन रूपी पुजारी तुझको शरीर रूपी थाल में सजा कर प्रिय की भेंट कर देगा ! यही कबीर की आकांक्षा थी—

'पिया मोर ऐ हैं, पगा राखि हैं, आँसू भेंट दें हौं नैन का !'

और यही घनानन्द की चरम आकांक्षा है—

'····रति-रसना सवाद पाँवड़े पुनीत कारी,
पाँय चूमि चूमि कै कपोलन सौं माँजि हौं।
जान प्यारे प्रान अंग अंग रुचि रंगनि मे,
कोटि सब अंगन अनंग-दुःख भाँजि हौं।
कब घन आनँद ढरौंही बानि देखै सुधा हेत,
मन-घट-दरकनि सुठि राजि हौं !'

(६) उपयुक्त साधना—उर्मिला के विरह को साधना माना है। जिस प्रकार प्रिय चौदह वर्ष वन में तपस्या कर उसके योग्य बनने की चेष्टा कर रहे हैं उसी प्रकार वह वियोगाग्नि में तप कर शुद्ध हो रही है। इस प्रकार दोनों की साधनाओं को बराबर माना गया है। विशेषता यह मिलेगी कि अन्य रीति-कालीन विरहिणियों की तरह न तो वह प्रिय को उपालंभ देती है, न किसी और को। पानी पी पी कर कोसती है।

'मानती हूँ तुम मेरे साध्य,
अहर्निश एक मात्र आराध्य।
साधिका मैं भी किंतु अबाध्य, जागती होऊँ या सोती।···

सफल ही सहज तुम्हारा त्याग,
नहीं निष्फल मेरा अनुराग।
सिद्ध है स्वयं साधना भाग, सुधा क्या, क्षुधा जो न होती....
काल की रुके न चाहे चाल,
मिलन से बड़ा विरह का काल।
वहाँ लय, यहाँ प्रलय सुविशाल, दृष्टि मैं दर्शनार्थ धोती !'

उसने भी विरह के समय को मिलन से श्रेष्ठ घोषित कर दिया जैसे गोपियों ने कहा था—ऊधौ विरहौ प्रेम करै।"

वह चक्रवाक को धैर्य बँधाती है—

धीरज धर अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात,
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख सुहाग की रात !'

यही प्रसाद ने कहा था—

'इस शिथिल आह से खिंच कर तुम आओगे, आओगे,
इस बढ़ी व्यथा को मेरी रो रो कर अपनाओगे !'

उर्मिला प्रेम को सम्बोधित करती है आज तेरी परीक्षा ली जा रही है—प्रिय तो परीक्षा दे चुके, अब तेरी कसौटी है—

'प्रिय ने सहज गुणों से, दीक्षा दी थी मुझे प्रणय, जो तेरी,
आज प्रतीक्षा द्वारा, लेते हैं वे यहाँ परीक्षा मेरी !'

गुप्त जी ने यशोधरा द्वारा भी यही कहलाया है—

'जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी-
कहाँ तुम्हारी गुण गाथा में मेरी करुण कहानी ?
तुम्हें अप्सरा विघ्न न व्यापे यशोधरा कर धारी,
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी !'

कितनी उदात्त भावना है।

१० आत्म संतोष :—उर्मिला ने इतना रुदन किया है, जड़ चेतन सभी को अनुभूति में मिला लिया है और अन्त में अपने भाग्य पर संतोष कर लेती है। अब कोई आंतरिक हलचल भी नहीं, दु:ख भी नहीं—

'उन्मादिनी कभी थी, विवेकिनी उर्मिला हुई सखि अब है,
अज्ञान भला- जिसमें सोह तो क्या, स्वयं अहं भी कब है ?'

जैसे लक्ष्मी पानी में डूबती डूबती बच गई, सती आग में बैठ कर भी बच

गई तो वह भी घर बैठ कर प्रतीक्षा करेगी और सब कुछ सहन करेगी। जिस देव ने इतनी ज्वाला दी, वह क्या सहन शक्ति न देगा? उसका विधान जो कुछ है शुभ है! वही चलता रहे!

'सिर माथे तेरा यह दान, हे मेरे प्रेरक भगवान?'

११. नवीनता :—शैली की दृष्टि से भी इस विरह वर्णन में नवीनता है जिसका संकेत मैं बीच बीच में करता आया हूं। इसी कारण उर्मिला का रुदन भी गान बन गया है। इसमें भाषा की व्यंजना शक्ति अप्रस्तुत विधान, अलंकरण पद्धति आदि सभी उपादानों की नवीनता मिलेगी। तो उर्मिला के विरह वर्णन में काव्य के भाव पक्ष तथा कला पक्ष--दोनों ही दृष्टियों से प्राचीन पद्धति के साथ नवीन पद्धति का भी स्वाभाविक रूप से समावेश हो गया है।

'प्रिय प्रवास' की राधा से उर्मिला की तुलना की जा सकती है। हरिऔध ने उसे नवीन स्वरूप दिया तो गुप्त जी ने इसे।। दोनों ही पौराणिक गाथा के पात्र हैं जिनका सम्बन्ध कृष्ण कथा व राम-कथा से है। दोनों का विरह वर्णन भी एक सा है अन्तर्दशाओं का विधान हरिऔध ने भी अच्छा किया है। दोनों में मानसिक पक्ष प्रधान है तथा प्रेमानुभूति बचपन से अंकुरित होती दिखाई है, जिससे प्रेम का स्वाभाविक विकास हुआ है। वियोग के उपरांत जो इतनी दशाएँ होती हैं, वे अति रंजित प्रतीत नहीं होतीं।

'युगल का बच साथ सनेह भी, निपट नीरवता सह था बढ़ा।
फिर यही वर बाल-सनेह ही, प्रणय मे परिवर्तित था हुआ!'
(प्रिय प्रवास)

उधर गुप्त जी ने 'यौवन में ही मति वेष" दिखा कर स्थिति वैषम्य द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया है। स्वाभाविक पृष्ठभूमि दोनों ने दी है। गम्भीरता रखने में दोनों कवि सतर्क रहे हैं अतः उछल कूद, छटपटाना दोनों में कम ही मिलेगा। दोनों प्रेमिकाएँ हैं अतः मिलन की आकांक्षा होती है। उर्मिला की वियोग दशाओं से राधा की तुलना हो सकती है--

(१) अभिलाषा—
'हृदय चरण में तो चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि वरण की थी कामना और मेरी!' (प्रि० प्र०)

(२) चिन्ता—'यदि कल मथुरा को प्रात ही जा रहे हैं,
बिन मुख अवलोके प्राण कैसे रहेंगे।
युग सम घटिकाएँ बाट की बीतती थीं,
सखि! दिवस हमारे बीत कैसे सकेंगे!' (

६. साकेत में समन्वय-भावना

इस पुस्तक के पहले भाग में गुप्त जी की समन्वय भावना का विस्तृत विवेचन अन्य रचनाओं के आधार पर किया जा चुका है। यहाँ 'साकेत' में इस प्रवृत्ति का दर्शन कराया जाएगा। वस्तुतः महान कवियों की महत् कृतियों में युगानुकूल समन्वय अवश्य मिलता है। पिछले पचास वर्षों का हिन्दी काव्य की महान देन 'कामायनी' सामरस्य का सिद्धान्त ही प्रस्तुत करती है। उसे चाहे सुख-दु.ख का समन्वय कह लीजिए या बुद्धि व हृदय पक्ष का, व्यक्ति समाज का समन्वय कह लीजिए या वाह्य व अन्तर का—तात्पर्य एक ही है। 'उत्तरा' में पंत ने क्या युग संदेश दिया है ? यही की मनुष्य की भौतिक चेतना के साथ ही आध्यात्मिक चेतना को भी जाग्रत करना होगा, दोनों के मेल से ही भावी "नव मानवता" जन्म ले सकती है। ऊर्ध्व मान्यताओं को सम-धरातल पर तथा सम (भौतिक) मान्यताओं को ऊर्ध्व धरातल पर प्रतिष्ठित करना ही होगा—

> 'वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
> भूत वाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन–
> औ' अध्यात्मवाद ही जिसका हृदय गभीर चिरंतन।'

यही समन्वयात्मक दृष्टिकोण गुप्त जी ने 'साकेत' में प्रस्तुत किया है। यही है कि उपदेशक या युग द्रष्टा का स्थान ग्रहण करने की अपेक्षा अपनी प्रिय राम कथा द्वारा उन्होंने इसकी अभिव्यक्ति की है। तर्क वाद की चरम सीमाओं में उलझने से व्यवहारिक लाभ कुछ भी नहीं अत. 'साकेत' में यहाँ से लेकर वहाँ तक आपको समन्वय ही समन्वय दिखाई देगा। उनके राम तक इस समन्वय की लपेट में आ गए हैं इससे स्पष्ट उदाहरण क्या हो सकता है ? लोक-शास्त्र गार्हस्थ्य-वैराग्य, भक्ति-ज्ञान, अवतार-मनुष्य, ऊँच-नीच, भाषा-संस्कृति—जिस क्षेत्र में भी आप देखेंगे 'साकेत' में समन्वय की विराट चेष्टा दिखाई देगी—

<u>१ शासक शासित का</u> :—नगर वैभव का वर्णन करते हुए गुप्त जी ने राम राज्य का उल्लेख किया है। दशरथ आदर्श शासक हैं जिनके राज्य में

किसी को कष्ट नहीं है। सभी रीति-नीतियों का पालन करते हैं अतः प्रजा भी सुखी है और शासक भी—

'अलग रहती हैं सदा ही ईतियाँ भटकती हैं शून्य में ही भीतियाँ !'

क्योंकि—

नीतियों के साथ रहती रीतियाँ, पूर्ण हैं राजा-प्रजा की प्रीतियाँ !

पुत्र रूपी चार फल पाए यहीं, भूप को अब और कुछ पाना नहीं।'

और प्रजा जनों को भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी की प्राप्ति है। उर्मिला ने उल्लेख किया है कि राज्य जनता की रक्षा करता है अतः सब प्रसन्न हैं—

'यदि वे करें, उचित है गर्व, बात बात में उत्सव पर्व।

हमसे प्रहरी-रक्षक जिनके, वे किससे डरते हैं ?'

शासक का कर्त्तव्य प्रजा-सुख है। दशरथ सत्यव्रत इतने हैं कि प्राण त्याग कर देते हैं। राम सत्यव्रत इतने हैं कि चित्रकूट में माता, भाई, मुनि की भी नहीं मानते क्योंकि—

'पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है;

वह लौटा कर कब कहाँ लिया जाता है ?'

वे निर्भीक व स्वालवी हैं।

साकेत का शासन एक छत्र अवश्य है पर निरकुश नहीं है। सम्मति के लिए वशिष्ठ जैसे राज गुरु हैं और कह दिया गया है—

'शासन सब पर है, इसे न कोई भूले।

शासक पर भी, वह भी न फूल कर ऊले !'

सीता से वार्तालाप करते समय राम कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रक्षा का अधिकार है और शासक का कर्त्तव्य है उनकी सुख सुविधा का ध्यान रखे, वे राज्य का उपभोग करने नहीं आए हैं—संसार में नवीन वैभव व्याप्त कराने आए हैं—

'सब की सुविधा का भार किंतु शासन को !'

× × × ×

'मैं राज्य भोगने नहीं भुगाने आया !'

राम के वनवास में भरत शासन करते हैं। उन्हें जन रक्षा की इतनी चिंता है कि भूख भोजन का भी ध्यान नहीं। किसानों ने जाकर उनका कुशल क्षेम पूछते हैं। सुख को लात मार कर दुःख झेलने वाला उनके समान और कौन है ! शत्रुघ्न उनसे नगर का समाचार पूछते हैं। वे वैद्य, स्वर्णकार आदि की चर्चा

सुना देते हैं। सब अपने कार्यों में 'सलग्न' हैं। राम के स्थान पर भरत के शासन में कोई विघ्न-बाधा नहीं है—

(१)—'माली नए नए पौदों को उद्यानों में पाल रहे"।'
(२)—'तंतुवाय बुन बना रहे हैं नए नए बहु पट-परिधान""।'
(३)—'स्वर्णकार कितने प्रकार से करते हैं मणि काँचन योग""।'
(४)—'वसुधा विज्ञों ने कितनी ही खोजी नई नई खानें""।'
(५)—'श्रमी कृषक निज बीज वृद्धि का रखते हैं जीवित इतिहास""।'
(६)—साथ रहे हैं सुभट विकट बहु भय-विस्मय साहस के खेल''।
(७)—सौगाधिक नव नव सुगंधियाँ प्रभु के लिए निकाल रहे"।'

ये सब वर्णन राज्य की समृद्धि, शांति, व्यवस्था का परिचय कराते हैं।

प्रजा भी शासक से प्रेम करती है। चार स्थलों पर इसका उल्लेख मिलता है (१) जब दशरथ का अन्तिम संस्कार होता है तो लोग समूह के समूह उनके पीछे जाते हैं—"उमड़ने दो लोक पारावार'। (२) जब राम नगर त्यागने लगते हैं तो वे लोकमत की दुहाई देकर उन्हें रोकना चाहते हैं। इसका अर्थ हुआ अत्यन्त सम्मान करते हैं।

'रामचन्द्र भव भूमि अयोध्या की सदा,
और अयोध्या रामचन्द्र की सर्वदा!'

राम भी उन्हें भरत के अनुशासन में आश्वासन दिलाते हुए कहते हैं—

भूलोगे तुम मुझे उन्हें पाकर सुनो,
मुझे चुना तो जिसे कहूँ अब मैं, चुनो।
जैसा है विश्वास मुझे उनके प्रती-
प्रिय उससे भी अधिक न निकलें वे व्रती-
तो तुम मुझको दूर न पाओगे कभी'।'

× × × ×

भरत तुम्हारे योग्य नहीं भाता कहीं।
तो समझेगा राम उन्हें भ्राता नहीं!'

(३) तीसरा राजभक्ति का अवसर आता है जब सारे नगर निवासी भरत के साथ राम को लौटाने के लिए चित्रकूट चलते हैं। यदि शासक को प्रिय नहीं मानते तो अयोध्या से चित्रकूट तक जा पहुँचने की आवश्यकता क्या थी! (४) सबसे अच्छा अवसर उन्हें राज भक्ति दिखाने का मिला है द्वादश-सर्ग में जहाँ भरत द्वारा उद्बुद्ध किए जाने पर वे राम की सहायता के लिए सेना सजाने लगते हैं। वृद्ध, युवक, नारियाँ किशोर सब चलने को तैयार हो जाते हैं—

'राम नहीं घर, यही सोच कर लोभी मोही,
क्या कोई माण्डलिक हुआ सहसा विद्रोही ?
मरा अभागा, उन्हे जानता है जो वन में,
रमे हुए हैं यहाँ राम-राघव जन जन में !'

इस प्रकार 'साकेत' में राजा-प्रजा की भावनाओं का समन्वय हुआ है।

२. व्यक्ति समाज का :—न तो व्यक्ति को अपनी ही, उन्नति में इतना संलग्न होना चाहिए कि वह समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य भूल जाय और न इतना अति सामाजिक हो जाय कि व्यक्ति उपेक्षित हो उठे। न तो इतना भोग विलास में लिप्त हो कि शरीर रूपी वीणा के तार ही ढीले पड़ने लगें और न इतना तटस्थ हो जाय कि तार कसते कसते टूट जाँय। सर्वांगीण उन्नति के लिए मध्यम मार्ग आवश्यक तथा एक मात्र उपाय है—वह चाहे व्यक्ति की उन्नति से सम्बन्ध रक्खे या समाज की। बुद्ध की "मध्यमा प्रतिपदा" भी यही है।

'साकेत' में इसका परिचय मिलता है साकेत निवासियों के आनदमय जीवन से। सब परस्पर घुले मिले रहते हैं जैसे एक विशाल वृक्ष के विभिन्न पुष्प हों! उनमें सभी गुण हैं—

'स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट, उद्योगी सभी।
बाह्य भोगी, आन्तरिक योगी सभी!'

न मानसिक चिंताएँ हैं, न शारीरिक व्याधियाँ! जब किसी को कुछ अभाव ही नहीं तो चोर कैसे निवास कर सकते हैं?

सर्व सुख हैं प्राप्त जीवन के लिए।'

ऐश्वर्य शाली घर हैं, रंग शालाएँ हैं जहाँ ललित कलाओं के विकास का अवसर प्रत्येक नागरिक को है। समृद्धि होने पर ही कलाओं का पूर्ण विकास होता है।

'नागरों की पात्रता, नव नव कला, क्यों न दे आनंद लोकोत्तर भला ?'

अर्थात् नागरिकों का जीवन सतुलन है। न व्यक्ति को चिन्ता है न समाज को। भौतिक उन्नति को वे उतना ही महत्त्व देते हैं जितना आतरिक उन्नति को। इसलिए "रामराज्य" है। मनुष्य को पार्थिव धन वैभव की ओर ही नहीं झुक जाना चाहिए—इसका बोध राम ने कराया है—

'जन सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया!'

इस प्रकार गुप्त जी ने समाज के दोनों पक्षों का—वैयक्तिक साधना का तथा सार्वजनिक साधना का समन्वित रूप सामने रख दिया है। कवि 'पंत' ने भी यही लिखा है—

केवल "राजनैतिक, आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव जाति के भाग्य का निर्माण नहीं किया जा सकता.

"इसलिए भविष्य में हम जिस मानवता या लोक संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए हमें बाहर भीतर दोनों ओर से प्रयत्न करना चाहिए "*

"ऐसा समन्वय जो कोरा बौद्धिक ही न हो किन्तु जिसमें जीवन, मन, चेतना के सभी स्तरों की प्रेरणाएँ सजीव सामंजस्य ग्रहण कर सकें। जिसमें बहिरंतर के विरोध एक सक्रिय मानवीय संतुलन में बँध सकें। विस्तृत मस्तिष्क के साथ संस्कृत हृदय की भी आवश्यकता है!"※

'बहिरंतर के सत्यों का जग जीवन में कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन मंगल हो निःसंशय!'
—(स्वर्ण किरण)

गुप्त जी ने निषाद आदि पात्रों को भी सद्‌गुणों की वृद्धि करते हुए चित्रित किया है। और राम उसे छोटा नहीं समझते—

'देख सखा को दिया समादर राम ने,
उठकर, बढ़ कर लिया प्रेम से सामने!'

उसके लिए वे अपने स्थान से उठते ही नहीं आगे भी बढ़ते हैं। इसका तात्पर्य हुआ प्रेम के सम्मुख छोटा बड़ा कोई नहीं। ऋष्यमूक पर्वत पर रहने वाले बन्दर भालुओं का स्तर उठा कर वे अज्ञान, अशिक्षित मनुष्य के रूप में चित्रित किया है। हनूमान तो अपने को बन्दर कहने में संकोच करते हैं। राम की दृष्टि इन दक्षिण की जातियों को सभ्य करने में लगी है। यह है व्यक्ति का सामाजिक पक्ष। आर्य सभ्यता इस प्रकार स्थापित होती है और समाज में उपयुक्त सत्कार, पद-मर्यादा का ध्यान निरंतर व्यक्तियों को रहा है, वे चाहे अर्ध सभ्य ही क्यों न हों!

'लेकर पवित्र नेत्र नीर रघुवीर धीर,
वन में तुम्हारा अभिषेक करें आओ तुम।
व्योम के वितान तले चन्द्रमा का छत्र तान,
सच्चा सिंह-आसन बिछा दें, बैठ जाओ तुम।

---

* 'उत्तरा' की भूमिका

※ 'गद्य पथ'—सुमित्रानंदन पंत

अर्घ्य पाद्य और मधुपर्क यहाँ भूरि भूरि,
अतिथि समादर नवीन नित्य पाओ तुम।
जंगल में मंगल मनाओ, अपनाओ देव,
शासन जनाओ, हमें नागर बनाओ तुम!'

3. प्रेम वैराग्य का :—उर्मिला का अनुराग तो विराग से पूर्ण है ही दोनों के समन्वित प्रमाण राजा जनक हैं जिनमें प्रेम वैराग्य, भक्ति ज्ञान, मोह-निर्लेपता सभी गुण एक साथ आ गए हैं—

'त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
राजा योगी जय जनक वे पुरात्रदेही, विदेही।'

ऐसे जनक नरेश का स्मरण गुप्त जी ने नवम् सर्ग के आरम्भ में किया है। भक्ति का उल्लेख तो 'साकेत' के मुख पृष्ठ पर ही मिलता है—

'जय देव मंदिर-देहली,
सम भाव से जिस पर चढ़ी-
नृप हेम मुद्रा और रंक वराटिका।
मुनि सत्य सौरभ की कली,
कवि-कल्पना जिसमें बढ़ी-
फूले फले साहित्य की वह वाटिका!'

× × . × ×

'तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे!'

तब गणेश-शारदा की स्तुति से काव्यारम्भ किया है। गुप्त जी हैं कट्टर वैष्णव। स्मरण सबका करते हैं, जिसे सामंजस्य ही मानना चाहिए। उसके ऊपर अपनी अनन्यता भी स्थापित कर देते हैं। सिक्ख गुरुओं का गान किया है, हसन हुसैन को याद कर लिया है, कृष्ण तो राम की भाँति पौराणिक अवतार ही ठहरे, शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध को बड़ी नम्रता से स्मरण कर लिया है लेकिन अन्त में उनसे भी वदना राम की ही करादी—"ओ क्षणभंगुर भव! राम राम!" इससे प्रतीत होता है गुप्त जी भक्ति के क्षेत्र में सबका समान स्तर स्वीकार करते हैं और व्यक्तिगत रुचि के आधार पर जो चाहे जिसकी उपासना कर सकता है। + इसे हम भक्ति क्षेत्र की उदारता के धार्मिक मतों के समन्वय की भावना भी मान सकते हैं।

+ विशेष देखिए प्रथम भाग, अध्याय १६—'गुप्त जी भावना'

वैराग्य को भी गुप्त जी ने एकांतिक रूप में स्वीकार नहीं किया। उर्मिला 'प्रिय प्रवास' की राधा की भाँति जीवन से तटस्थ होकर ज्ञान-मोह-प्रेम की दार्शनिक व्याख्या करने नहीं बैठ जाती। शुद्ध ज्ञान में उसका अनुभूति पक्ष—हृदय की कोमलतम तथा सार्वदेशिक प्रवृत्ति प्रेम भावना कहाँ रहेगी। वह वेदना को भी अंगीकार करती है, विरह व्यथा को भी प्यार करती है, क्योंकि इनका सम्बन्ध अनुराग से है। इसी कारण विरह मिलन एक साथ हो गए हैं—

मैं पिंजड़े में पड़ी हुई हूँ किन्तु खुला है द्वार भी-
काल कठिन क्यों न हो, किन्तु है मेरे लिए उदार भी।'

इसका कारण यह है—

'जहाँ विरह ने मार दिया है किया वहाँ उपकार भी,
सुध बुध हरली, किंतु दिया है काल ज्ञान विचार भी।
जना दिया है उसने मुझको जन जीवन है भार भी,
और मरण ? वह बन जाता है कभी हिए का हार भी।
जाना मैंने इस उर में थी ज्वाला सी, जलधार भी,
प्रिय ही नहीं यहाँ मैं भी थी, और एक संसार भी।'

इतना बड़ा जीवन का अनुभव उसको कैसे हुआ ? विरह के कारण। और विरह के मूल में क्या है ? अनुराग। इसीलिए वह निरन्तर प्रेम की उपासक है, इसीलिए निष्फल होती हुई आशा भी उसे काम्य है।

यही समन्वय मानव जीवन के प्रेम ज्ञान पक्षों मे गुप्त जी ने 'यशोधरा में भी उपस्थित किया है। गौतम ज्ञान मार्गी बनकर मुक्ति की खोज में जाते हैं तो गोपा प्रेममार्गी बन कर उन्हें बन्धन देना चाहती है। पुरुष-प्रकृति का समन्वय न हो तो सृष्टि कार्य कैसे चले ? अत जीवन मे दोनों सापेक्ष हैं और काम्य हैं—

'क्या देकर मैं तुमको लूँगी ?
देते हो तुम मुक्ति जगत को,
प्रभो, तुम्हें मैं बंधन दूँगी।
बाँध बद्ध ही तुम्हें न लाते,
तो क्या तुम इस भू पर आते ?
निर्गुण के गुण गाते गाते।
हुई गभीर गिरा भी गूँगी।'

पुरुष व प्रकृति का यही समन्वय आनन्द का शाश्वत सुख, उल्लास का मूल होता है जिसका उल्लेख प्रसाद ने भी किया है—

'शापित है यहाँ न कोई, तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहाँ है!'

× × × ×

'समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था!'

४. सगुण निर्गुण का— मैं पहले लिख आया हूँ कि गुप्त जी ने 'साकेत' के राम में उनके दोनों रूपों का समावेश कर दिया है। मूलतः वे हैं निर्गुण— 'जयद्रथ वध' के कृष्ण की तरह। लेकिन भक्त-हित के लिए सगुण रूप धारण करते हैं। वस्तुतः गुप्त जी की यह नवीनता या मौलिकता नहीं माननी चाहिए, क्योंकि तुलसी ने अपने निर्गुण सगुण में इसी तरह समन्वय किया है। दोनों से उदाहरण लेकर देख लीजिये। तुलसी ने कहा था—

'अगुन, अरूप, अलख, अज जोई,
भगति प्रेम वस सगुन सो होई!'

इसी कारण— सगुनहिं कछु नहिं भेदा।'

और गुप्त जी लिखते हैं—

'हो गया निर्गुण सगुण साकार है,....
किस लिए यह खेल प्रभु ने है किया?....
भक्त वत्सलता इसी का नाम है?'....

इन दोनों वर्णनों में न तात्विक अन्तर है न शाब्दिक। अतः यह समवन्य तुलसी का ही गुप्त जी ने स्वीकार कर लिया है।

अब जहाँ तक इन राम को मानव या आदर्श मानव बनाने का प्रयत्न है, वहाँ गुप्त जी तुलसी से अलग हो गए हैं। गुप्त जी के राम की भाँति तुलसी के राम ने यह नहीं कहा—

'अथवा आकर्षण पुण्य भूमि का ऐसा,
अवतरित हुआ मैं, आप उच्च फल जैसा।
जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे!
पर जो मेरा गुण, कर्म स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे!'

यह स्पष्ट ही राम का अवतारी रूप है जिसमें गुप्त जी ने उनके—

'मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया।'

इस मानव रूप का समन्वय कर दिया है। यह मिला-जुला रूप कैसा हुआ है इसकी आलोचना मैं बाद में करूँगा। यहाँ प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, का अभिमत देख लेना पर्याप्त होगा—

"पाठक की भावना चाहे जो पसन्द करे, किन्तु हमारा निजी विचार है कि हम एक अवतार लेकर आए हुए ईश्वर से अपना नाता उतना नहीं जोड़ सकते, जितना उससे, जो हम मानवों में जन्म लेकर हमारी ही कोटि में रह कर, हमसे ऊँचा उठकर एक सभाव्य आदर्श प्रस्तुत कर सके। 'साकेत' के राम भले ही हमारी धार्मिक भावना के म्यूजियम की सचनीय सम्पत्ति हों, किन्तु सम्भवत. वे हमारे दैनंदिन जीवन के पथ पर मशाल नहीं जला सकते।"

(४) व्यक्ति परिवार का—'साकेत' की कथा वस्तुत दशरथ-परिवार की कथा है। परिवार के प्रत्येक प्राणी को दूसरे का ध्यान रखना होता है। यहाँ पिता पुत्र की, पुत्र माता की, पत्नी पति की, भाई-भाई की, गुरु-शिष्य की परस्पर मान्यताओं का समन्वय हुआ है। पाँच दम्पति हैं—(१) उर्मिला-लक्ष्मण, (२) राम-सीता, (३) भरत माण्डवी, (४) दशरथ और तीन रानियाँ, (५) शत्रुघ्न श्रुतिकीर्ति। नारियाँ वीर हैं, कर्त्तव्य परायण हैं, त्यागशील हैं फिर भी पुरुष से विच्छिन्न रह कर नहीं—साथ-साथ रहकर। उर्मिला कहती है—

'खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम, चाहती हैं एक तुमसा पात्र हम।'

तो लक्ष्मण ने स्त्री के महत्व पर जोर दिया है—

'प्रेयसी, किससे सहज संसर्ग से, दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से।'

यदि दोनों का सम्मिलन न हो तो जीवन भार हो जाता है। स्त्री ही पुरुष को पूर्णता तक पहुँचा सकती है—इस प्रकार नर-नारी का भी समन्वय हो गया है। 'कामायनी' के मनु भी श्रद्धा विहीन होने पर भटकते हैं, चरम आनद, शिव दर्शन उन्हें श्रद्धा की सहायता द्वारा ही प्राप्त होता है।

'यह क्या ? श्रद्धे! बस तू ले चल, उन चरणों तक, दे निज संबल।'''
मिटते असत्य से ज्ञान लेश, समरस अखण्ड आनन्द वेश।'

'साकेत' का लक्ष्मण मानव जीवन में नारी की उपयोगिता स्वीकार करते हैं—

'अपने को ही आज मुझे तुमने दे डाला,
आँखों मे ही रहीं अभी तक तुम थी मानो।
अंतरतल में आज अचल निज आसन जानो!'

और उर्मिला के मानस में लक्ष्मण पहले से ही बसे हुए हैं—

'मानस मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप !'

'यशोधरा' के गौतम बुद्ध ने भी जीवन में नारी का महत्व स्वीकार किया है—

'दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत - दया - मूर्ति वह मन से, शरीर से।
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृ जाति ने ही-खीर से।
आया जब मार मुझे मारने को बार बार,
अप्सरा अनीकिनी सजाए हेम हीर से।
तुम तो यहाँ थीं, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ,
जूझा, मुझे पीछे कर, पंच शर वीर से !'

दोनों परस्पर कर्त्तव्य निबाहते हैं, उर्मिला चौदह वर्ष वियोग-साधना करती है, लक्ष्मण सेवा-साधना करते हैं लेकिन एक को दूसरे का ध्यान विस्मृत नहीं होता ! लक्ष्मण ने मेघनाद वध के समय उर्मिला की प्रेरणा से—एक पत्नीव्रत से ही शक्ति प्राप्त की है। इस प्रकार गुप्त जी ने नर-नारी की भावनाओं का समन्वय किया है।

परिवार में प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों का ध्यान है। राम पिता-माता की आज्ञा पालन करते हैं। लक्ष्मण-भरत ने मातृ-भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया है और शत्रुघ्न उनका आदेश इतनी शीघ्रता से पालते हैं कि "जो आज्ञा" कहना भी भूल जाते हैं—

'सिर पर नत शत्रुघ्न भरत-निर्देश धरे थे,
पर 'जो आज्ञा' कह न सके, आवेश भरे थे।
छू कर उनके चरण द्वार की ओर बढ़े वे,
झोंके पर ज्यों गंध, अश्व पर कूद चढ़े वे !'

एक ओर वात्सल्य है तो दूसरी ओर मातृत्व, एक ओर प्रणय है तो दूसरी ओर त्याग, एक ओर अधिकार है तो दूसरी ओर कर्त्तव्य, एक ओर गौरव लघुता है तो दूसरी ओर नम्रता सेवा-भाव—और ये सब गुण 'साकेत' के व्यक्तियों में साथ-साथ उपलब्ध होते हैं। लक्ष्मण जैसे उग्र प्रचण्ड पात्र भी हैं,

राम जैसे सदैव शान्त, एकरस पात्र भी ! छोटे भाई का बड़े भाई पर अधिकार होता भी अधिक है अतः लक्ष्मण कभी बहक भी जाते हैं —

'सीधे हैं आप, परंतु जगत है उल्टा।'

लेकिन समझाते ही तुरन्त कहने लगते हैं—

'हुआ कुछ भी नहीं मैं जानता हूँ,
तुम्हें जो मान्य है सो मानता हूँ।
विदा की बात किससे और किसकी ?
अपेक्षा कुछ नहीं है नाथ ! इसकी !'

सारा आवेश भ्रातृत्व के सामने शान्त हो जाता है और दोनों मिल जाते हैं—

'बढ़ीं तापिच्छ-शाखा सी भुजाएँ—अनुज की ओर दाएँ और बाँए"
पदाब्जों पर पडे वे आप जब तक, किया प्रभु ने उन्हें भुज बद्ध तबतक;
मिले रवि-चन्द्र सम युग बंधु ज्योंही"' ।'

राम कैकेयी का दूसरा आदेश पालने को भी तैयार हैं जब वनवास उनकी आज्ञा से स्वीकार किया तो पुनः राज्य सिहासन भी स्वीकार करेंगे—बस पहले यह पूर्ण हो जाय। और भरत तो राम को चित्रकूट में भी रुला देते हैं। भरत से अधिक आदर्श पालक और कौन हो सकता है ? अयोध्या लौटने पर राम विमान से कूद कर उनसे गले मिलते हैं—

'वर विमान से कूद, गरुड से ज्यों पुरुषोत्तम।
मिले भरत से राम क्षितिज में सिंधु-गगन सम !"

और उसी का प्रेम श्रेष्ठ घोषित कर देते हैं—

'उठ भाई, तुल सका न तुझसे, राम खड़ा है,
तेरा पलडा बड़ा, भूमि पर आज पडा है।
गए चतुर्दश वर्ष, थका मैं नहीं भ्रमण में,
विचरा गिरि वन सिंधु पार लंका के रण में' "

वे उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते—

'श्रांत आज एकांत रूप सा पाकर तुझको,
उठ भाई उठ, भेंट अंक मे भर ले मुझको !
मैं वन जाकर हँसा, किंतु घर आकर रोया,
खोकर रोए सभी, भरत, मैं पाकर रोया !'

ये प्रेम के आँसू हैं जा रोके नहीं रुकते।

हनुमान तो सेवा के मूर्त रूप हैं ही। युद्ध भूमि से लक्ष्मण को उठा लाते हैं, सीता की खोज करते हैं और संजीवनी बूटी लेने के लिए सागर के साथ-साथ आसमान भी पार कर जाते हैं।

'भू पर से ऊपर गया था वानरेन्द्र मानों,
एक नया भद्र भौम जाता था लगन में।
प्रकट सजीव चित्र सा था शून्य पट पर,
दण्ड हीन केतन दया के निकेतन में!'

वशिष्ठ मुनि को भी राज्य परिवार के प्रति अपने कर्तव्य का ध्यान है। उनसे ज्ञान मार्गी तर्क उपस्थित कराए गए हैं। जीवन में अधीर न होकर संतुलन रखना चाहिए। सत्य भी कठोर होता है। जीवन में प्रत्येक विषमता का सामना करना होता है और मनुष्य को इसके लिये उद्यत भी रहना चाहिए। इसलिए वे रानियों को भी सती होने से रोकते हैं तथा भरत को भी समझाते हैं। वशिष्ठ मुनि स्वयं समन्वय के प्रतीक हैं—

'वत्स अनुपम लोक शिक्षण कार्य!
त्याग का संचय प्रणय का पर्व, सफल मेरा सूर्य कुल-गुरु-गर्व।'

राजकुमारों को शिक्षा भी इतनी व्यापक सर्वाङ्गीण दी है कि जावालि जरठ को भी राम के तर्क मानने ही पड़े। वशिष्ठ भरत को समझाते हैं वीर जीवन में हार नहीं स्वीकार करते—"सतत कर्म क्षेत्र है नर लोक!" मृत्यु अवकाश है, जीवन कार्य है—यही जीवन का सत्य है—

'कर पिता का मृत्यु-कृत्य अपत्य, लो क्रमागत गोत्र-जीवन-सत्य।
मरण है अवकाश, जीवन कार्य, कह रहा हूँ आप में आचार्य॥
व्याप्त हैं तुममें पिता के प्राण, शोक छोड़ो शूर, पाओ त्राण!'

बाधाएँ तो जीवन में आती रहती हैं इनसे क्या डरना! विश्व के प्रत्येक कंप में एक ताल है। सफलता कब मिलती है?

'सुगति होती है तभी यह प्राप्त, प्रलय में भी लय रहे निज व्याप्त!'

लय-प्रलय का, जीवन-मृत्यु का अवकाश-कार्य का यही समन्वय वशिष्ठ ने कहा है! इसी का संकेत करती है श्रद्धा—

'कर रही लीलामय आनंद, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त!'

× × × ×

'नित्य समरसता का अधिकार,
उमडता कारण जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान !' (कामायनी)

(६) व्यक्ति नियक्तता—इसके दो रूप हैं—(१) एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से जिसका उल्लेख हो चुका है (२) स्वय व्यक्ति के अपने जीवन में। वास्तविक सुख या आनन्द वाह्य उपादानों में नहीं होता, स्वय हमारे मन में होता है।

राम ने सीता से यही व्याख्या की है—

'आनंद हमारे ही अधीन रहता है,
तब भी विषाद नरलोक व्यर्थ सहता है।
करके अपना कर्त्तव्य रहो संतोषी,
फिर सफल हो कि तुम विफल, न होगे दोषी !'

× × × ×

'सुख धन धरती में नहीं किन्तु निज मन में !'

लक्ष्मण अपने जीवन में सुखी व सतुष्ट हैं क्योंकि वे समन्वयवादी हैं। निर्लिप्त होकर रहना ही मुक्ति है। वे स्वय कहते हैं—

'मेरे लिए विषाद व्यर्थ है, धन्य मैं,
सुप्त नहीं हूँ, सतत सजग, चैतन्य मैं।
मैं तो निज भव सिंधु कभी का तर चुका,
राम चरण मे आत्म समर्पण कर चुका।'

तो उन्हें अपने जीवन मे न चिंता है, न अभाव। कर्त्ता व भोक्ता एक ही हैं—बन्धन मुक्ति का यही एकमात्र रहस्य है।

सीता के व्यक्तिगत जीवन में भी यही समन्वय मिलता है तभी वह जगल में भी मगल मनाती है। उसे भी कोई कमी नहीं। सम्राट, सचिव, गुरुवृन्द हैं ही वनवासी अथिति हैं, मुनि बालाएँ उसकी सखियाँ हो गई हैं। वह स्वय अपने पैरों पर खड़ी है तब कौन कह सकता है कि उसका भाग्य ठगा हुआ है? वन में ही गृहस्थ जीवन है। चूँकि वह जीवन मे समन्वयात्मक प्रवृत्ति द्वारा प्रसन्न है, मोर, चातक, शुक, पिक से भी नाचने गाने को कहती है—

'नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोडे,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोडे।

गाओ दिवि, चातक, चटक, भृंग भय छोड़े,
वैदेही के वनवास वर्ष हैं थोड़े।
तितली तूने यह कहाँ चित्रपट पाया !....'

सीता का समन्वय से उद्‌भूत यह उल्लास प्रसाद की देवसेना तथा श्रद्धा का स्मरण करा देता है। वे भी प्रत्येक स्थिति में आनद मग्न हैं—सुख हो या दुःख इसका कारण श्रद्धा के ही शब्दों में देखिए—

'मैं हँसती हूँ, रो लेती हूँ, मैं पाती हूँ, खो देती हूँ।
इससे ले उसको देती हूं, मैं दुख को सुख कर लेती हूँ !'

इसी निष्कर्ष पर अन्त में 'साकेत' की उर्मिला पहुंची है—

'विधि से चलता रहे विधान, हे मेरे प्रेरक भगवान !
प्रभु की ही इच्छा पूरी हो, जिसमें सबका श्रेय !'

यह व्यक्ति के अपने जीवन में समन्वयात्मक दृष्टिकोण है जिसका अनुसरण यशोधरा ने भी किया है।

'ममता को लेकर ही समता,
ममता में है मेरी क्षमता।
फिर क्यों अब यह विरह विषमता ?
क्यों अपेय इस पथ का पाथ ?
तुच्छ न मुझको समझो नाथ !'

७. जीवन लक्ष्य का :—'साकेत' के प्रत्येक पात्र ने जीवन का जो भी लक्ष्य रखा है वह अतिवादी नहीं है। दो सीमाओं का मध्यवर्ती पथ है। जिस प्रकार साहित्य में या कला में आदर्श-यथार्थ का समन्वय होता है उसी प्रकार मानव जीवन में भी। गीता का कर्मवादी सिद्धान्त इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। यदि प्रत्येक व्यक्ति कर्म पर ध्यान रक्खे शुभ अशुभ परिणाम की चिन्ता छोड़ दे तो जीवन में विषमता उत्पन्न हो ही नहीं सकती। अतः साकेत के पात्रों को कर्म की ही धुन है—

(१) 'भूल जयाजय और भूल कर जीना मरना।
हमको निज कर्त्तव्य मात्र है पालन करना !'

(२) 'फल की चिंता नहीं कर्म की हमको धुन है।'

(३) 'कर्म हेतु ही कर्म कहीं हम कर सकें।
तो उनके फल हमें कहाँ से धर सकें !'

(४) 'कीट पूर्ण हैं कुसुम, कण्टकित है मही।
जो सबसे बच निकल चले, विजयी वही!'

यह गीता का ही एक आदर्श है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन!'

राम मर्यादा पालन का संदेश देते हैं। जितने भी प्रवाह हैं उन्हें बहने की पूरी स्वतन्त्रता है—बस अपनी सीमा का अतिक्रमण न करें! अर्थात् सीमा के अन्तर्गत विभिन्न विचार धाराओं, मान्यताओं का समन्वय। प्रत्येक व्यक्ति को समष्टि के लिए अपना त्याग करना चाहिए और लक्ष्मण ने भी कह दिया है—

'साधो उसको और मनाओ युक्ति से,
सखे समन्वय करो भुक्ति का मुक्ति से!'

यही जीवन लक्ष्य का समन्वय है! वे केवल भाग्य को ही प्रधानता नहीं देते उद्योग को प्रधानता देते हैं—

'भाग्य वश रहते हैं बस दीन, वीर रखते हैं उसे अधीन!'

क्योंकि यह भाग्य कोई नवीन वस्तु नहीं। पूर्व जन्म में जैसा किया उसी के अनुरूप है—

'किन्तु भाग्य भी पूर्व कर्म का योग है!'

न मनुष्य इतना ही स्वप्नवादी हो जाय कि वर्तमान को भुला दे ऐसा भी वे नहीं चाहते। दूसरों का दुख सहना ही सुख है और जन भार वहन करने में ही गौरव है। जो हमारा लक्ष्य है वह तो निरन्तर समीप ही रहता है, उसी तक पहुँचने को हमें निरतर साधना करनी चाहिये। भविष्य की चिन्ता क्यों? एक अँग्रेज कवि का यही कहना है

"Trust no future however pleasant
Let the dead past bury its dead
Art act in the living present
Heart within and cood overhead" *

'साकेत' के अन्त में यही जीवन लक्ष्य लक्ष्मण ने भी उपस्थित किया है—

'अलक्ष्य की बात अलक्ष्य जानें, समक्ष को ही हम क्यों न मानें?
रहे वहीं प्लावित प्रीति-धारा, आदर्श ही है ईश्वर हमारा!'

इसी आदर्श रूपी ईश्वर की हमें जीवन में साधना भी करनी है।

* Longfellow.

प्रसाद ने 'कामायनी' में इच्छा कर्म और ज्ञान का समन्वय करा दिया है। जीवन में वैषम्य इसलिए है कि ये तीनों अलग-अलग हैं—परस्पर भिन्न हैं। मनुष्य ऐसी इच्छा करता है जो अपूर्ण रहती है, ऐसा कर्म करता है जो विवेक सम्मत नहीं होता और ज्ञान में इतना उलझ जाता है कि जीवन को ही नगण्य मान बैठता है। इनके सामंजस्य पर ही शान्ति, आनन्द हो सकता है—

'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो, इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में, श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे!'

(८) प्राचीन नवीन का—मान्यताओं की भाँति गुप्त जी ने साहित्य में भी प्राचीन व नवीन पद्धतियों का समन्वय किया है। हनूमान मनुष्य हैं और पुराणों की तरह आकाश भी पार कर जाते हैं। वशिष्ठ साधक, महात्मा, विद्वान् हैं अतः आत्मिक शक्तियों की भी उनमें कमी नहीं। आज का भौतिकवादी युग इन यौगिक चमत्कारों को, ईश्वर परलोक आदि सम्बन्धी विचारों को अधिक महत्व नहीं देता। वह मनुष्य को मनुष्य रूप में ही देखता है पारलौकिक या दैवी शक्ति के रूप में नहीं। गुप्त जी दोनों दृष्टियों को मिलाते चले हैं। अयोध्या के नागरिक सामान्य भाई हैं, उत्साहपूर्वक युद्ध में जाने को उद्यत हैं कि वशिष्ठ उन्हें सारा युद्धस्थल वहीं दिखा देते हैं—

'शांत, शांत, सब सुनो कहाँ जाते हो, ठहरो;
शौर्य वीर्य के सघन घनानन, व्यर्थ न घहरो।
लंका विजित प्राय, तनिक तुम धीरज धारो,
अच्छा लो, सब इधर क्षितिज की ओर निहारो!'

और उन्होंने अपने योगबल द्वारा—

'मंत्र-यष्टि सी जहाँ उन्होंने भुजा उठाई,
दूर दृष्टि सी एक साथ ही सबने पाई!'

उर्मिला के विरह वर्णन में भी प्राचीनता-नवीनता का समन्वय हुआ है। अन्यथा षट्ऋतु वर्णन करना आवश्यक नहीं था। कहीं रीतिकालीन ऊहात्मक पद्धति के दर्शन भी हो जाते हैं, जिन्हें हटाया जा सकता था—

'उसे बहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट,
धन्य सखी देती रही निज यत्नों की ओट!'

× × × ×

'जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप,
लगे न लू होकर कहीं, तू अपने को आप !'

नवीनता यह है कि प्रकृति का सहानुभूति मूलक रूप अधिक लिया है, कथन के स्थान पर व्यजना अधिक है। यह भी समन्वय ही है।

(६) प्रबंध-मुक्तक का—काव्य शैली के सम्बन्ध में गुप्त जी की सबसे बड़ी सफलता और देन है प्रबध परम्परा में मुक्तक परम्परा का विधान कर देना जिसे आचार्यों ने बिल्कुल ही पृथक माना है। 'साकेत' महाकाव्य है अतः प्रबध काव्य तो हुआ ही, मुक्तक कविता का समन्वय इसमें तीन प्रकार से हुआ है—(१) आत्म कथन के रूप में, (२) गीतों के रूप में (३) पदों के रूप में। यह भी कहा जा सकता है कि 'साकेत' में गीतों के तीन रूप मिलते हैं—(१) पात्रों के भावोद्गार के रूप में (२) एक मूल भाव को व्यक्त करने वाले (३) पद शैली के रूप में—जिसका प्रयोग प्राचीन काल में 'सूर' तुलसी आदि ने किया था।

गीतों में कवि अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और वाह्य जगत को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रजित करता है।

"सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" ×

"Its content is that within oneself, the ideal world, it is able to accept self expression as its unique and final end." +

गीति काव्य की विशेषताएँ क्या हैं? सगीतपूर्ण भावाभिव्यक्ति, अन्तर्जगत का चित्रण, विचारों की एक रूपता, कोमलता, शब्द-मधुरता, प्रभावात्मकता, सक्षिप्तता आदि। कठोर प्रसगों का इस स्थिति में यथा सम्भव वहिष्कार ही किया जाता है। 'साकेत' के गीतों में ये सब विशेषताएँ हैं। मेरे विभाजन के अनुसार इनका वर्गीकरण ऐसा हो सकता है—

(१) आत्म कथनात्मक रूप में—इसमें लबे-लबे गीत आ जाएँगे जिनकी एक-एक पक्ति प्रत्येक चरण या निश्चित पक्तियों के उपरान्त नियमित रूप से दुहराई जाती है।

× महादेवी वर्मा
+ Hegel

'मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया !'

× × × ×

'जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी !' आदि

(२) छोटे गीतों के रूप में—इनमें मूल भावना एक होती है अनेक उदाहरणों, भावनाओं द्वारा उसी की व्यंजना की जाती है।

'ओ गौरव गिरि उच्च उदार।'

× × × ×

'दोनों ओर प्रेम पलता है।'

× × × ×

'आ जा मेरी निंदिया गूँगी।'

× × × ×

'स्नेह जलाता है यह बत्ती।' आदि।

'साकेत' में इसी प्रकार के गीत प्रधान हैं। इन्हीं का विकास गुप्त जी ने 'यशोधरा' के गीतों में किया है। कहीं बिना पंक्ति दुहराए भी गीतात्मकता लाने का प्रयत्न किया गया है जैसे—

'सखि नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा तरता तरता।' आदि।

(३) पदों के रूप में—ये गीत ८-१० पंक्तियों के होते हैं, पहली पंक्ति बार-बार दुहराई नहीं जाती—

'वेदने तू भी भली बनी।'

× × ×

'मुझे फूल मत मारो।'

× × ×

'शिशिर न फिर गिरि वन में।' आदि।

सवैया, कवित्त, छन्दों का प्रयोग भी मुक्तक की प्रधानता सूचित करते हैं। इन गीतों को प्रबंध के साथ भी पढ़ा जा सकता है और अलग भी। 'साकेत' के नवम् सर्ग में ही प्रायः २५ से अधिक गीतों का विधान सब मिलाकर हुआ है। इस प्रकार गुप्त जी ने प्रबंध में मुक्तक का समावेश किया है।

(१०) शैलीका—शैली में भी नवीन अभिव्यंजनात्मक पद्धति लाक्षणिक विधान, प्रस्तुत, अप्रस्तुत आदि का समन्वय हुआ है, जिसकी चर्चा आगे की

जायगी। मूर्तिमत्ता, प्रतीकात्मक पद्धति सब नवीन शैलियाँ हैं जिनका प्रयोग गुप्त जी ने सफलतापूर्वक कर लिया है।

इस प्रकार 'साकेत' आरम्भ से लेकर अन्त तक, काव्य को बहिरंतर, दोनों दृष्टियों से समन्वय प्रधान रचना है। इस युग की अन्य रचनाओं का अवलोकन करने से यह समन्वय और स्पष्ट हो जाता है। उपयोगिता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि सभी विचारक, लेखक समन्वय का संदेश ही देते रहे हैं और भारतीय जीवन दर्शन की तो यह वैदिक काल से प्रधान विशेषता रही है। हिन्दू संस्कृति के गायक कवि गुप्त जी के लिए तब इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही था। अन्य रचनाओं की तरह 'साकेत' भी इसका ज्वलंत उदाहरण है।

१०—साकेत का प्रतिनिधित्व

गुप्त जी वर्त्तमान युग के प्रतिनिधि कवि हैं, इसका विवेचन मैं कर चुका हूं। यहाँ 'साकेत' में प्रतिनिधित्व देखना है क्योंकि 'साकेत' उनकी प्रतिनिधि रचना है। प्राचीन परम्पराएँ नवीन मान्यताएँ जीवन-समाज के विभिन्न आदर्श का उसमें यथा स्थान उल्लिखित हैं जिन्हें पाँच रूपों में देखा जा सकता है—(१) सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व (२) आधुनिक प्रतिनिधित्व (३) समाधान, सबंधी, प्रतिनिधित्व (४) राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व और (५) शैली-भाषा का प्रतिनिधित्व।×

(१) सांस्कृतिक प्रतिनिधित्वः—'साकेत' में राम के तीन प्रधान कर्त्तव्य हैं—भू भार दूर करना, जीवन लक्ष्य का प्रतिपादन करना, दक्षिण में आर्य संस्कृति का प्रचार करना।+

'असुर शासन शिशिर-मय हेमन्त है,
पर निकट ही राम राज्य वसन्त है।
पापियों का जान लो अब अन्त है,
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है!'

राम का जन्म हुआ ही इसलिए है कि पृथ्वी पर आर्यों का आदर्श स्थापित किया जाय। । यह आदर्श क्या है? लोकहित के सम्मुख वैयक्तिक हित कम है, मर्यादा पालन आवश्यक है। दुःख झेल कर सुख का विधान होता है·····यही अवलब है जिसका आधार प्राचीन काल मे आर्यों ने किया था अब राम प्रतिष्ठित करने आए हैं। तभी यह जगती स्वर्ग बन सकती है, मनुष्य ही देवता बन सकते हैं।

'उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूँजे गिरि-कानन-सिंधु पार कल्याणी।

× देखिए प्रथम भाग अध्याय—१४ 'युग का प्रतिनिधित्व'

\+ ,, ,, ,, ,, ८ 'भारतीय संस्कृति की झलक'

अंबर में पावन होम धूप घहरावे,
वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे।
तत्वों का चिंतन करें स्वस्थ हो ज्ञानी,
निर्विघ्न ध्यान में निरत रहें सब ध्यानी।
आहुतियाँ पड़ती रहें अग्नि में क्रम से,
उस तपस्त्याम की विजय वृद्धि हो हम से।'

दक्षिण में ऋक्ष वानर जैसे लोगों संस्कृत भी करना है—

'मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से।'

इसका उल्लेख तीन स्थानों पर हुआ है (१) राम जहाँ सीता से अपने जन्म का उद्देश्य बतलाते हैं (२) जहाँ वन में लोग उनका स्वागत करते हुए अपने को नागर बनाने की प्रार्थना करते हैं (३) द्वादश सर्ग में जहाँ शत्रुघ्न उनके कार्यों का उल्लेख करते हैं—

'जय जय कार किया मुनियों ने, दस्युराज यों ध्वस्त हुआ।
आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य धर्म आश्वस्त हुआ।'
होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अब, जप समाधि तप पूजा-पाठ।
यश गाती हैं मुनि कन्याएँ, कर व्रत-पर्वोत्सव के ठाठ!'

(२) धार्मिक चित्रण के साथ पशु बलि आदि का उल्लेख भी हुआ है।

'पशु बलि देकर बली शस्त्र पूजन करता था।'

× × × ×

'कौन धर्म यह-शत्रु खड़े हुँकार रहे हैं,
तेरे आयुध यहाँ दीन पशु मार रहे हैं।'

(३) सामाजिक क्षेत्र में सम्यक व्यवस्था के लिए परहित पर जोर दिया गया है—

'हे औरों को भी भार-भारिणी भरिणी।'

वर्ण व्यवस्था आश्रम धर्म का गौरव स्वीकार किया गया। सबका अपना स्थान है, शूद्रों का भी तिरस्कार नहीं है। तुलसी ने यही चित्रण किया था—

'सब जन करहिं परस्पर प्रीती! सब उदार, सब पर उपकारी!'

स्त्रियों की आर्य गरिमा पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है। कौशल्या जैसी माता, सुमित्रा जैसी क्षत्राणी, उर्मिला जैसी प्रेमिका पत्नी 'साकेत' में मिलती हैं जिनका आदर्श ही लक्ष्मी और भर्ता का है। गार्हस्थ जीवन बिल्कुल सांस्कृतिक आधार पर है।°

° 'साकेत : एक अध्ययन'—डा० नगेन्द्र

(४) रीति, नीति प्रथाओं का उल्लेख स्थान स्थान पर हुआ है। राजाओं का लक्ष्य राज्य या धन लूटना नहीं था, यश प्राप्त करना था—

'धीरो धन को आज ध्यान में भी मत लाओ !'

संग्रह के उपरान्त त्याग भी करना चाहिए—

'जो संग्रह करके त्याग नहीं करता है,
वह दस्यु लोक-धन लूट लूट धरता है !'

प्रतिव्रत धर्म पालन का निरूपण सीता, उर्मिला द्वारा किया गया है तो एक पत्नी व्रत का उल्लेख लक्ष्मण से कराया गया है—

'यदि सीता ने एक राम को ही कर माना,
यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना,'

गौरव परम्पराएँ, विश्वास सब साँस्कृतिक आधार पर हैं। रघुकुल में दिया गया वचन लौटाया नहीं जाता। भारतीय परपरा के अनुसार माता का शृंगार वर्णन नहीं होना चाहिए तो गुप्त जी भी श्लेष द्वारा उसे बचा जाते हैं—

'भाग सुहाग पक्ष में थे, अंचल वक्ष कक्ष में थे।'

या मातृत्व की पूत भावना से समन्वित कर वर्णन करते हैं—

'अंकुर-हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जन मातृ गर्व मय कुशल वदन भव-भावन !'

भारतीय परपरा में पत्नी नारी पति का नाम नहीं लेती। वन मार्ग में सीता से पूछा गया तो उत्तर देना ही था। सीता ने—

'गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।'

कहते हुए अपना उनका संबंध स्पष्ट कर दिया।

सरयू का महिमा गान है तो गंगा हिमालय का भी। भारतीय आर्य इस पृथ्वी को ही स्वर्ग तुल्य मानते थे। साकेत इसी का प्रतिनिधित्व करता है—

'है अयोध्या अवनि की अमरावती, इन्द्र हैं दशरथ विदित वीरव्रती।
वैजयन्त विशाल उनके धाम है, और नन्दन वन बने अभिराम हैं।'

दशरथ नृपति का महा संस्कार होना है तो मन्त्रोच्चार, कर्म विधि, अगरू, चन्दन की चिता सजाना आदि विधियों का पालन होता है। सती, स्वयंवर, उपवास की प्रथाओं पर भी प्रकाश डाला गया है—

'नृप नेत्र मिलिन्द जो जुड़े, सजनी चामर से परे उड़े।
बल यौवन रूप वेश का, अपने शिष्ट विशिष्ट देश था।

दिखला कर लोभ-लुब्ध था, फिर भी राज समाज क्षुब्ध था।
नृप सम्मुख नम्र नाक था, पर मध्यस्थ महा पिनाक था।
सिर मार मरे नहीं हटा, न रही नाक पिनाक था डटा।
सबका बल व्यर्थ ही बहा, तब दुःखी सम तात ने कहा!'

यह स्वयंवर प्रथा का उल्लेख हुआ है। दशरथ सर्ग में तो उर्मिला ने चौक पूरने तथा राखी बाँधने तक की प्रथाओं का उल्लेख किया है—

'कहते-'हम चौक पूरते', 'लड़की हो ?'-हँस तात घूरते।'

× × × ×

'भगिनी, जय मूर्ति सी झुकी, यह राखी जब बाँध तू चुकी।

उसने अपनी माता के व्रतों का उल्लेख भी किया है—

'तनुजों पर प्राण वारतीं, तनु की भी सुधि थीं विसारतीं।
करतीं व्रत वे नए नए, कृश होतीं, पर मग्न थीं अए।'

सती होने की चर्चा दशरथ की रानियों ने की है तो वशिष्ठ ने उन्हें यह कह कर रोका है—

'सहमरण के धर्म से भी ज्येष्ठ,
आयु भर स्वामि-स्मरण है श्रेष्ठ।
तुम जियो अपना वही व्रत पाल,
धर्म की बल वृद्धि हो चिरकाल।'

योग, शाप, सौगन्ध, शकुन, कुल देवपूजा का उल्लेख भी 'साकेत' में हुआ है—

'तो मुझे निज राम की सौगंध!'

× × × ×

'पर यह मेरा दक्षिण नेत्र फड़कता है।'

× × × ×

'चुनती नर-वृत्त मोद से, सुनती देव-कथा विनोद से।
शिवि को न दधीचि की व्यथा, कहती हो किस शक्र की कथा....
सुनती जब मैं उमा-कथा, तब होती मुझको बड़ी व्यथा।'

पद मर्यादा के अनुकूल शिष्टाचार का तो 'साकेत' में बहुत ही ध्यान रखा गया है। गुरुजनों के लिए, बराबर वालों के लिए, भिन्न भिन्न संबोधन हैं। ऋषि, विद्वान, अतिथि का सर्वत्र स्वागत होता है। 'तात', 'आर्या', 'आर्य पुत्र के संबोधन इसी का बोध कराते हैं—

'उठा पिता के भी विरुद्ध मैं, किन्तु आर्य भार्या हो तुम।'

× × ×

'वत्स देखो तुम पिता की ओर!'

× × ×

'कहा तब राम ने, हे तात क्या है?'

× × ×

'जो आज्ञा' कह प्रभु घूम अनुज से बोले!

× × ×

'धिक् प्रतीति भी न की नाथ की!'

अतिथि सत्कार के दो प्रधान स्थल हैं—राम का वनवासियों द्वारा और अयोध्या निवासियों का सीता-राम द्वारा।

'अपना आमंत्रित अतिथि मान कर सबको।
पहले परोस परि तृप्ति दान कर सबको॥
प्रभु ने स्वजनों के साथ किया भोजन यों।
सेवन करता है मन्द पवन उपवन ज्यों!'

इसी प्रकार मथरा पृथ्वी पर माथा टेक कर जाती है तो गुहराज हाथ जोड़े हुए उपस्थित होता है, परिवार भी साथ है—

'मही पर अपना माथा टेक, किया दासी ने उसे प्रणाम!'

× × × ×

'प्रभु आए हैं, समाचार सुनकर नया।
भेट लिए गुहराज सपरिकर आ गया!'

'सिद्धराज', 'यशोधरा' आदि रचनाओं में भी गुप्त जी ने इस रीति नीति, प्रथा परम्पराओं का उल्लेख कर भारतीय संस्कृति की झलक दिखलाई है।

(५) राजनीति, समाज में भी भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ स्पष्ट की गई हैं। लोक रीति साम्यवाद की चर्चा हुई है। ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है। राम को ईर्षा आधार पर राज्य दिलाने के लिए लक्ष्मण सबके साथ एक एक हाथ अजमाने को तैयार हो जाते हैं। एक शासन के स्थान पर अनेक सत्ताएँ स्थापित हो जाने से तो प्रजा को तो कष्ट होना ही है, राष्ट्र भी कमजोर हो जाता है—

'एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ!'

इसलिए प्राचीन आदर्श एक नक्षत्र राज्य का रहता था। बिहारी ने भी लिखा है—

'दुसह दुराज प्रजान को क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द्व।
अधिक अँधेरो करत जग, मिलि मावस रवि चन्द!'

(६) भौतिक समृद्धि का उल्लेख भी स्थान स्थान पर हुआ है। सुख, श्री व्याप्त के, कलाएँ सम्पन्न थीं। लोग धर्म परायण थे—

'देख लो साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलते गगन में जा रही।'

× × × ×

'ठौर ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं,
जो सुसंवत् के निदर्शन-रूप हैं।'

× × × ×

'यत्र तत्र विशाल कीर्ति स्तंभ हैं,
दूर करते दानवों का दंभ है!'

× × × ×

वज रही है द्वार पर जय दुंदुभी,
और प्रहरी हैं खडे प्रमुदित सभी।'

जब नए दिन का प्रातः काल होता है तो नागरिक दैनिक कार्यों में लग जाते हैं। ठौर ठौर प्रभातियाँ होने लगती हैं, घर बार लिप-पुत जाते हैं। शरीर-मन दोनों ही नवीन उल्लास, स्फूर्ति से भर जाते हैं—

'कौन भैरव राग कहता है इसे,
श्रुति पुटों से प्राण पीते हैं जिसे?'
लोक के घर बार ज्यों लिप पुत गए,
सजग जन जीवन उठा विश्रांत ही'।
दधि विलोडन, शास्त्र मंथन सब कहीं,
पुलक पूरित तृप्त तन-मन सब कहीं!'

भारतीय कुटुम्ब का नित्य क्रम बिलकुल सामने आ जाता है, एक ओर स्त्रियाँ गाय-भैंस दुहती हैं दूसरी ओर ब्राह्मण अपने पूजा पाठ में लग जाते हैं।*

(७) साथ ही मध्यकालीन भारतीय आदर्श भी हैं। वैदिक काल से लेकर

* देखिए अध्याय ६—'साकेत में समन्वय भावना'

आज तक की साँस्कृतिक विशेषताओं का पूरा पूरा उल्लेख है। नारियों की वीरता, योद्धाओं के लड़ने मरने का आदर्श मध्य कालीन है।

'तुले धुले से खुले खड्ग चमचमा रहे थे,
तप्त सादियों के तुरंग तमतमा रहे थे !'

× × × ×

'खचित तरणि, मणि रचित केतु झकझका रहे थे,
वस्त्र धकधका रहे, शस्त्र भकभका रहे थे !'

× × × ×

'साका साको आज वही साका है सूरो....।
मारो मारो जहाँ वैरियों को तुम पाओ।' आदि।

इस प्रकार 'साकेत' भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।

२. आधुनिक प्रतिनिधित्व—"Epic poetry is likely to reflect the spirit of the age indirectly through the forms of life that are not contemporary yet none theless may the temper of the age oppear.×

(१) गुप्त जी ने वर्तमान से प्रभावित होकर युग की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। शासन की चर्चा करते हुए भरत किसान मजदूरों की व्यवस्था का भी ध्यान रखते हैं, उनकी कुशल पूछने स्वय चले जाते हैं। यह संकेत करता है शासन की व्यापकता होनी चाहिए। वर्तमान युग में राज्य प्रणाली संबंधी मान्यताएँ भी बदल रही हैं। कुछ देशों में प्रजातन्त्र है, कहीं प्राचीन परंपरा का पालन होता है, तो कहीं समाजवादी व्यवस्था है जहाँ शक्ति के अनुसार कार्य, योग्यता के अनुसार पद दिया जाता है। एक शासक के स्थान पर दूसरा भी स्थानापन्न किया जा सकता है। 'साकेत' में इसका उल्लेख तीन स्थानों पर प्रधान है जहाँ वन जाते हुए राम अयोध्या निवासियों को समझाते हैं कि भरत भी अच्छा शासक है, यदि प्रबंध ठीक न कर सका तो वे स्वयं आकर सभालेंगे—

'मुझे चुना तो जिसे कहूँ अब मैं, चुनो....,
तो तुम मुझको दूर न पाओगे कभी....।
तुम हो ऐसे प्रजावृन्द, भूलो न हे,
जिनके राजा देव कार्य साधक रहे !' (पंचम सर्ग)

× देखिए अध्याय ५—'साकेत की आधुनिकता'

दूसरा जहाँ भरत माता के सामने अपने विचार प्रस्तुत करते हैं कि—

'राजपद ही क्यों न अब हट जाय,
लोभ मद का मूल ही कट जाय।'

जिस पद के लिए भयकर नर-सहार होता रहा है, पिता पुत्र को, भाई भाई की लालसा आपसी सघर्ष का रूप धारण करती रही है और, उत्तराधिकारियों में "तख्त या तख्ता" की उक्ति आदर्श वाक्य रही है, उस राज पद को ही क्यों न हटा लिया जाय? यह वर्तमान काल की विचार धारा है। सारे ससार में नई व्यवस्था का आरम हो जो व्यक्ति जहाँ सशय हो वहाँ रखा जाय और एक विशाल परिवार की भाँति सब हिल मिल कर रहें—

'विगत हों नर पति, रहें नर मात्र।'

यह बिल्कुल इस युग की मार्क्सवादी विचार धारा है जो वर्ग-हीन समाज (Classeess Society) की व्यवस्था चाहती है। वे क्राति (Revolution) के पक्षपाती हैं तो 'साकेत' के राम भी क्राति मचाने आए हैं—

'सुख शांति हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया।'

तीसरा उल्लेख दशरथ के दाह-सस्कार के अवसर पर भरत ने पुनः किया किया है कि वे पचों को साथ लेकर प्रतिनिधि (Representative) के रूप में राम के पास जाना चाहते हैं। यदि राम इसे स्वीकार न करें तो—

'तो चुनो तुम अन्य निज नरपाल, जो किसी माँ का जना हो लाल!'

(२) और 'साकेत' में चित्रकूट की महासभा एक Conference ही, तो है जिसमें राज के बोलने पर सारी सभा में सन्नाटा छा जाता है। लोग बीच में नहीं बोलते नेता के साथ साथ नारे लगा लेते हैं। भरत, कैकेयी, जावालि सब क्रम क्रम से बोलते हैं जैसे Delegates हों। आधी रात का समय होने पर सभा का निश्चय पूर्ण हो जाता है।

'जन जन अपने को आप निहार मुदित था,
सुख लूट रहे थे अतिथि विचर कर, गाकर—
'हम धन्य हुए इस पुण्य भूमि पर आकर,
इस भाँति जनों के मनोमुकुल खिलते थे।
नव नव मुनि दर्शन, प्रकृति दृश्य मिलते थे!' (अष्टम सर्ग)

'चित्रकूट' उसी तरह केन्द्र हो गया है जैसे हरिद्वार, काशी, प्रयाग में हजारों धार्मिक यात्री आते जाते हैं, ताज महल, अजन्ता के चक्कर लगाया करते हैं या दिल्ली में 'राजघाट' को तरह जहाँ कोई भी यात्री, पर्यटक आएँ, गाधी की समाधि पर पुष्प चढाते हैं।

'कामायनी' में भी साम्यवाद का उल्लेख हुआ है। इड़ा द्वारा सारस्वत प्रदेश में पहले साम्यवाद ही था पर श्रद्धा के अभाव में उसने सामंतीय रूप धारण कर लिया। स्वार्थ भावना होने पर हिंसा युद्ध की प्रवृत्ति अवश्य रहेगी। प्रसाद ने स्पष्ट किया कि भारतीय आत्मवाद की मानसिक समता ही उसे स्थायी बना सकती है तो गुप्त जी ने भी भारत का द्वार सबके लिए खुला रखा है—

'भरत खण्ड का द्वार के विश्व लिए खुला है,
भुक्ति मुक्ति का योग जहाँ पर मिला जुला है!' (द्वादश सर्ग)

(३) 'साकेत' में आधुनिक बुद्धिवादी युग का तर्कशीलता का, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का भी प्रभाव है जिसे पात्रों के चरित्र चित्रण, वार्तालाप में देखा जा सकता है। उर्मिला द्वारा लक्ष्मण के लिए "आर्य" शब्द का, राम द्वारा भरत के लिए "भद्र" शब्द का प्रयोग इसी का प्रभाव है। नारी सबंधी उच्च दृष्टिकोण, शृंगार का मर्यादित, सुष्ठु वर्णन इसी के फलस्वरूप है। संयोग का उल्लेख उर्मिला द्वारा वियोगावस्था में कराया गया है। प्रतिशोध की भावना कैकेयी में ही नहीं राम में भी है जब वे कुम्भकर्ण का वध करते हैं। अधिकार रक्षा का ध्यान प्रत्येक व्यक्ति को है ! कैकेयी अपने भरत का अधिकार अक्षुण्ण रखना चाहती है, सुमित्रा अपनी स्वतन्त्रता-वीरत्व का, राम प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार सुरक्षित रखना चाहते हैं—

'निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को।'

तो लक्ष्मण-भरत का अधिकार सेवा का है। लक्ष्मण का अधिकार है राम के चरणों में पड़े रहें—

'मुझे यदि मारना है मार डालो, निकालो तो न जीते जी निकालो !'

छोटे भाई का बड़े भाई पर अधिकार होता भी अधिक है। जिसका उल्लेख गुप्त जी ने भी किया है—"मेरे अनुज श्री सियाराम शरण मुझे अवकाश नहीं लेने देना चाहते। वे छोटे हैं, इसलिए मुझ पर उनका बड़ा अधिकार है !"

'साकेत में वर्ण जाति की समस्या पर प्रकाश है। पारस्परिक द्वेष ने ही हिंदू जाति को कमजोर बनाया, राक्षसों असुरों का प्रभुत्व बढ़ गया। गुप्त जी ने अतीत को साधन रूप में ही अपनाया है, साध्य रूप में नहीं वे भी प्रसाद की तरह उपयोगिता वाद को प्रधानता देते हैं। कला सर्वथा लक्ष्मण के दृष्टिकोण से इसका परिचय हो जाता है। प्रत्यक्ष कला को अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति माना है।

(४) कृषकों द्वारा बीजों का इतिहास रखना, राज-घोष में गो-वश का विकास कराना, लोगों का उपहार लेकर राम की प्रतीक्षा करना, वैद्यों द्वारा नवीन वनस्पतियों का प्रयोग करना सौगंधिकों का इत्र निकालना—ये सब आधुनिक प्रभाव के फल स्वरूप हैं। उर्मिला कहीं कघी से बाल बनाती हैं तो कहीं देवी देवताओं के अस्तित्व पर अविश्वास करने से माता द्वारा 'नास्तिक' कही जाती है! माण्डवी ने कहा है युग मानव कलह प्रिय है, वर्तमान से सतुष्ट न होकर कल्पना द्वारा वह आगे बढ़ रहा है—

'किंतु नाथ मुझको लगती है कलह मूर्ति अपनी ही जाति।
आत्मीयों को भी आपस में हमीं बनातीं यहाँ अराति!'

तो भरत-राज्य में शांति का उल्लेख करते हैं जिनके सामने राज-कुल का दिव्य दृष्टांत है। अन्य राजा मित्रता की अपेक्षा भक्ति रखने लगे हैं, प्रत्येक ग्राम संपन्न है—

'अन्न वृद्धि से तृप्त तथा बहु कला सिद्धि से सहज प्रसन्न,
अपना ग्राम ग्राम है मानो एक स्वतंत्र देश संपन्न!'

इसमें वर्तमान स्वायत्त शासन-पद्धति (Local Self Government) की झलक मिलती है। यहाँ तक कि दक्षिण वासियों द्वारा भेंट में एक हाथी तक भेज दिया जाता है जिसे शिक्षा देकर उत्सव योग्य बना लिया जाएगा!

'आर्य! तराई से आया है एक श्वेत शोभन गज आज,
प्रभु के स्वागतार्थ उसके मिप समुपस्थित मानो गिरिराज।
सहज सुगति वह, किंतु निषादी उसे और शिक्षा देंगे,
प्रभु के आने तक वे उसको उत्सव योग्य बना लेंगे?'

ऐसी राजकीय भेंट (Royal Presents) वर्तमान युग में एक देश दूसरे देश को एक राज्य दूसरे राज्य को भेजते रहते हैं। पिछले वर्ष आसाम के राजा ने एक हाथी भारतीय राष्ट्रपति को भेंट किया है जो दिल्ली में मुख्य अवसरों पर आगे आगे चलता है।

भरत को मान सरोवर से आकर एक योगी सजीवनी औषधि दे गए हैं—

'क्षत विक्षत जन को भी, जीवन देना सहज काम जिसका!'

'कामायनी' में भी वर्तमान वैषम्य, अति बौद्धिकता, का उल्लेख है—

'यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
द्वयता मे लगी निरंतर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि!'

और सत्य की यह हालत है—

'और सत्य यह एक शब्द तू, कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा पंजर का पाला हुआ सुआ है॥'

(५) गांधीवाद का तो 'साकेत' प्रतिनिधित्व करता ही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में वह गांधीवाद का सूत्र काव्य है। उनके सत्य, अहिंसा, प्रेम, के सभी गुण यहाँ मिल जाते हैं। अपनी स्थिति पर संतोष करना, स्वयं दूसरों के लिए कष्ट सहन करना गांधी के ही उपदेश हैं जो कहा करते थे यदि शत्रु एक चाँटा मारा तो दूसरा भी सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। 'साकेत' के पात्रों में अभूतपूर्व सहन शक्ति है बल्कि उर्मिला तो आत्म-पीड़क मालूम पड़ती है— भीतर ही भीतर घुटी हुई जिसने अपनी समस्त इच्छाएँ परिस्थितिवश कुचल दी हैं। आधुनिक युग प्रत्येक इच्छा की निर्बाध तृप्ति के पक्ष में है किन्तु गांधी नहीं थे 'साकेत' के पात्र भी नहीं हैं। सत्य की व्याख्या, जय तो सर्वत्र घोषित की गई है उसे सब धर्मों का सार बताया गया है। यह संसार ही सत्य के आधार पर स्थित है। यह टूटा तो सृष्टि ध्वस्त हो जायगी, बिखर जायगी! रामराज्य की कल्पना गाँधीवादी कल्पना है जिसका प्रत्यक्ष रूप साकेत के नगर-वर्णन में हुआ है! साथ ही राम की सेवा-भावना उससे प्रभावित है। वे यहाँ दुख ही भोगने आए हैं ताकि और व्यक्तियों को सुख मिल सके—

'मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया?'

जिस प्रकार गाँधी का ईश्वर पर, आत्मशक्ति पर अखण्ड विश्वास था, उसी प्रकार गुप्त जी का भी है! उर्मिला तो सेवा भाव के लिए स्वप्न में भी लक्ष्मण को लौट जाने की प्रेरणा देती है—

'तुम न उनके कुटी द्वार से हिलो!'

यहाँ तो गाँधीवाद का सैद्धान्तिक पक्ष हुआ। उसके व्यवहारिक पक्ष का भी 'साकेत' में उल्लेख हुआ है। चरखा चलाना, कातना बुनना, राम के वन जाते समय नागरिकों का मार्ग में लेट जाना, "विनत विद्रोह" करना और राम का आधुनिक कॉंग्रेसी नेता या सत्याग्रही की तरह उन्हें समझाना, वन में भी अपने धर्म पालन की शपथ लेना—

'तुम्हीं कहो, क्या तात वचन झूठे पड़े?
असद् वस्तु के लिए परस्पर हम लड़ें!
मान लो कि यह राज्य अभी मैं छीन लूं,
काँटों में से सहज कुसुम सा बीन लूँ।

पर जो निज नृप और पिता का भी न हो,
हो सकता है कभी प्रजा का वह कहो ?'

यह सब प्रभाव ही सूचित करता है। अवज्ञा आंदोलन, सत्याग्रह, गाँधी-युग की अभिव्यक्ति है। × 'कामायनी' 'प्रिय प्रवास' में भी ग्रामोद्योग, अहिंसा, तकली-कातना आदि का उल्लेख गाँधीवादी प्रभाव है।

(६) गुप्त जी ने राम रावण युद्ध को ही राष्ट्रीय युद्ध का रूप दे दिया। सीता भारत लक्ष्मी के रूप में प्रतिष्ठित की गई हैं जो सागर के उस पार व्याकुल है। भारत विदेशियों के अधीन था तो सीता भी वंदिनी है—

'राक्षसियों से घिरी हमारी देवी सीता।
बन्दीगृह में बाट जोहती हुई खड़ी है।'

और सिंधु के उस पार तक भारतीय ध्वजा फहरा रही है। भारतीय सो नहीं रहे हैं, स्वातन्त्र्य संग्राम में सचेष्ट हैं—

'भरत खण्ड के पुरुष अभी मर नहीं गए हैं,
कट उनके वे कोटि कोटि कर नहीं गए हैं।'

आज समस्या भारत के सम्मान की है—विंध्याचल हिमालय का मस्तक ऊँचा रखने का प्रश्न है—कलंक का टीका नहीं लगना चाहिए—

'विन्ध्य-हिमालय-भाल भला झुक जाय न वीरो।
चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्ति कला रुक जाय न वीरो।
चढ़ कर उतर न जाय, सुनो कुल मौक्तिक मानी।
गंगा यमुना सिन्धु और सरयू का पानी।'

नारियाँ पुरुषों को प्रोत्साहित करती हैं तो पुत्र भी पाँव पीछे न डालने की शपथ लेते हैं। सन् ३० में नारियाँ भी स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग ले रही थीं, तिरंगा झंडा लेकर घूमा करती थीं—'साकेत' में उर्मिला इनका प्रतिनिधित्व करने को तैयार है—

'देखो, निकली पूर्व दिशा से अपनी ऊषा,
यही हमारी प्रकृत पताका, भव की भूषा।
ठहरो, यह मैं चलूँ कीर्ति सी आगे आगे,
भोगें अपने विषम कर्म-फल अधम अभागे।'

तिरंगे का एक रंग भी गेरुआ था हल्का लाल—जैसा प्रातःकाल में उषा का होता है। तत्कालीन अनेक कवियों ने इस उषा को भारत लक्ष्मी के रूप

× देखिए अध्याय ५ 'साकेत की आधुनिकता'

में प्रतिष्ठित किया है जिसके हाथ में लाल झण्डा विजय का प्रतीक है। कामायनी के आशा सर्ग में पहले ही उषा युद्ध लक्ष्मी की तरह प्रलय रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करती हुई उदय होती है—

'उषा सुनहले तीर बरसती,
जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी,
जल में अंतर्निहित हुई!'

सांकेतिक रूप में यह भारतीय स्वतन्त्रता की ही विजय है। इस प्रकार 'साकेत' भारतीय राष्ट्रीय भावना का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है।

(३) समाधान संबन्धी प्रतिनिधित्व—'साकेत' का सदेश यही है कि जीवन में मध्यम मार्ग अपनाओ। त्याग, सेवा, कर्त्तव्य, प्रेम आदि आदर्शों का पालन करो। भोग और योग का समन्वय करो। मर्यादा का पालन करो, फल की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दो। उन्नति का साधन है आत्म बलिदान सहिष्णुता और विश्वास। राम-कार्य के लिए भ्राता ही नहीं जाते, माताएँ भी सबको यही उपदेश देती हैं—

'जाओ बेटा राम काज, क्षण भंग शरीरा!'

धर्म पालन सबसे बड़ा है। राम आशा नहीं है लेकिन धन-धाम की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है—

'अवल तुम्हारा राम नहीं, विधि भी उस पर वाम नहीं।
वृथा क्षोभ का काम नहीं, धर्म बड़ा धन धाम नहीं॥
मँझली माँ पर कोप करूँ? पुत्र धर्म का लोप करूँ?'

तो सीता पति को ही पत्नी की गति मानती है। उर्मिला ने दोनों का धर्म स्पष्ट कर दिया है—

'तुम व्रती रहो, मैं सती रहूँ!'

यही मनुष्य जीवन का आदर्श भी है जो जहाँ है अपना कर्त्तव्य पालन न भूले। राम भरत तो प्राण से एक हैं। केवल शरीर भिन्न है। वस्तुतः समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही जीवन का एकमात्र समाधान है। शासक-शासित के समन्वय से वे बतलाना चाहते हैं आज किस प्रकार राज्य, देश में सुख शांति हो सकती है, लोग समृद्ध हो सकते हैं। व्यक्ति-समाज के सम्बन्ध दिखाकर व्यवहारिक आदर्श उपस्थित करते हैं। धर्म भक्ति आदि के क्षेत्रों में भी यही समभावना है। गुप्त जी पलायन का सदेश नहीं देते। जीवन में कितना ही

दुख हो, विषाद हो लेकिन कर्म से विमुख नहीं होना चाहिये। 'साकेत' का प्रत्येक पात्र कर्मण्य मिलेगा यहाँ तक कि उर्मिला भी प्रवृत्ति मार्गी है। सतत कर्मठ रहने का सदेश ही युग के इस महाकाव्य द्वारा दिया गया है।

'हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी।'

× × × ×

'जितने प्रवाह हैं बहें अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा मे किन्तु सदैव रहें वे।'

× × × ×

'सखे समन्वय करो भुक्ति का मुक्ति से।'

× × × ×

'त्याग और अनुराग चाहिए बस यही।

× × × ×

'भरत खण्ड का द्वार विश्व के लिए खुला है,
भुक्ति मुक्ति का योग जहाँ पर मिला जुला है।'

यह जीवन दर्शन भी भारतीय विशेषता है जिसका प्रतिनिधित्व गुप्त जी ने किया है। प्रसाद ने भी सुख दुख से ऊपर पहुँच कर आनन्द प्राप्ति का उपाय यही बतलाया है कि हृदय तथा बुद्धि पक्ष का समन्वय कर दिया जाय। और यह समन्वय की धारा नया फूटा हुआ स्रोत नहीं है—महात्मा बुद्ध के समय से इसका आदर्श सामने रखा जाता रहा है। बस युगानुकूल इसकी अभिव्यक्ति बदलती रही है। आर्यों का ही यह आदर्श 'साकेत' में भी प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है तब यह मानना कि गुप्त जी अपने समय से आगे नहीं बढ़े—ठीक मालूम नहीं पड़ता क्योंकि कवि समस्याओं का समाधान युग की सीमाओं के भीतर ही तो खोजेगा।

(४) देश गौरव का प्रतिनिधित्व—अन्य रचनाओं की तरह 'साकेत' में भी गुप्त जी भारत का महिमा गान करने में नहीं थकते। प्रबध में भी इसकी प्रशसा का स्थान उन्होंने निकाल लिया है जिसका दर्शन तीन स्थानों पर होता है। आरम्भ में स्वय कवि श्रोता घोषित करता है कि भूतल भारत का महत्त्व आज स्वर्ग से भी बढ़ गया—

'धन्य दशरथ-जनक-पुण्योत्कर्ष है, धन्य भगवत् भूमि भारतवर्ष है!'

विदेशी दासत्व में रहते हुए भारतीय कुछ हीन भावना अनुभव करने लगे थे, पश्चिम वालों की सभ्यता सस्कृति उन्हे आकर्षित कर रही थी, गुप्त जी ने

भारत भारती से लेकर 'नहुष' तक यही संदेश दिया तुम अपने गौरव का विस्मरण मत करो। याद रखो तुम भारतीय आर्यों की संतान हो जिन्होंने संसार को शिक्षा का पाठ पढ़ाया था, सम्कृत किया था। आज भी तुम्हें उन्नति कर उसी गौरव को प्राप्त करना है। 'साकेत' के राम को भी इसी भारत भूमि में जन्म लेना अच्छा लगता है तभी तो वे इसे पुनः स्वर्ग के समान बनाने को आए हैं—

'अथवा आकर्षण पुराय भूमि का ऐसा।
अवतरित हुआ मैं, आप उच्च फल जैसा।'

द्वादश सर्ग में पहले भरत शत्रुघ्न ने फिर उर्मिला ने देश गौरव का ध्यान कराया है। सेना को उत्साहित करने के लिए प्राचीन उच्चता, महानता का उल्लेख करना होना भी आवश्यक है। शत्रुघ्न कहते हैं—

'पर जो इस पर अनाचार करने आवेंगे,
नरकों मे भी ठौर न पाकर पछतावेंगे!'

इसलिए हमको आज उठना है—

'जगा रहा है जाग हमे अभिमान हमारा।
खींच रहा है आज ज्ञान ही ध्यान हमारा।
करता है प्रतिशोध कन्तु आह्वान हमारा।
लिखे शत्रु लंका-सुवर्ण आख्यान हमारा!'

और उर्मिला भी इसी का उल्लेख करती है कि यही पुरातन प्रसिद्ध स्थल है जहाँ से भारतीयों ने बार बार दिग्विजय को आज जब कुल की मर्यादा रक्षा का प्रश्न है तो कटिबद्ध होना चाहिए—

"किसका कुल है आर्य बना अपने कार्यों से?
पढ़ा न किसने पाठ अवनि तल में आर्यों से?"

'सिद्धराज' में इसी गौरव, अखण्ड विश्राम को व्यापक रूप मे गुप्त जी ने मदनवर्मा द्वारा व्यक्त कराया है—

"होंगे युग पुरुष स्वयं ही युग युग,
देना पड़े मूल्य हमे चाहे जितना बड़ा।
हम यवनों से भी ठगाए नहीं जाएँगे,
आर्य भूमि अन्त में रहेगी आर्य भूमि ही।
आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियाँ सब की,
होगा एक विश्व तीर्थ भारत ही भूमि

'साकेत' के राम ऐसे ही युग पुरुष हैं।

जब भरत-शत्रुघ्न अयोध्या लौटते हैं तो वहाँ भी आधुनिक प्रभाव दिखाई पड़ता है जिसे आधुनिक प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत लिया जा सकता है, उद्यानों में में सन्नाटा है, नागरिकों की गोष्ठियाँ नहीं होतीं, लोग सरयू के किनारे सान्ध्य भ्रमण नहीं करते घाटों में ब्राह्मण वेद पाठ नहीं करते क्रय विक्रय यातायात कुछ नहीं होता, शिक्षणालय, कला केन्द्र बन्द हैं, छात्रों के समूह स्वच्छन्द विहार नहीं करते—

"नागरिक गण गोष्ठियों से हीन—मात्र उपवन हैं विजन में लीन..।
चल रही नावें न उस पर तैर, लोग करते हैं न तट पर सैर....।
विप्र पंक्ति विहीन हैं सब घाट, सुन नहीं पड़ता कहीं श्रुति पाठ...।
सब कला गृह शिक्षणालय बन्द, छात्र क्यों फिरते नहीं स्वच्छंद !"

ये वर्णन विषाद की पृष्ठभूमि उपस्थित करने के साथ ही वर्तमान नागरिकों, संस्थाओं आदि का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। और वन प्रांत में अयोध्यावासियों के आने पर एक उपनिवेश ही बना दिया है जैसे भारतीय जहाँ विदेशों में जाते हैं Colony बना लेते हैं!

"नव उपनिवेश-सा बसा घड़ी भर ही में,
समझा लोगों ने कि हैं सभी घर ही में।
लग गई हाट जिसमें न पड़े कुछ देना,
ले लें उसमें जो वस्तु जिन्हें हो लेना।
बहु कन्द मूल फल कोल भील लाते थे,
पहुँचाते थे सर्वत्र, प्रीति पाते थे—
"बस, पत्र-पुष्प हम वन्यचरों की सेवा,
महुवा मेवा है, बेर कलेवा, देवा!"

प्राचीन वैदिक काल में भी आर्यों ने इस प्रकार के अनेक उपनिवेश बसा कर अनार्यों को सभ्य बनाया था।

५. भाषा शैली का प्रतिनिधित्व :—बीसवीं सदी में हिन्दी कविता की भाषा खड़ी बोली है। व्रजभाषा में भी रचनाएँ होती रहीं, हरिऔध, प्रसाद तक ने उसमें आरंभिक प्रयोग किए लेकिन वर्तमान काल में व्रजभाषा प्रतिनिधित्व नहीं कर सकी। उसका दुर्भाग्य तो नहीं, हाँ अनुपयुक्तता समझनी चाहिए कि वह समय का साथ न दे सकी। पहले गद्य क्षेत्र से उसे हटाया गया फिर पद्य क्षेत्र से भी दूर कर दिया गया। खड़ी बोली हिन्दी ही साहित्य के गद्य-पद्य

दोनों क्षेत्रों में एकमात्र प्रतिनिधि भाषा हो गई। गुप्त जी ने इसी खड़ी बोली का प्रतिनिधित्व किया है। बचपन में सहारा दिया, अन्याय रचनाओं द्वारा उसका उत्तरोत्तर प्रौढ स्वरूप सामने लाते गए। 'साकेत' भाषा की दृष्टि से गुप्त जी की ही सर्वश्रेष्ठ रचना नहीं है, खड़ी बोली की भी प्रतिनिधि रचना है। उसकी सारी शक्ति, अभिव्यजना, सूक्ष्मता, गहराई, भाव शबलता, भावानुकूलता सबके दर्शन 'साकेत' में हो जाएँगे।

जहाँ तक शैली का सबध है 'साकेत' आज तक की सभी काव्य शैलियों का प्रतिनिधित्व करता है। द्विवेदी कालीन विशेषताओं के साथ उसमें छायावादी शैली की विशेषताएँ भी हैं। प्रतीकात्मक पद्धति, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, शब्द ध्वनन, मूर्त्त अमूर्त्तीकरण, अलकार, छन्द सभी अपना लिए हैं जिनके उदाहरण स्थान स्थान पर 'साकेत' में मिलते हैं। १९३२ तक हिन्दी कविता शैली के जो भी गुण—प्राचीन तथा नवीन—थे उसमें लक्षित हैं।

इस प्रकार 'साकेत' केवल गुप्त जी की रचनाओं का ही नहीं—भारतीय संस्कृति का, वर्तमान युग का, भारतीय जीवन का तथा हिन्दी साहित्य का भी प्रतिनिधित्व करता है। +



+ देखिए प्रथम भाग अध्याय १४—'युग का प्रतिनिधित्व'

११. साकेत की भाषा शैली

'साकेत' की भाषा के संबध में डा० नगेन्द्र ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि—"यह स्वीकृत सत्य है कि लचर भाषा के उदाहरण 'साकेत' के बराबर अन्यत्र मिलना कठिन है ' एक ओर तुक यदि उसकी भाषा की शक्ति है तो दूसरी ओर उसके लचरपन, भर्ती, अप्रचलित दोष आदि का भी मूल कारण है। उसके वशीभूत होकर कवि स्थान स्थान पर अपने ऊँचे स्टैंडर्ड से गिर गया है।"[s]

यह कथन पूरी तरह उचित मालूम नहीं पड़ता। दो मुख्य कारण हैं—एक तो गुप्त जी की काव्य भाषा का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। 'जयद्रथ वध' तथा 'सिद्धराज' की भाषा में आकाश पाताल का अन्तर मिलेगा जबकि 'साकेत' उस समय की रचना है जब भाव-भाषा में साम्य हो जाता है। दूसरे उन्हें काव्य रचना ही नहीं करनी थी, उपयुक्त माध्यम भी तैयार करना था। उपयुक्त अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माध्यम भी चाहिए। उन्हें निरंतर खड़ी बोली का संस्कार, सुधार करना पड़ा। 'साकेत' तो खड़ी बोली की प्रौढ़ता का उदाहरण है जहाँ भाषा ने निरन्तर भावों का साथ दिया है। 'प्रियप्रवास' की भाषा से इसकी तुलना कर लीजिए—'साकेत' की भाषा शक्ति का परिचय हो जाएगा। फिर इतने बड़े महाकाव्य में सर्वत्र एक समान रस मिलने की आशा भी नहीं करनी चाहिए। जर्जर, रूखे पत्तों के बीच में सुकुमार पुष्पों की तरह यहाँ उक्तियाँ पाठक का मन मोह लेती हैं।

'साकेत' की भाषा में प्रधानतः संस्कृत के शब्द हैं। तद्भव रूपों की प्रधानता है। कहीं तत्सम अप्रयुक्त शब्द भी हैं, पर कम—त्वेष, अरन्तुद, विष्णु, अस्य, अपत्य, उपनीत, निगड़, कौणाप, वीदय, कीर्ण आदि।

(१) "जब नृप समीप उपनीत हुए !"
(२) "करे न कौणाप्य-गन्ध कलंकित मलय पवन को।"

'साकेत एक अध्ययन'—डा० नगेन्द्र

(३) "उतर अरिन्द प्रथम खण्ड पर आकर ठहरा !"
(४) उसे राज्य से भी *महार्ड* धन देता आकर कौन कहो !"
(५) "*द्रोणी* पर जो निज छाप छोड़ने चलते।"
(६) "प्रजा कोपाग्नि का वह *आज्य* होगा !"

उर्दू के प्रचलित शब्द भी कम ही हैं, उद्देश्य यही मालूम पड़ता है कि गुप्त जी खड़ी बोली की शक्ति उसी के शब्द प्रयोग द्वारा प्रधानतः बढाना चाहते हैं इसके लिए आवश्यकतानुसार शब्द निर्माण भी कर लिया है—अनुजता, लाघराय, पात्रता, मनोज्ञता, प्रकटता, सारल्य, राहित्य, प्रपाणी, औदास्य, उत्कर्णता, प्रकुपित, प्रकटा, निर्दया आदि जो प्रयोग में अशुद्ध मालूम नहीं पड़ते।

(१) "भूमि पर *प्रकटा* अनादि अनन्त है !"
(२) "आ जुराई से मिला *अरूराय* है !"
(३) "वाक्य सुनने को हुई *उत्कर्णता* !"
(४) "बनी जाती है क्यों *उत्क्रांति* !"
(५) "लगी *सुकटित* करने निज वैर !"
(६) "यहाँ *राहित्य* नहीं साहित्य !"

'जुदा' शब्द फारसी है जो 'खुदा' के साथ बैठाया गया है। समास हैं तो सही पर छोटे छोटे हैं जिनमे अर्थ गौरव झलकता है। कहीं बड़े शब्द बनाकर भी प्रयुक्त कर लिए हैं—

(१) "कर्ण-कोमल कल-कथा-सी कह रही !"
(२) "जनक पुर की राज-कुंज-विहारिका !"
(३) "देखकर किन्तु स्वामि-हित-घात !"
(४) "यह जंगम-साकेत-देव-मंदिर चला !"
(५) "प्रिय गुणानुभव रोम रोम था कर रहा !"
(६) "कवि की मानस-कोप-विभूति-विहारिणी !"
(७) "अवनि-पुरायाकृष्ट, लोक-ललाम !"
(८) "पा लिया है सत्य-शिव-सुन्दरम् सा पूर्ण लक्ष !"
(९) "जन-धात्री-रक्त-पान-लालसा !"
(१०) "अपलक था आकाश चपल-चालगत-गति लक्षी !"

'साकेत' की भाषा में प्रान्तीय प्रयोग भी हैं और ब्रज भाषा के चलते शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं—धाड़, सकाम, हड़कार, नत्तो और नेंक, पैठ, हेरना, लेखना आदि। एकाध बुन्देली प्रयोग भी हैं।

(१) "ठंडी न पड़, वनी रह तत्ती!"
(२) "भय में मत आप पैठ जा
सखि, वैठें हम, नैंक वैठ जा!"
(३) "अपनी स्वीकृति आप लेख ली!"
(४) "रवि ने अपना पदुम प्रफुल्लित होता हेरा!"
(५) "उन्हें बीनते हुए विलपते चले खोज करते वे खिन्न!"

भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है मुहावरों व लोकोक्तियों का प्रयोग। इनसे भाषा लाक्षणिक हो जाती है। रीतिकाल में घनानद की भाषा इन्हीं से जोरदार हुई है। गुप्त जी भी कठिन से कठिन भाव को भी मुहावरों द्वारा यक्षित करा देते हैं। 'साकेत' मे इनकी बहुत प्रधानता है। मुहावरों की एक सूची दी जाती है—सुगो पढाना, साँप छेड़ना, वोल मारना, ठसक वताना, होठ काटना, लवी साँस छोड़ना, हरा होना, धूल डालना, कूल किनारा पाना, आँख कटना, दाँत दिखाना, खट्टे अगूर, आह, भरना, सुख लूटना, पैर पलोटना, मन की गाँठ खोलना, छाती फटना, सुख को लात मारना, बाट जोहना, रास्ता पकड़ना, आँसू पीना, विगड़ी वात बनना, सदा को सुलाना, मान मनाना, लाड़ लड़ाना, सोता साँप जगाना, फूल जाना, पाला पड़ना, सिर धुनना, आँखों में बसना, सोते से जागना, शत्रु स मुँह मोड़ना आदि लोकोक्ति भी है—"काटवा है जो वोता", "इधर अनल है और उधर जल" आदि। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) "लगे इस मेरे मुँह में आग"
(२) "क्षोभ से जलने लगा शरीर"
(३) "मरते मरते वचा इसी से फूल गया तू"
(४) "किंतु आर्य क्या आज शत्रु से मुँह मोड़ूँ मैं?"
(५) "जहाँ हाथ मे लोह वहाँ पैरों मे सोना"
(६) "होगा होगा वही उचित है जो कुछ होना"
(७) "यह साधारण वात काटता है जो वोता"
(८) "मान मनाया और जिन्होंने लाड लड़ाया"
(९) "सुर गण उलटा आज तुम्हारा मुँह तकता है"
(१०) "उसके माथे वही धुआँ है काला काला"
(११) "माताओ की दवा हाय! सूखे पर पाला"
(१२) "तो भी वच सकते हैं लक्ष्मण, वन सकती है विगड़ी वात!"
(१३) "जाग, सुलाऊँ तुम्हे सदा को, मेटूँ कलह कामना सर्व"

(१४) "दाँत पीस कर, ओंठ काट कर, करती है वह क्रुद्ध प्रहार"
(१५) "क्षण क्षण भय खाती थीं वे, कण कण आँसू पीती थीं"

कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ मुहावरे का एकाध शब्द बदल दिया गया है या प्रयोग हो सकने पर भी नहीं किया गया है। इसका प्रधान कारण छन्द बंधन रहा है।

(१) "अधर ही काट कर बस रह गई वह"
(२) "छोड़ धाम धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में"
(३) "हिलता नहीं केश तक मेरा"
(४) "दोनों ने निज पथ पकड़ा"
(५) "ठहरो, प्रस्तुत पेर-वह्नि पर नीर न डालो"

हिन्दी कविता में 'प्रियप्रवास' 'नूरजहाँ' महाकाव्यों में भी मुहावरों का सफल प्रयोग हुआ है जिनसे अभिव्यंजना शक्ति बहुत बढ़ गई है—

"जो कल संग हवा खाती थी आज हवा बतलावे !"
"यदि नाम जमीला है मेरा पानी में आग लगा दूँगी !"
"मेरी किस्मत के चक्कर में बिगड़े चाँद सितारे हैं !

(नूरजहाँ)

भाषा के इस व्यावहारिक स्वरूप से 'साकेत' की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ गई है, सरल से सरल शब्द प्रयोग द्वारा भी यह अधिकार है—

"दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ! पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?
घोर नरकानल चिरन्तन चण्ड किन्तु वह तो है यहाँ हिम खण्ड !
चण्डि ! सुन कर ही जिसे सातक चुभ उठें सौ बिच्छुओं "के डंक !"

—(सप्तम सर्ग)

दूसरा उदाहरण देखिए—

"दैव ! यह सपना है कि प्रतीति ? यही है नर नारी की प्रीति ?
× × × ×
राम से सुत को भी वनवास, सत्य है अथवा यह परिहास ?
सत्य है तो है सत्यानाश, हास्य है तो है हत्या पाश !"

(द्वितीय सर्ग)

'साकेत' के उत्कृष्ट संवाद भी भाषा पर इस अधिकार के साक्षी हैं। माधुर्य, स्वच्छता, शुद्धता सर्वत्र मिलेगी—

(१) "प्रभु को निष्कासन मिला, मुझको कारागार,
मृत्यु दण्ड उन तात को, राज्य तुझे धिक्कार!"

× × × ×

(२) "रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती,
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती।
तन गौर केतकी-कुसुम-कली का गाभा,
थी अंग सुरभि के संग तरंगित आभा!"

उपर्युक्त भाषा में तो काव्य लालित्य है, 'साकेत' में कहीं इतनी सरल भी प्रयुक्त है कि गद्यात्मक प्रतीत होती है।

(१) "पेट भरा था, किन्तु भूख तब भी रही!
एक ग्रास में तृप्त न करदूँ तो सही!
रूखा सूखा खान पान भी इष्ट है
भाता किसको सदा मिष्ट ही मिष्ट है?" —(पंचम सर्ग)

(२) "छिन्न भी है भिन्न भी है, हाय!
क्यों न रोवे लेखनी निरुपाय?
क्यों न भर आँसू बहावे नित्य?
सींच करुणे! सरस रख साहित्य!"—(सप्तम सर्ग)

वैसे भाषा पात्रों के अनुकूल है। वशिष्ठ व गुहराज की भाषा में कुछ अन्तर है। शब्द शक्तियों का इससे अच्छा परिचय मिलता है। लक्षणा शक्ति के साथ व्यंजना शक्ति का सुन्दर उपयोग नवम सर्ग में विशेषकर मिलेगा। व्यंग्य ध्वनि जहाँ सर्वत्र प्रधान रही है। दोनों के उदाहरण लीजिए—

(१) "विस्मय क्या है क्या नहीं स्वमातृ तनय वे?"
(२) "धन्य पुराय जन, धन्य शूरता तुझसे जन की!"
(३) "आज मैं हूँ कोसलाधिप धन्य!
गा, विरुद्ध गा कौन मुझ सा अन्य?"
(४) "किंतु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली!"
(५) "सचमुच मृगया मे? तो अहेरी नए वे!"
(६) "हटा थाल तू क्यों इसे आप लाई?"
(७) "क्या क्षण क्षण मे चौंक रही मैं?

इसी प्रकार अनेक स्थल हैं। जहाँ कहीं तो विपरीत अर्थ प्रकट होता है कहीं बिल्कुल पृथक अर्थ की प्रतीत होती है। अभिधा शक्ति का प्रयोग तो सभी

स्थानों पर हुआ है। उपर्युक्त गद्यात्मक उदाहरण ही लिये जा सकते हैं। शब्द कहीं ह्रस्व के दीर्घ तथा दीर्घ से ह्रस्व भी करने पड़े हैं पर बहुत कम। शब्द विकृत कम हैं। तुक के कारण कुछ अनावश्यक शब्दों का जोड़ भी बिठाना पड़ा है, पर कम है। बाद में ऐसे उदाहरण दिए गए हैं।+

अब शैली की प्रधान विशेषताओं पर आइए।

(१) प्रवाहात्मकता—पहली विशेषता है प्रवाहात्मकता। साकेत की भाषा सर्वत्र गठी हुई परिमार्जित तथा प्रवाह पूर्ण मिलेगी। शिथिलता कहीं नहीं है। अवसर के अनुकूल मधुरता व तीव्रता आ गई है। वैसे तो प्रथम सर्ग से द्वादश सर्ग तक कहीं भी इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं, फिर भी कुछ ऐसे प्रसंग बतलाए जा सकते हैं जहाँ विशेष प्रवाह है—(१) लक्ष्मण उर्मिला का प्रेमालाप (२) दशरथ-कैकेयी संवाद (३) लक्ष्मण का उत्तर-प्रत्युत्तर (४) भरत द्वारा कैकेयी की भर्त्सना (५) वन में राम सीता का वार्तालाप (६) चित्रकूट प्रसंग (७) सैन्य सजाने का उपक्रम! इन सबका आरम्भ होता है कवि की इस वेदना से –

> "आर्य दयामात्रि देवि, सुखदे, सारदे
> इधर भी निज वरद वाणी पसार दे
> दास की यह देह तंत्री तार दे
> रोम तारों में नई झंकार दे
> बैठ आ मानस-मराल सनाथ हो
> भार-वाही कण्ठ केकी साथ हो
> चल अयोध्या के लिए, सज साज तू,
> माँ, मुझे कृत कृत्य करदे आज तू!"

इसके अतिरिक्त कवि की लेखनी अविराम चलती गई है।

(२) भावानुकूलता—'साकेत' की भाषा भावों का अनुसरण करने में सक्षम है। कोमल प्रसंगों पर उसमें भी लालित्य कोमलता है तथा कठोर प्रसंगों के समय उपयुक्त रूक्षता भी जो तद्रूप वर्णन उपस्थित करती है। सौन्दर्य वर्णन, प्रेम की व्यंजना, उर्मिला के विरह वर्णन में भाव कोमल, वेदना-ध्वनन करती है तो लक्ष्मण के आवेश में उग्र भी हो जाती है दशरथ मृत्यु के उपरान्त नगर वर्णन करते समय वही विषादमय पृष्ठभूमि उपस्थित करती है। युद्ध वर्णन में वही प्रचण्ड, द्रुतिगामी हो गई है। कोमलता, स्निग्धता का उदाहरण है—

+ देखिये अध्याय १३—'काव्य का अंधकार पक्ष'

"एक भी उपमा तुम्हें भाती नहीं
ठीक भी है, वह तुम्हें पाती नहीं
सजग अब इससे रहूँगा मैं सदा
अनुपमा तुझको कहूँगा मैं सदा
निरुपमे, पर चित्र मेरा है कहाँ ?"
"प्रिय तुम्हारा कौन सा-पद है यहाँ ?
अस्तु, कुछ देना तुम्हें स्वीकार हो
तो तुम्हारा चित्र भी तैयार हो ?"
"और जो न हुआ ?" गिरा प्रिय ने कही
तो पलट कर आप मैं दूंगी वही !"
छोड़ कर यों उर्मिला उन्नत हुई
और तत्क्षण कार्य में वह रत हुई !" —(प्रथम सर्ग)

लक्ष्मण-उर्मिला प्रेमालाप कर रहे हैं और भाषा भी उन्हीं की हाँ में हाँ मिला रही है। और अन्त में यह लेने-देने की चर्चा क्या है जिसकी होड़ में वह चित्र बनाने लगती है। कुछ पंक्तियाँ छोड़कर चित्र रचना के उपरात वर्णन स्वय पढ़ लीजिये जहाँ दोनों प्रेमी एक दूसरे की घात में कर अपना प्राप्य ले ही लेते हैं।

यही भाषा युद्ध प्रसग में ऐसा रूप धारण कर लेती है—

"वह लंका की ओर चला चारों द्वारों मे
उमडा प्रलय पयोधि घुमड़ सौ सौ ज्वारों से।
चौड़े चौडे चार-वक्ष से लंका-गढ़ के
तोड़ें द्वार कपाट कटक ने बढ़ के, चढ़ के।
प्रथम वेग से वचे शत्रु, जो सजग खड़े थे
करके जव हुँकार प्रेत-से टूट पडे थे।
दल वादल भिड गए, धरा धँस चला धमक से
भड़क उठा भय कडक तडक से, चमक दमक से। ...
दो धाराएँ उमड उमड सम्मुख टकरातीं
उठतीं होकर एक और गिरतीं चकरातीं
मची खलवली गली गली में लकापुर भी
आँखों मे आ झाँक उठी आसुरता उर की ।" (द्वादश सर्ग)

इसी प्रकार जब भरत लौटते हैं तो नगर भाँय भाँय करता हुआ प्रतीत

होता है, पहले ही सर्वत्र गभीरता, खिन्नता दीख पड़ती है। इस पीठिका की उपयुक्तता यह है कि भरत के हृदय पर वहाँ व्याप्त शोक का प्रभाव धीरे धीरे हो रहा है यहाँ तक कि पितृ मृत्यु वे सहन कर लेते हैं। एकाएक सूचना मिलती तो हृदय की धड़कन बन्द होते भी देर न लगती! वे धीरे-धीरे अभ्यस्त होते जा रहे हैं! दूसरा उपयोग यह है कि कवि दशरथ जैसे जनप्रिय शासक की मृत्यु पर नगर-व्यापी शोक व्यंजित कराना चाहता है, जो जितना श्रेष्ठ शासक होगा, उसके निधन पर शोक भी उतना ही गहरा होगा। नगर तो नगर ही राजभवन भी भरत को सविषाद ज्ञात होता है—

ये गगन-चुम्बित महा प्रासाद मौन साधे हों खड़े सविषाद
शिल्प कौशल के सजीव प्रमाण शाप से किसके हुए पाषाण!
या अड़े हैं मेटने को आधि आत्म-चिंतन रत, अचल, समाधि
किरण चूड, गवाक्ष लोचन मींच प्राण से ब्रह्माण्ड में निज खींच?
सूत, मागध, छर्दि, याचक, भृत्य दीख पड़ते हैं न करते कृत्य
एक प्रहरी, ही सतर्क विशेष व्यक्त करते हैं अशुभ उन्मेष!
.(सप्तम सर्ग)

इस प्रकार भाषा सर्वत्र भावानुकूल हुई है।

(३) दृश्यविधान—शैली की एक प्रमुख विशेषता है चित्रात्मकता। गुप्तजी ऐसे शब्दों का व्यवहार करते हैं कि वर्णन का मूर्त रूप उपस्थित हो जाता है। फिर यह वर्णन चाहे घटनात्मक हो या प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी। गुप्त जी को उषा काल का दृश्य बहुत प्रिय मालूम पड़ता है। साकेत का आरम्भ तो उषा काल से है ही, बीच-बीच में अनेक चित्र हैं। द्रष्टव्य यह है कि वस्तु वही एक होने पर भी वर्णन सौन्दर्य की नवीनता प्रत्येक स्थान पर अलग-अलग है। प्रातः काल के ही तीन चित्र लीजिए—

(१) वेष भूषा साज ऊषा आ गई,
मुख कमल पर मुस्कराहट छा गई।
पक्षियों की चहचहाहट हो उठी,
चेतना की अधिक आहट हो उठी
स्वप्न के जो रंग थे वे धुल उठे,
प्राणियों के नेत्र कुछ कुछ खुल उठे!" (प्रथम सर्ग)

(२) "मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी
शशि खिसक गया निश्चित हँसी हँस बाँकी
द्विज चहक उठे हो गया नया उजियाला
हाटक पट पहने दीख पड़ी गिरि माला।" (अष्टम सर्ग)

(३) कलिकावलि फूटने लगी, अलि आली उड़ टूटने लगी।
नभ की मसि छूटने लगी, हरियाली हिम लूटने लगी।
विहगा वलि बोलने लगी, यह प्राची पट खोलने लगी।
अटवी हिल डोलने लगी, सरसी सौरभ घोलने लगी।"
(दशम सर्ग)

उपर्युक्त तीनों स्थलों पर वर्ण्य वस्तु एक ही है। चेतना का जाग्रत होना, नेत्र खुलना, पक्षियों का बोलना सब एक सा है लेकिन प्रत्येक चित्र अपना स्वतंत्र सौंदर्य रखता है। पहले में उषा का मानवीकरण है, दूसरे में दो स्थिर चित्र हैं, तीसरे में गतिशीलता है जैसे प्रातः काल शीघ्रता से रंग बदलते जाते हैं।

चौदह वर्ष के उपरान्त राम पैदल ही भीड़ के साथ नगर में प्रवेश करते हैं, पुर कन्याएँ खील-फूल बरसाती हैं, कुल ललनाएँ शुभ गीतों का उच्चारण करती हैं, राजमार्ग पाँवड़ों से सजा है और राम राज-भवन में पहुँचते हैं। दृश्य की यह विशालता (Panormio view) देखिए—

"द्वार द्वार पर झूल रही थीं शुभ मालाएँ,
झूलती थीं ध्वज-व्यजन शील शीला शालाएँ।
राज मार्ग मे पडे पाँवडे फूल भरे थे,
छत्र लिए थे भरत, चौंर शत्रुघ्न धरे थे।
माताओं के भाग आज सोते से जागे,
पहुँचे पहुँचे राम राज तोरण के आगे।
न कुछ कह सकीं, न वे देख ही सकीं सुतों को,
रोकर लिपटीं उठा उठा उन प्रणाति घुतों को।
काँप रही थीं हर्ष भार से तीनों थर थर,
लुटा रहीं थीं रत्न आज वे तीनों भर भर।
लिए आरती वे उतारती थीं तीनों पर,
क्या था, जिसे न आज वारती थीं तीनों पर।
दिन था मानो यही, वधू-वर मे लेने का
जो जिसको हो इष्ट, वही उसको देने का।" (द्वादश सर्ग)

मिलन का यह दृश्य कितना भव्य है जब हर्ष के अतिरेक से भी शरीर कंपित हो उठता है। रानियों के पुत्र आए हैं, वे सर्वस्व निछावर क्यों न करें। सम्पूर्ण नगरी की उत्सुकता, प्रफुल्लता यहाँ चित्र बद्ध हो गई है।

इसी प्रकार भावों की पीठिका देते हुए यह उपयुक्त प्रकृति का दृश्य विधान देखिए—

"टप टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा में,
झड़ झड़ पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा में।
कर पटक रही थी निम्नगा पीठ छाती,
सन सन करके थी शून्य की साँस आती!
सखी ने अंक में खींचा, दुःखिनी, पड़ सो रही
स्वप्न में हँसती थी हा! सखी थी देख रो रही!"

(दशम सर्ग)

अन्य रचनाओं में भी चित्रात्मकता है। पंचवटी में भी उन्होंने व्यापारों को गत्यात्मक रूप देने के हेतु प्रकृति का मानवीकरण कर दिया है।

"चारु चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनी और अंतर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से।
मानो झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से!"

उर्मिला जब विदा देते समय लक्ष्मण को प्रणाम करती है वहाँ भी एक मूर्त चित्र उपस्थित किया गया है। प्रथम सर्ग में उसके उपांग देते हुए सिमिट जाने पर तथा कैकेयी को दशरथ द्वारा समझाए जाने पर अनेक स्थिर व अवाक् चित्र हैं—

(१) "सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया
और एक अपांग ही उसने दिया!" (प्रथम सर्ग)

(२) "पकड कर राम की ठोडी ठहर के,
तथा उनका वदन उस ओर कर के।
कहा गत धैर्य होकर भूप वर ने,
चली है, देख, तू क्या आज करने!
अभागिन देख कोई क्या कहेगा,
यही चौदह वरस वन मे रहेगा!" —(तृतीय सर्ग)

(३) "चूमता था भूमि तल को अर्ध विधु-सा भाल""।
छत्र सा सिर पर उठा था प्राण पति का हाथ""।"
(प्रथम सर्ग)

गुप्त जी के 'साकेत' में अनेक गतिशील चित्र भी मिलेंगे। उर्मिला ऐसे छिटक छूटती है जैसे चचला। चचला चचल तो होगी ही और उर्मिला भी चचल है—

चंचल है "चंचला सी छिटक छूटी उर्मिला।"
चंचल होने के कारण ही तो उसका नाम उर्मिला पड़ा!—
"कुछ चंचल मे सदा रही फिरती थी तुझ सी वही वही
इस कारण उर्मिला हुई गति मे मैं अति दुर्मिला हुई।"

माण्डवी भरत के लिए फलाहार लाती हैं। उनकी ओर सिर झुकाकर देखती हुई मन्दिर में जाती है, यहाँ एक गतिशील चित्र है—

"तनिक ठिठक, कुछ मुड़ कर दाँए, देख अजिर में उनकी ओर।
शीस झुका कर चली गई वह, मंदिर में निज हृदय हिलोर।'
(एकादश सर्ग)

यहाँ ठिठकना, मुड़ना, उनकी ओर देखना, सिर झुकाना और चले जाना—इन पाँच गतिपूर्ण व्यापारों को अंकित किया गया है। ऐसा ही चित्रण—

"तिरछी सी यह दृष्टि हो उठी ताकती सी यह सृष्टि हो उठी"

यहाँ भी हुआ है। जब शत्रुघ्न रात्रि के सन्नाटे में नगर वासियों को जगाते हैं तो वीर-गण तुरन्त सँभल जाते हैं, नारियाँ वस्त्र ठीक करने लगती हैं और हाथ बढा कर दीपक की वत्ती तेज करती हैं। यह गतिमान चित्रण गुप्त जी ने किया है—

"प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त, वधू जन-हस्त स्रस्त से वस्त्रों पर थे।
प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया
वाहु वढ़ा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया।" (द्वादश सर्ग)

(४) सूक्ष्मता—गुप्त जी की दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यापारों पर जाकर उन्हें भाषा वद्ध कर देती है फिर वे व्यापार चाहे अमूर्त भाव जगत के हों या प्रत्यक्ष जगत के। इस सूक्ष्म अन्त दृष्टि के चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—(१) जहाँ प्रकृति चित्रण में उषा काल होते समय दीपक की ज्योति का सिमट जाना, नींद के पैरों का कँपना, उसके आभरणों के ढीले हो जाने का वर्णन किया है—

"क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले।
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले......।
नींद में भी पैर हैं कँपनें लगे,
देख लो लोचन-कुमुद झँपने लगे......।
दीप कुल भी ज्योति निष्प्रभ ही निरी,
रह गई अब एक घेरे मे घिरी!" (प्रमथ सर्ग)

प्रकृति काल में जो भी सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं—सब पर गुप्त जी की दृष्टि गई है। प्रसाद ने तो रात्रि को पागल नायिका ही बना दिया है जो चचल बेसुध होकर भागती हुई चन्द्र नक्षत्र रूपी मणियों को समेटना ही भूल गई है उसका नीला वसन ही फट गया है।

(२) जहाँ सीता के सौंदर्य का चित्रण हुआ है। दिव्य वस्त्रों तथा अंगों की एक रूपता तो है ही।

"पहने थीं दिव्य दुकूल अहा! वे ऐसे,
उत्पन्न हुआ हो देह संग ही जैसे।"

उन्होंने चरणों की ललाई बढ जाने का वर्णन भी किया है जिससे सीता की कोमलता व्यंजित होती है—

"पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धँसती,
तब नख ज्योति मिष मृदुल उँगलियाँ हँसती।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एडियो से सुहास सा झड़ता! (अष्टम सर्ग)

इतनी कुशल समझिए कि सीता माता की "ललित लक" यहाँ केवल झुकती ही है जायसी की तरह—"तेहि तें अधिक लक वह खीनी" तक गुप्त जी की दृष्टि नहीं पहुंची!

(३) दशरथ की तर्क-वितर्कावस्था में राम लक्ष्मण तो वन की सोचते हैं, मंत्री गण अवाक् खड़े हैं, रानियाँ हतज्ञान हैं तब दास दासी भी खण्ड के पीछे से आकर गौर से कान लगाते हैं भीतर क्या हो रहा है! सबके सामने तो आ ही न सकते थे—

"झुका कर सिर प्रथम फिर टक लगा कर,
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आकर।
यहीं होकर अभी यद्यपि गए थे,
तदपि वे दीखते सबको नए थे।" (तृतीय सर्ग)

(४) जहाँ उर्मिला अपने बचपन का वर्णन करती हुई धनुष-भग का उल्लेख करती है। लज्जा आने पर लड़कियाँ प्रायः धोती का आँचल अँगुली में लपेटने लगती हैं या दृष्टि झुकाकर तिरछी कर लेती हैं—तुलसी की सीता तो धरती में कभी नाखून से लिखती है, कभी अँगूठा गढ़ा देती है 'साकेत' की उर्मिला की स्थिति भी लक्ष्मण को देखकर वही हुई—

"सुन देख हुई विभोर मैं बहती थी परिधान छोर-मैं।" (दशम सर्ग)

यह सूक्ष्मता शब्दों के नपे तेले प्रयोग से भी व्यक्त होती है। एक ही शब्द सारी भावना को मूर्तमान कर देता है। यह गुप्त जी का शब्द शोधन है—

(१) "हुआ देवी का *दुर्गा* वेष।"
(२) "चुटीली *फणिनी* सी फुंकार।"
(३) "पड़ी भी *बिजली* सी विकराल।"
(४) "कौन छेड़े ये *काले साँप* ?
(५) "वह *सिंही* अब थी हटा *गोमुखी गंगा*।"

ऐसे कुछ उदाहरण मैं पहिले दे चुका हूँ।× और नगर-वर्णन में से उनकी दृष्टि फुलवारियों से लेकर खभों पर खुदे हुए ऐतिहासिक वृत्तों तक तथा सगीत में ऋषभ से माल्यकोश तक गई है।

(५) हास्य विनोद—'साकेत' में इसके अवसर कम हैं। एक तो करुण प्रधान रचना में वैसे ही हास-परिहास का अवसर कम रहता है; फिर गुप्त जी स्वभाव से भी गभीर हैं। अन्य रचनाओं में भी हास्य बड़ा शुष्ठ व उच्च है उसमें साहित्यिकता सर्वत्र है। 'सिद्धराज' में रानकदे-खगार, काचनदे-अर्णोराज, मोलनदे-राजपूतनी आदि के वार्तालाप में उदात्त रूप है। 'साकेत' में भी कुछ स्थल आए हैं—(१) उर्मिला-लक्ष्मण के प्रेमालाप में (२) कैकेयी राम के सवाद में, (३) जावालि-वशिष्ठ की चर्चा में, (४) राम सीता के विनोद में।

(१) "उर्मिला ने लक्ष कर प्रिय को कहा—
और भी तुमने किया कुछ है कभी
या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी ?'

तो लक्ष्मण तुरन्त उत्तर देते हैं—

"बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही।"

तो उर्मिला भी चुप नहीं रहती—

× देखिए अध्याय ७—'साकेत में प्रकृति-चित्रण'

• "देख लूँगी"—उर्मिला ने भी कहा
विविध विध फिर भी विनोदामृत वहा !" (प्रथम सर्ग)

(२) "मैं बड़ा हुआ अब और साथ ही भारी,
अब उठा सकोगी तुम न तीन में कोई !"
"तुम हलके कब थे ?" हँसी कैकयी रोई !"

(३) "हँस कर जाबालि वशिष्ट ओर तब हेरे,
मुसका कर गुरु ने कहा—शिष्य हैं मेरे।
मन चाहे जैसे और परीक्षा लीजे,
आवश्यक हो तो स्वयं स्वदीक्षा दीजे !" (अष्टम सर्ग)

(४) "मर्म समझ हँस कर प्रभु बोले—'सब सुचर्म पर मरते हैं
इसे मार हम प्रिये तुम्हारी इच्छा पूरी करते हैं !"
(एकादश सर्ग)

यहाँ श्लेष द्वारा हास्य-विनोद उत्पन्न किया है।

(५) "तुमने अपनी भी आज यहाँ सुध खोई,
हो जाना लता न आप लता-संलग्ना—
करतल तक तो तुम हुईं नवल-दल माना !
ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको—
है मधुप ढूँढ़ता यथा मर्मज्ञ कुसुम को !" (सप्तम सर्ग)

(६) कलात्मकता—साकेत की शैली में कलात्मक अभिव्यंजना का गुण है। वस्तुओं की तुलना में गुप्त जी ने साधर्म्य का अधिक ध्यान रखा है इसलिए ये आकर्षक होती है। उदाहरण लीजिए—

"नाक का मोती अधर की काँति से
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से !" (प्रथम सर्ग)

मोती का रंग हलका पानी घुला हुआ श्वेत होता है उस पर होठों की ललाई झलकी तो बीच में कुछ लाल रंग आ जाएगा। अब उसे दाड़िम का बीज समझा गया है। दाड़िम भी उतना ही हल्का सफेद होता है और बीच में उतनी ही हल्की ललाई होती है। दोनों में गुण साम्य तो हुआ ही आकार साम्य भी है। मोती भी जड़ में पतला, तुन गोल फूला हुआ होता है, दाड़िम का दाना भी ऐसा ही होता है। तब शुक उसे दाड़िम समझ बैठता है तो ठीक ही समझता है। ध्यान रखिये वह अनार का दाना नहीं समझ रहा है अन्यथा मोती का रंग खूनी लाल हो जाएगा जिसके लिए अधरों को ताम्बूल (या लिपिस्टिक) से रंजित करने की आवश्यकता पड़ जायगी।

वर्णन की यही कलात्मकता प्रसाद में भी पाई जाती है। श्रद्धा की मुसकान का वर्णन लाल कोपल पर अलसाई हुई अरुण-किरण द्वारा किया गया है—

"और उस मुख पर वह मुसकान रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अविराम

कहीं गुप्त जी ने प्रभाव साम्य के आधार पर सादृश्य विधान किया है—

"जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
हेत जिसकी पंकज पंक्ति, अचल सी काया!
उस सरसी सी, आभरण रहित, सित वसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड रसना!"

प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत या मूर्त के लिए अमूर्त का विधान तो अनेक स्थानों पर हुआ है—

(१) "विमाता वन गई आँधी भयावह
हुआ चचल न तो भी श्याम-घन वह"

(२) "अरुण-पूर्व उतार तारक हार
मलिन सा सित शून्य अंबर धार!"

(३) "वढी तापिच्छ सी शाखा-भुजाएँ"

(४) रथ मानो एक रिक्त घन था"

(५) "बुरे स्वप्न में नीर आ गया उद्‌बोधन सा"

(६) "उस भव वैभव की विरक्ति सी
वेदेही व्याकुल मन मे!"

ऐसे वर्णनों में कहीं तो प्रस्तुत बिल्कुल ही व्यंग्य हो जाता है और अप्रस्तुत का वर्णन ही प्रधान हो जाता है—

"सखि, नील नभस्सर मे उतरा यह हंस अहा! तरता, तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेप नहीं निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम विन्दु वचे तव भी चलता उनको धरता धरता,
गड जॉय न कटक भूतल के, कर डाल रहा डरता डरता!"
(न० स०)

एक स्थान पर गुप्त जी ने वर्णन तो प्रकृति का किया है जो प्रस्तुत है पर उसके पीछे आती हुई एक नायिका का वर्णन है जो अप्रस्तुत है।

"अरुण संध्या को आगे ठेल देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल यामिनी आ पहुँची तत्काल!"
(द्वितीय सर्ग)

प्राचीन काव्य में प्रस्तुत की तुलना प्रायः प्राचीन से ही दी जाती थी। 'अप्रस्तुत विधान, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता शैली की नवीन विशेषताएँ हैं जिनका प्रयोग गुप्त जी ने किया है।

प्रतीकात्मक शैली भी नवीन वस्तु है। इसके दो रूप हैं—(१) या तो किसी शब्द का प्रतीक रूप में व्यवहार किया जाय, (२) या पूरा वर्णन ही प्रतीक रूप में हो! गुप्त जी ने दोनों का व्यवहार किया है।

(१) "लिपि मुद्राओं *भूमि* भाव की दमको दमको!"

यहाँ 'भूमि' शब्द निवासियों के लिए आया है।

(२) "उधर अट्ट पर दीख पड़ा *गृह-दीपक* मानो!"

यहाँ 'गृह दीपक' शब्द सुपुत्र के लिए आया है।

(३) "*भव* ने इतना भाव विभव हमसे है पाया!"

यहाँ 'भव' शब्द मानव के लिए आया है।

(४) "*नीलम के प्याले* में बुद् बुद् देकर उफन रही है *हाला*!"

यहाँ 'नीलम का प्याला' आकाश का प्रतीक है, 'हाला' रात्रि की शोभा की। 'प्रसाद' ने भी यह प्रतीक लिया है—

"इन्द्र नील मणि महा चषक था सोम रहित उलटा लटका!"

एक स्थान पर तो गुप्त जी ने अमूर्त भाव को ही मूर्त बना दिया है जैसा 'कामायनी' में हुआ है। वेदना अमूर्त होती है लेकिन उर्मिला उसे सम्बोधन करती हुई कहती है—

"आ अभाव की एक आत्मजे और अदृष्टि जनी!"

प्रसाद ने 'चिन्ता' को 'अभाव की चपल बालिका" कहा है।

दूसरे रूप का उदाहरण लीजिए जहाँ पूरा वर्णन ही प्रतीकात्मक है—

"सखि बिखर गई हैं कलियाँ
कहाँ गया प्रिय झुकाझुकी में, करके वे रंग रलियाँ?
भुला सकेगी पुनः पवन को, अब क्या इनकी गलियाँ?
यही बहुत थे पचे उन्हीं से, जो थीं रंग स्थलियाँ!"

संबोधन पद्धति को भी कला की विशेषता माना जा सकता है। है तो यह प्रणाली नवीन—स्वयं किसी सजीव या निष्प्राण वस्तु को संबोधित कर अपने उद्गार प्रकट कर चलना। जिस प्रकार गुप्त जी ने अन्तिम सर्गों में मुहावरों,

कहावतों का अधिक प्रयोग किया है उसी प्रकार सबोधन पद्धति का प्रधानतः नवम् सर्ग में—जहाँ उर्मिला को वैयक्तिक भावनाएँ ही प्रकट करती हैं। अँग्रेजी कविता में इस पद्धति का विशेष प्रयोग मिलता है—

(१) "O Solitude ! where are the charms ?"

(२) "O wind ! if winter comes
Can spring be far behind ?"

(३) "Rash boy ! men look on Rustam's face and flee"

आदि

'साकेत' की उर्मिला कभी किरण को सबोधित करती है कभी खरगोश को, कभी हिमालय को तो कभी सरयू को।

(१) "ओ गौरव गिरि उच्च उदार !"

(२) "भूल पडी तू किरण कहाँ ?"

(३) "आ जा मेरी निंदिया गूगी !"

(४) "कह विहग, कहाँ हैं आज आचार्य तेरे ?"

(५) दरसो, परसो, घन बरसो !"

(६) "सरयू, जय दुंदुभी बजी !"

कहीं स्वय कवि ने भी इस प्रकृति का प्रयोग किया है—

(१) "लेखनी, अब किस लिए विलम्ब ?"

(२) "कहाँ है कल्पने ! तू देख आकर !"

(३) "करुणे क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई।"

चमत्कार उत्पादन को अन्य विधियाँ भी उन्होंने अपनायी हैं। सुरसरि के तट पर आते समय यह वर्णन—

"बैठी नाव निहार लक्षणा-व्यजना
'गंगा में गृह' वाक्य सहज बालक बना !"

तथा कुछ समय उपरान्त—

"वहाँ हर्ष के साथ कुतूहल था गया,
नाव चली या स्वयं पार ही आ गया"

वर्णन इसी प्रकार के हैं। सस्कृत वाक्य "हतोऽस्मि" "अतिथि देवो भव" चमत्कार के लिए प्रयुक्त हैं। एक जगह सीता को सात्विकी वृत्ति के ही रूप में अधिष्ठित कर दिया है—

"उन दोनो के बीच घिरी थीं देवी सीता
राजस-तामस मध्य सात्विकी वृत्ति पुनीता !"

कहीं शब्दों का हेरफेर ही चमत्कार उत्पन्न करता है

तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे ! अलंकार तो इसमें प्रधान सहायक हुए हैं—

"राजा योगी जय जनक वे पुराय देही *विदेही* !"

शब्दों या वाक्यों की पुनरुक्ति से भी चमत्कार उत्पन्न हुआ है। शब्दों की आवृत्ति ६ उद्देश्यों के लिए हुआ है। (१) क्रिया की गतिशीलता दिखाने के लिए, (२) ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिए (३) भेद प्रकट करने के लिए (४) उत्साह जाग्रत करने के लिए और (५) समवेदना जाग्रत करने के लिए (६) मंथरता दिखाने के लिए इनके उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं—

(१) "*सिकुडा सिकुडा* दिन था, सभीत सा शीत के कसाले से"

(२) "*उछल उछल* कर, *छल छल* करके"

(३) "*थल थल* करके कलकल भरके"

(४) "*बढजा बढजा* विटप निकट वल्ली"

(५) "कूड़े से भी आगे पहुँचा अपना अदृष्ट *गिरते गिरते*"

(६) "सखि नील नभस्सर में उतरा यह हंस अहा *तरता तरता*"

शब्द की ऐसी प्रक्रियाओं में ध्वनि की अपेक्षा वाच्यार्थ ही चमत्कारपूर्ण होता है। शब्दों के द्वारा अर्थ की व्यजना तो कम होती है किन्तु अभिधेयार्थ में एक विस्तार और वृद्धि सी आ जाती है। ऐसी अवस्था में मन-कल्पना का चाहे कुछ आभास न हो, पर हृदय पर स्पर्श अवश्य होता है। भाव से हृदय को दबाने के लिए कवि ने समानाधिकारी वाक्यों का भी बहुत प्रयोग किया है, एक ही सी बात कई बार मन में टकरा कर भाव की ओर आकर्षण उत्पन्न कर देती है।" ×

कहीं दो-दो पद दुहराये गए हैं—

"भरत से सुत पर भी सन्देह बुलाया तक न उन्हें जो गेह"

तो कैकेयी को जितनी बार स्मरण होता है उतनी ही बार गहरी चोट करता है। प्रतिशोध की भावना प्रबल होती जाती है और वह पैर पटक कर गरज उठती है—

"सहूँगी कभी न यह अन्याय करूँगी मैं इसका प्रतिकार
पलट जावे चाहे संसार !"

कहीं एक-एक पंक्ति ही दुहराई गई है जिससे गीतात्मकता का गुण आया है। "मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया"—पंक्ति तो प्रत्येक पाँच पंक्तियों के

× डा० सत्येन्द्र

उपरांत सोलह बार दुहराई गई है। "मन को यों मत जीतो"—पंक्ति चार बार दुहराई गई है। इनकी संख्या कुछ दी जा सकती है—

(१) "ओ गौरव गिरि उच्च उदार" ७ बार
(२) "जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी" ५ बार
(३) "दोनों ओर प्रेम पलता है" ६ बार
(४) "सखि निरख नदी की धारा" ५ बार
(५) "हम राज्य लिए मरते हैं" ६ बार

तीन-तीन, चार-चार बार तो अनेक पंक्तियाँ दुहराई गई हैं।

कहीं कलात्मकपूर्ण संकेत भी हैं जैसे दशरथ ने कैकेयी को समझाते समय कहा था—

"मरूँगा मैं तथा पछताएगी तू यहीं फल अंत में बस पाएगी तू"

तो उनका तात्पर्य यह नहीं था कि मर ही जाएँगे। जब किसी कारण-वश मृत्यु हो गई तो यह पूर्वाभास हुआ।

(७) वृत्तियाँ और गुण—'साकेत' की भाषा शैली में तो तीनों वृत्तियाँ और तीनों गुण हैं।

(१) उपनागरिका वृत्ति—

"जनकपुर की राज कुंज विहारिका एक सुकुमारी सलोनी सारिका।"
(प० स०)

× × × ×

"उत्तर की अनपेक्षा करके आँसू रोक सुमंत्र
चले भूप की ओर वेग से घूमा अंतर्यंत्र
"अरे" मात्र कह कर ही उनको रहे देखते राम
और राम को रहे देखते लक्ष्मण लोक ललाम।" (तृ० स०)

(२) परुषा वृत्ति—

"भरत होकर यहाँ क्या आज करते स्वयं ही लाज से वे डूब मरते!
तुम्हे सुत भक्षिणी साँपिन समझते निशा को मुँह छिपाते दिन समझते
भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें?"
(तृ० स०)

× × × ×

(३) कोमला-वृत्ति—

"राज्य जाय मैं आप चला जाऊँ कहीं
आऊँ अथवा लौट यहाँ जाऊँ नहीं

रामचन्द्र भवभूमि अयोध्या की सदा
और अयोध्या रामचन्द्र की सर्वदा !" (पं० स०)

× × ×

"देवर केशर की अनी बना कर टाँकी
मैंने अनुजा की एक मूर्ति है आँकी
आँसू नयनों में हँसी वदन पर बाँकी
काँटे समेटती, फूल छींटती झाँकी
निज मंदिर उसने यही कुटीर बनाया !" (अ० स०)

इन तीनों वृत्तियों को ही श्यामसुन्दर दास ने क्रमशः मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा कहा है।

"अब जो प्रियतम को पाऊँ
तो इच्छा है उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ !
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ !
ऊषा सी आई थीं जग में संध्या सी क्या जाऊँ ?
श्रांत पवन से वे आवें मैं सुरभि समान समाऊँ !" (न० स०)

× × ×

"अपलक था आकाश चपल-वलिगत-गति लखी
क्षण भर वह छवि देख स्वयं विधि की मति मोही
सिरजा न हो तुरंग-अंग करके आरोही !
उठा कौंध सा त्वरित राज-तोरण पर आया
प्रहरी दल से सजग सैन्य अभिवादन पाया
कूद पड़ा रणधीर एक ने अश्व सँभाला
नीरव ही सब हुआ न कोई बोला चाला !" (द्वा० स०)

(१) प्रसाद गुण—यह गुण तो 'साकेत' की भाषा में सर्वत्र है। गुप्त जी की रचनाएँ इसलिए भी अत्यन्त जनप्रिय रही हैं कि उनमें प्रसाद गुण अधिक मात्रा में है। एकाध पंक्ति कहीं रुक जाय तो रुक जाय अन्यथा 'रंग में भंग'—से लेकर 'नहुष' तक प्रसादात भाषा है। आरम्भ में समासों, संयुक्त पदों की ओर विशेष झुकाव मालूम पड़ता है पर 'सिद्धराज' तक आते आते गुप्त जी की काव्य-भाषा अपने पैरों खड़ी हो गई है।

"दीपक के जलने में आली फिर भी है जीवन की लाली
किन्तु पतंग भाग्य लिपि काली, किसका वश चलता है ?

जगती वणिग्-वृत्ति है रखती उसे चाहती जिससे चखती
काम नहीं परिणाम निरखती, मुझे यही खलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।" (न० स०)

(८) अलंकरण—'साकेत' की शैली अनेक नवीन प्राचीन अलंकारों से सज्जित है। जिनका वर्गीकरण मैं पहले भाग में कर चुका हूँ। शब्दालंकारों के साथ छायावादी कविता में प्रयुक्त अनेक यूरोपीय अलंकारों का भी उसमें विधान हुआ है। 'नवम सर्ग' में सर्वाधिक अलंकार हैं जिसके सम्बन्ध में 'गिरीश' का कहना है—"गुप्त जी के समस्त ग्रन्थों में 'साकेत' अत्यन्त अलंकार युक्त है और 'साकेत' के समस्त सर्गों की अपेक्षा नवम सर्ग सबसे अलंकृत है। इसका क्या अर्थ है? क्या उर्मिला की वेदना का प्रवाह कुंठित हो गया है? क्या वह उन्मुक्त श्रोत की तरह प्रगतिशील नहीं होता? हाँ, यह सत्य है कि कवि ने उर्मिला को उसकी प्रकृति वेदना नहीं प्रदान की। उर्मिला पति वियोग से दुःखिनी है लेकिन लोक मर्यादा के भावों से जकड़ी रहने के कारण वह अपनी प्राकृतिक व्यथा को प्राकृतिक ढंग से व्यक्त न कर ऐसे ढंग से व्यक्त करना चाहती है जिसमें वह समाज में, कुटुम्ब में प्रविष्ट बनी रहे, उसके हृदय के वास्तविक उद्‌गारों की दिशा को कोई पहचान न सके। उसका विषाद किस लिए है, उसके आँसुओं की नदी किस पहाड़ से निकलकर किस समुद्र की ओर प्रवाहित होती है, इसमें थोड़ी सी दुविधा है अनिश्चय है ......इसी अनिश्चय के कारण उर्मिला का दुख उस केन्द्र को नहीं प्राप्त कर पाता जिसमें उसको प्रवाह प्रदान करने की शक्ति हो सकती है। इस केंद्रिकता के अभाव की पूर्ति करने के लिए ही अलंकारिकता का आगमन हुआ है।"

'साकेत' के वर्णनों में अनेक अलंकार साथ-साथ आए हैं। जिन्हें तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है—(१) जहाँ केवल अलंकार पर ही कवि की दृष्टि रही है अतः अर्थ क्लिष्ट हो गया है (२) जहाँ पूर्ण वर्णन है तो अलंकार पूर्ण पर स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है (३) जहाँ काव्य-प्रवाह के बीच-बीच में स्फुट अलंकार आ गए हैं।

(१) इन स्थलों पर शुद्ध अलंकार प्रियता है जिसने अर्थ को ढक लिया है—

"गिरि हरि का हरिवेष देख वृष वन मिला
उनके पहले ही वृषारूढ़ का मन खिला
शिला-कलश से छोड़ उत्स उद्रेक-सा
करता है नग-नाग प्रकृति अभिषेक सा

क्षिप्त सलिल कण किरण योग पाकर सदा
बहा रहे हैं रुचिर रत्न मणि संपदा।
वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा
किसे न होगा यहाँ हर्ष विस्मय बड़ा?" (पं० स०)

× × × ×

"उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से
वर्ण वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के
क्यों न बनते कविजनों के ताम्र पत्र सुवर्ण के?" (न० स०)

(२) कुछ स्थलों पर पूर्ण अलंकार होने पर भी अर्थ स्पष्ट रहता है।

"अरुण वह पहने हुए आह्लाद में
कौन यह बाला खड़ी प्रसाद में?
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं?
कांति की किरणें उजेला कर रहीं!
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई
माप विधि के हाथ से ढाली गई!
कनक-लतिका सी कमल-सी कोमला
धन्य है उस कल्प शिल्पी की कला!
जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े
हीरकों मे गोल नीलम है जड़े!
पद्म रागों से अधर मानो बने
मोतियों से दाँत निर्मित हैं घने!
और इसका हृदय किससे है बना?
वह हृदय ही है कि जिससे है बना!" (प० स०)

उपर्युक्त अवतरण में उत्प्रेक्षा, उपमा संदेह, अनन्वय आदि अलंकार पहली पंक्ति से अन्तिम पंक्ति तक मिलते जाएँगे फिर भी उनका निर्वाह बड़ी कुशलता से हुआ है न तो प्रवाह में बाधा है, न अर्थ बोध में। ऐसे अवतरण गुप्त जी की रचनाओं में प्रायः कम है।

(३) जहाँ वर्णनों के बीच स्वतः अलंकार आते रहे हैं। पहले दो तीन अलंकार लक्षण सहित देकर फिर कुछ का विवरण दिया जा रहा है।

"पद्मिनी के पास मत्त मराल से
हो गए आकर खडे स्थिर चाल से !"

उपमेय है लक्ष्मण, उपमान है मराल, साधारण धर्म है चाल व शुभ्रता, वाचक शब्द है 'से' उपमालंकार हुआ।

"आँखों मे प्रिय मूर्ति थी, भूले थे सब रोग
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम वियोग !"

यहाँ उपमेय—उर्मिला—के उत्कर्ष द्वारा उसके गुणाधिक्य का वर्णन किया गया है अतः व्यतिरेक अलंकार हुआ।

"पहले आँखों में थे मानस मे कूद मग्न प्रिय अब थे
छींटे वही उडे थे, बडे बड़े अश्रु वे कब थे ?"

यहाँ उपमेय आँसुओं का निषेध करके उपमान बूँदों का आरोप किया गया है साथ ही इस आरोप का कारण भी दिया गया है अत. हेत्वापह्नुति अलंकार हुआ।

"उसे वहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट
धन्य सखी देती रही निज यत्नों की ओट"

यहाँ 'दण्ड' शब्द के दो अर्थ निकलते हैं—साठ पल का समय और डण्डा। श्लेष अलंकार है।

"किंवा वे खडी हो घूम प्रभु के सहारे आह
तलवे से कंटक निकालते हों ये कराह !"

यहाँ काँटा तो चुभा है सीता को, कराहते हैं लक्ष्मण। असंगति अलंकार का उदाहरण है।

इसी प्रकार कुछ और अलंकार देखिए—

(१) सदेह— "क्या यही साकेत है जगदीश ?
थी जिसे अलका झुकाती शीश
सुन नहीं पडती कहीं कुछ बात
सत्य ही क्या तक नहीं है तात ?
आज क्या साकेत के सब लोग
शांत हो बैठे सहज ही श्रांत ?
दीखते हैं किन्तु क्यों उद्भ्रांत ?"

(२) सहोक्ति— "याद है वह सबर-रण रग
विजय जब मिली व्रणों के संग ?"

(३) उत्प्रेक्षा— "सीता प्रभु-कर पकड़ चढ़ीं निज रथ पर
ज्यों पुरैन पर फुल्ल पद्मिनी तर चली
चले सहारा दिए हंस सम युग चली ?"

(४) अनुप्रास— "जन कर जननी ही जान न पाई जिसको ।"

× × ×

"अवश अबला तुम ? सकल बल वीरता
विश्व की गंभीरता ध्रुव धीरता !"

× × ×

"किन्तु मेरी कामना छोटी बड़ी
है तुम्हारे पाद-पद्मों मे पड़ी !"

(५) यमक— "अंगराग पुरांगनाओं के धुले
रंग देकर नीर मे जो है घुले !"

(६) रूपक— "तब प्रस्तुत रंग भूमि में; नृप-भावाम्बु-तरंग-भूमि मे
निज मानस-सद्म-हंसिनी; पहुँची वे प्रभु-प्रेम-पद्मिनी
वरमाल्य-पराग छोड़ के, उनके ऊपर सैन्य जोड़ के !"

(७) विरोधाभास— "मैं वन जाकर हंसा किन्तु घर आकर रोया
खोकर रोए सभी, भरत मैं पाकर रोया !"

× × ×

"तू कामद होकर आप अकाम !"

× × ×

"बच कर हाय पतंग मरे क्या ?
प्रणय छोड़ कर प्राण धरे क्या ?"

(८) अन्योक्ति— "नभ में आप विचरते हैं जो
हरा धरा को करते हैं जो
जल में मोती भरते हैं जो
अक्षय उनका कोप !"

× × ×

"सखी मैं भव कानन मे निकली वन के उसको वह एक कली
खिलते खिलते जिससे मिलने उड़ आ पहुँचा हिम-हेम अली
उसका कर आलि लिया उसको तब लौं यह कौन बयार चली
'पथ देख जियो' कह गूँज यहाँ किस ओर गया वह छोड़ छली !"

इसी प्रकार और भी अलकार हैं। ये नो प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्रों में वर्णित अलकार हुए। पश्चिमी कविता के प्रभाव से कुछ नवीन अलकार भी आ गए हैं। जिनका प्रयोग 'साकेत' में हुआ है।

(१) मानवीकरण—

"मेरे चपल यौवन बाल
अचल अंचल में पड़ा सो मचल कर मत साल"

यहाँ उर्मिला यौवन को एक बच्चे की तरह मानकर चुपचाप गोद में सो रहने को कह रही है।

"जाग उठे हैं मेरे सौ सौ भाव स्वयं हिल डोल"

भाव सशरीर, सप्राण जीवों की तरह अँगड़ाई लेते हुए उठ रहे हैं।

"श्र ति पुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल"

× × × ×

"मेरा रोदन मचल रहा है कहता है कुछ गाऊँ" आदि।

उपर्युक्त स्थलों पर यौवन भाव स्मृतियों, रोदन का क्रमशः मानवीकरण हुआ है। अँग्रेजी में (Personification) कहते हैं।

(२) विशेषण विपर्यय—

"कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है
कली तुझे खिलने को"

वस्तुतः हिलती डुलती विशेषण कली के साथ होना चाहिए था क्योंकि वही हिलती है लेकिन अभिलाषा के साथ जोड़ दिया गया है इस कारण विपर्यय हुआ।

"शशि खिसक गया निश्चित हँसी हँस बाँकी"

यहाँ निश्चित विशेषण शशि का है पर हँसी के पूर्व रख दिया गया है। अँग्रेजी में Transferred Epithet कहते हैं। अँग्रेजी से दोनों के उदाहरण ले लीजिए—

"But if a single combat Fame speaks clear."
"Come, plant wev here in earth our angry spears"

(३) शब्द ध्वनन—

"उछल उछल कच गुनाछ विखरते थे कन्धों पर
रण कंकण थे खेल रहे दृढ़ मणि बन्धों पर
खचित तरणि मणि रचित केतु झकझका रहे थे

"वज्र धकधका रहे शस्त्र भकभका रहे थे
नगर जगैया जगर मगर जगमगा रहे थे !"

× × ×

"जैसा उनके क्षुब्ध हृदय मे धड़ धड़ धड था
वैसा ही उस वाजि वेग में पड़ पड़ पड़ था
फड़ फड़ करने लगे, जाग पेड़ों पर पक्षी !"

× × ×

"मीन मकर वृष सिंह पूर्ण सागर या वन था ?
झोंके झिल मिल झेल रहे थे दीप गगन के
खिल खिल हिलमिल खेल रहे थे दीप गगन के
तिमिर अंक में जब अशंक तारे पलते थे
स्नेह पूर्ण पुर दीप दीप्ति देकर जलते थे
घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण भेरी !"

शब्दों द्वारा ही गति व ध्वननि मूर्तिमान हो जाती है। अँग्रेजी का Onomatopoeia है—

"I chatter chatter as I How
To join the brimming river"

(४) विषादपूर्ण पीठिका देने को अँग्रेजी में एक अलकार माना गया है। Pathetic Fallacy 'साकेत' में इसके उदाहरण भी मिलते हैं—

"थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती
उल्का सी रानी दिशा दीप्त करती थी
सब मे भय विस्मय और खेद भरती थी !"

× × ×

"बीता दिन बीता रात हुई ज्यों त्यो वह रात प्रभात हुई
फिर सूनी सूनी साँझ हुई मानो सब वेला बाँझ हुई !"

शब्द तो अपने स्थान पर हीरे की तरह जड़े हुए हैं। 'ज्यों त्यों' की ध्वनि देखिए। बड़ी कठिनाई मे तो रात हुई, अब बड़ी मुश्किल मे पल-पल बीतकर प्रभात हो रहा है। समय बीतता ही नहीं।

"डरती हूँ फिर भूल न जाऊँ मैं हूँ भूली भूली !"

'भूली' शब्द कितना व्यंजक है। उसे विश्वास नहीं कि स्मरण शक्ति साथ दे या न दे बिल्कुल अव्यवस्थित मानसिक रूप से अस्त व्यस्त है और पुनरुक्ति उसके विस्मरण को और बढ़ा देती है।

यह शब्दों का शैली गत चमत्कार है।

छायावादी भाषा शैली के कुछ उदाहरण देखिये—

(१) "तुम्हारे हँसने में है फूल हमारे रोने में हैं मोती !"
(२) "ओ, मेरे मानस के हास !"
(३) "और मरण ? वह बन जाता है कभी हिये का हार भी !"
(४) 'किसने मेरी स्मृति को बना दिया है निशीथ में मतवाला !"
(५) "इंगित में ही बोल रही है, मुखरित कूल किनारा !"
(६) "कुंजों का कूजन निराश हो सोया !"

अब इन पंक्तियों से तुलना कीजिए—

(१) "जब कामना सिंधु तट आई ले संध्या का तारा दीप
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी तू हँसती क्यों अरे प्रतीप ?"
—प्रसाद

(२) "साड़ी सी सिकुड़न सी जिस पर
शशि की रेशमी दिया से भर, सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर !"
—पन्त

(३) "उदय में तम भेद सनमन, अस्त दल ढक पलक कल तन
निशा प्रिय उर शयन सुखधन, सार या कि असार रे कह !"
—निराला

(४) "शलभ मैं शापमय वर हूँ! किसी का दीप निष्ठुर हूँ !"
× × × ×
"साधों का आज सुनहला पन" "इच्छाओं के सोने से शर !"
—महादेवी वर्मा

प्रतीकात्मकता, उक्ति वैचित्र्य छायामय अप्रस्तुत विधान 'साकेत' की भाषा शैली में भी इसी तरह के हैं।

(६) छन्द विधान—'साकेत' में अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है जो मात्रिक वर्णिक दोनों प्रकार के हैं। आरम्भिक रचनाओं की तरह एकरूपता नहीं मिलती। एक तो महाकाव्य होने से सर्ग बद्धता के कारण भी छन्द परिवर्तन हुआ है दूसरा गुप्त जी की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण। सर्वाधिक छन्द

विविध रूप में नवम सर्ग में प्रयुक्त हुए हैं यहाँ तक कि दस पाँच पंक्तियों के उपरान्त छन्द बदल ही जाता है। सारा सर्ग ही मुक्तक छन्दों की अलग-अलग छटा दिखलाने लगता है जिसका परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं। इसका प्रधान कारण है उर्मिला। छन्दों की विविधता क्षण क्षण में परिवर्तन से उसके अव्यवस्थित अस्थिर भावों की सूचना मिलती है।

गुप्त जी ने इतने छन्दों की झाँकी शान दिखाने या सभी छन्दों का समाहार कर लेने के लिए नहीं दिखाई वरन् पात्र की मनोदशा से उसका सम्बन्ध रखा है। उर्मिला उन्मादिनी की तरह कभी रोती है, कभी गाती है, कभी गुनगुनाने लगती है..........इनके लिए वह एक ही छन्द का प्रयोग कैसे करती? तो गुप्त जी ने छन्दों का सम्बन्ध मनोभावों से किया है।

दूसरी बात यह है कि उन्होंने प्राचीन नवीन छन्दों के योग से नए छन्द तैयार कर लिए हैं। प्रसाद ने भी कुछ स्वतन्त्र छन्द बनाए थे। 'साकेत' में हगम्बु आ "दुकूल में"—एक गीत की पहली पंक्ति है तो दूसरी पंक्ति है—

'रहे एक ही पानी चाहे हम दोनों के मूल में!'

दोहा, सोरठा, घनाक्षरी कवित्त, सवैया, बरवै, आर्या, शिखरिणी, मालिनी आदि छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'सप्तम' सर्ग में जो छन्द प्रयुक्त हैं—

"जान कर क्या शून्य निज साकेत, लौट आए राम अनुज समेत?
या उन्हीं के अन्य रूप अनन्य, ये भरत शत्रुघ्न दोनों धन्य!"

१७ मात्राओं का है, दो-दो पंक्तियाँ तुकान्त हैं। इसे डा० नगेन्द्र ने गुप्त जी का स्वतन्त्र छन्द माना है। सबसे छोटा छंद ५ और ७ अक्षरों का है जिसमें ८ और १२ मात्राएँ हैं—

"पक्ष सिद्ध हो, लक्ष विद्ध हो
राम! नाम हो तेरा धर्म वृद्धि हो
मर्म ऋद्धि हो सब तेरे! तू मेरा!" (चतुर्थ सर्ग)

सबसे बड़ा छन्द ३१ मात्राओं का है—

जली पाप की लंका जिससे वह थी एक सती की हूक,
मैंने तो झटपट समुद्र में, कूद बुझाली अपनी लूक!"
—(एकादश सर्ग)

अब सोदाहरण देखिये—

(१) दोहा—"लंकानल शंकादलन जय जय पवन कुमार
SS।। SS।।। ।।।। ।।।।S।

तुमने सागर ही नहीं, किया गगन भी पार।"
ऽ।।ऽऽ।। ऽ ।ऽ ।ऽ ।।। ऽ ऽ।

इसमें विषम चरणों में १३-१३ मात्राएँ हैं, और सम चरणों में ११-११ अन्त में गुरु लघु (ऽ।) है।

"आठ पहर चौंसठ घड़ी, स्वामी का ही ध्यान
ऽ। ।।। ऽ।। ।ऽ ऽऽ ऽ ऽ ऽ।
"छूट गया पीछे स्वयं, उससे आत्म-ज्ञान।"
ऽ। ।ऽ ऽऽ ऽ। ।।ऽ ऽऽ ऽ।

इसमें विषम चरणों में भी १३ १३ मात्राएँ तथा सम चरणों में ११-११ मात्राएँ हैं अतः दोहा है।

(२) बरवै—"अवधि शिला का उर पर, था गुरु भार
।।। ।ऽ ऽ ।। ।।ऽ ।। ऽ।
तिल तिल काट रही थी, दृग जल धार।"
।। ।। ऽ। ।ऽ ऽ ।। ।। ऽ।

इसके विषम पदों में १२-१२ मात्राएँ हैं तथा सम चरणों में ७ ७ मात्राएँ हैं। कुल १० हैं। अन्त में जगण (।ऽ।) भी है। अतः शुद्ध बरवै छन्द है।

(३) मंदाक्राता—"दो वर्षों में, प्रकट करके, पावनी लोक लीला
। ऽऽऽऽ ।।। ।।ऽ ऽ।ऽ ऽ। ऽऽ
सौ पुत्रों से, अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूत शीला
ऽ ऽऽऽ ।।। ।।ऽ ऽ।ऽऽ। ऽऽ
त्यागी भी हैं, शरण जिनके, जो अनासक्त गेही
ऽऽ ऽ ऽ ।।। ।।ऽ ऽ। ऽऽ। ऽऽ
राजा योगी, जय जनक वे, पुरात्र देही विदेही।"
ऽऽ ऽऽ ।। ।।। ऽ ऽ। ऽऽ ।ऽऽ

यह वार्णिक छन्द है। प्रत्येक चरणों में १७ अक्षर हैं, ४, ६ और ७ अक्षरों पर विराम है। प्रत्येक में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण, गुरु गुरु है। (ऽऽऽ, ऽ।।, ।।।, ऽऽ।, ऽऽ।, ऽऽ)

(४) उपेन्द्र वज्रा—"मिलाप था दूर अभी धनी का
।ऽ। ऽ ऽ।।ऽ ।ऽ ऽ
मिलाप ही था बस का बनी का
।ऽ। ऽ ऽ।। ऽ ।ऽ ऽ

अपूर्व आलाप वही हमारा
।ऽ। ऽऽ। ।ऽ ।ऽऽ
यथा विपंची फिर दार दारा
।ऽ ।ऽऽ ।। ऽ। ऽऽ

इसके प्रत्येक चरण में ११-११ अक्षर हैं। जगण, तगण, जगण, गुरु गुरु का विधान है (।ऽ।, ऽऽऽ, ।ऽ।, ऽऽ)

(५) कवित्त—"छोड़ छोड़, फूल मत तोड़, आली देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाए हैं?
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है
दुःखिती लता के लाल आँसुओं से छाए हैं!
किन्तु नहीं, चुन ले सहर्ष खिले फूल सब
रूप, गुण, गंध से जो मेरे मन भाए हैं
जाए नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिए
गौरव के संग चढ़ने के लिए जाए हैं!"

यह मनहरण कवित्त है। प्रत्येक चरण में ३१-३१ अक्षर हैं और १६ १५ पर यति है। अन्त में गुरु (ऽ) है।

(६) वंशस्थ विलम्—"विचारती हूँ सखि, मैं कभी कभी
अरण्य से हैं प्रिय लौट आते
छिपे छिपे आकर देखते सभी
कभी स्वयं भी कुछ दीख जाते!"

इसके प्रत्येक चरण में १२-१२ अक्षर हैं—जगण, तगण, जगण, रगण, (।ऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ) का विधान है।

(७) सवैया—"भ्रमरी इस मोहन मानस के
मुन, मादक हैं रस भाव सभी।
मधु पीकर और मदांधन ही
उड़ जा, बस है अब क्षेम तभी।
पड़ जाय न पंकज बंधन में
निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी।
दिन देख नहीं सकते सविशेष
किसी जन का सुख भोग कभी।"

यह दुर्मिल सवैया है। प्रत्येक चरण में आठ सगण (||S) हैं। इस प्रकार अनेक मात्रिक-वर्णिक छदों का गुप्त जी ने व्यवहार किया है। नवम सर्ग में अन्य विशेषताओं के साथ यह भी है कि वर्णिक वृत्तों का व्यवहार उसी में अधिक हुआ है। नवीन छन्द योजना प्रायः सर्गों के अन्त में मिलती है। ३१ मात्रा से बड़ा कोई छन्द नहीं है और ८ मात्राओं से छोटा भी नहीं।

'साकेत' की भाषा शैली 'प्रिय प्रवास' की तुलना में रखी जा सकती है। हरिऔध ने भी मुहावरों, लोकोक्तियों, अलकारों का सफल प्रयोग किया है, हाँ प्रतीक कम हैं और सन् १६१२ तक हिन्दी का यह प्रभाव था भी नहीं—दूर बगाल में कुछ कुछ लक्षित हो रहा था। वर्णिक वृत्तों का सफल प्रयोग तो 'प्रिय प्रवास' की विशेषता है ही। भाषा शैली के अग उपागों की दृष्टि से 'प्रिय-प्रवास और 'साकेत'—दोनों महाकाव्यों का आधुनिक हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक महत्व है। कवि हरिऔध और गुप्त जी खड़ी बोली और हिन्दी कविता के अग्रदूत हैं, ×



× विशेष देखिए प्रथम भाग अध्याय ११—'शैली का विवेचन'
और " " " १२—'खड़ी बोली के निर्माण में योगदान'

१२—साकेत का महत्व

'साकेत' का प्रकाशन हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण घटना है। एक तो रामभक्ति परम्परा का यह अन्तिम पुष्प है, दूसरे गुप्त जी की पचास वर्षों की काव्य साधना में प्रतिनिधि रचना है और तीसरे हिंदी साहित्य में प्रथम श्रेणी का महाकाव्य है जिसका महत्व ऐतिहासिक होने के साथ साथ काव्यात्मक दृष्टि से भी है। तीनों ही क्षेत्रों में उसका मूल्यांकन करने की यहाँ संक्षिप्त विवेचना है।

पहले राम काव्य की परम्परा में 'साकेत' का महत्व लें। इसका विकास थोड़ा देख लिया जाय तो आँकने में सुविधा होगी। विष्णु की भक्ति अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के प्रायः सभी भागों में प्रचलित रही है। संसार के धर्मों में भी विष्णु प्रधान रहे हैं जिसे भारतेन्दु ने अपने एक लेख में स्पष्ट किया है। सबसे पूर्व ऋग्वेद में विष्णु का उल्लेख है। पुराणों के उपरान्त विष्णु को प्रधानता मिलती गई। उन्हें सर्व व्यापक रूप में प्रतिष्ठित कर ब्रह्मा, महेश व अन्य देवी देवताओं को भी उन्हीं का रूप माना गया। भागवत धर्म के अनुसार स्वयं विष्णु भगवान ने इस धर्म का उपदेश ब्रह्मा को दिया, ब्रह्मा ने नारद को, नारद ने व्यास को—तदनन्तर इसका उत्तरोत्तर लौकिक प्रचार होता गया। मनुष्य की भावनाओं के अनुसार अवतार बढ़ते गए—विष्णु के रूप भी बढ़े जिनमें अत्यधिक प्रचलित व जनप्रिय रूप दो हुए—राम और कृष्ण। दार्शनिक रूप से भी मध्यकाल में इनकी यथेष्ट चर्चा हुई है और साहित्य में भक्ति भाव प्रेरित कविता भी।

एक बात पर ध्यान जाता है कि वैष्णव भक्ति के प्रचार प्रसार में जितना हाथ दक्षिण भारत के विद्वानों का रहा है उतना उत्तर के भक्तों या विद्वानों का नहीं। तत्कालीन परिस्थितियाँ ही इसका प्रमुख कारण मानी जा सकती हैं। हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त उत्तर भारत की एकता टुकड़ों-टुकड़ों में बंट गई, विदेशी आते गए और संघर्षमय जीवन में दार्शनिक तर्क वितर्क, व्याख्या, खण्डन-मण्डन का उतना अवसर नहीं रहता। विदेशी आक्रमणों से तो भक्ति-

भावना ही समाप्त हो रही थी देवी देवताओं पर से विश्वास उठता जा रहा था।* तो यह भक्ति दक्षिण में फलती फूलती रही। आलवार आदि भक्तों ने इसकी सैद्धान्तिक चर्चा भी की। आठवीं सदी में शंकर ने अद्वैत मत का प्रचार किया। ज्ञान की प्रधानता दी, मोक्ष को लक्ष्य बनाया, वैयक्तिक साधना 'विवेक' पर जोर दिया। लगभग दो सौ वर्षों तक तो इसी अद्वैत की प्रधानता उत्तर-दक्षिण में रही—फिर दक्षिण के ही विद्वानों ने उसी 'प्रस्थानत्रयी' (उपनिषद्, गीता, ब्रह्म सूत्र) के आधार पर शांकर अद्वैत का खण्डन आरंभ कर दिया। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी। विष्णु भक्ति का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करने वाले विद्वान हुए। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, निंबार्क आदि। विष्णु को माना सभी ने ब्रह्म है पर निरूपण अलग-अलग पद्धतियों पर किया है बाद में रामानुज के शिष्य रामानंद ने सीता-राम की उपासना चला दी। राम विष्णु के ही अवतार माने गए। महत्व स्वीकार करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने यहाँ तक लिखा है कि—"सच पूछा जाय तो मध्य युग की समग्र स्वाधीन चिंता के गुरु रामानंद ही थे।" ×

संस्कृत साहित्य में रामभक्ति संबंधी पहली रचना है वाल्मीकि रामायण। इसमें चाहे परवर्ती अंश हों पर आने वाले राम कवियों ने किसी न किसी रूप में इसकी सहायता अवश्य ली है। वाल्मीकि के राम एक लौकिक पुरुष हैं—न तो अवतार हैं, न उनका विष्णु से कोई संबंध है। केवल मर्यादा पुरुषोत्तम आदर्श मनुष्य हैं। कवि की खोज ही यह थी कि संसार में गुणवान, धर्मवान पुरुष कौन है! वाल्मीकि ने राम का संकेत किया।

"कोन्वस्मित् सांप्रत लोके गुणवान कश्च वीर्यवान"—की पुकार थी! अन्य कवियों ने राम को धीरोदात्त नायक के रूप में चित्रित किया। 'रघुवंश' 'उत्तर राम चरित' में उन्हीं से संबद्ध कथा है।

यह बताना जरा कठिन है कि राम को अवतारी रूप कब दिया गया। उल्लेख तो सर्व प्रथम 'वायुपुराण' में मिलता है जहाँ उन्हें विष्णु का अवतार कहा गया है पर उसकी तिथि अनिश्चित है। 'अध्यात्म रामायण' के राम तथा ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं। ऐसा मालूम पड़ता है और मेरा तो विश्वास है इस अवतार-वाद का संबंध हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान से होना चाहिए। भारतीय इतिहास में यह समय है शुंगों के शासन का, जिसका पूर्ण

* 'हिन्दी साहित्य'—श्यामसुन्दरदास।

× 'हिन्दी साहित्य की भूमिका—ह० प्र० द्विवेदी।

वकास गुप्त राजाओं के समय हुआ। यदि ईसा की दूसरी-तीसरी सदी इस अवतारी रूप देने की मानी जाय तो अमान्य न होगी क्योंकि जनता की यह प्रवृत्ति धर्म के अन्य रूपों में भी लक्षित हो रही थी। जनता केवल राम कृष्ण को ही अवतारी रूप नहीं दे रही थी अपितु गौतम बुद्ध तक को विष्णु का अवतार बनाने में लगी थी। जो भी हो राम अवतार होकर देवता बन गए! लगभग १०-११ वीं सदी तक उनका यही रूप रहा क्योंकि इस समय की रचना 'भागवत पुराण' में रामभक्ति का उल्लेख व्यापक रूप से हुआ है।

दक्षिण में प्रवाहित भक्ति-धारा को उत्तर भारत में रामानद सीता राम की भक्ति के रूप में ले आए—

"भक्ति द्रावड़ी ऊपजी, लाए रामानंद!"

सारे देश में इन्होंने भ्रमण किया सीताराम की उपासना का प्रचार किया। भक्ति के क्षेत्र में इन्होंने प्रत्येक व्यक्ति का समान स्तर स्वीकार कर लिया था, जाति पाँति का भेद हटा दिया था फलतः निम्न जाति वाले भी उनके शिष्य होते गए रैदास, कबीर, सेन आदि। दो स्त्रियाँ तक उनकी शिष्य परपरा में थीं। इनके अतिरिक्त आनंदानद, सुखानद, सुरसुरानन्द, भावानद आदि भी उनके शिष्य कहे गए हैं। सबकी सख्या १२ मानी गई है। इन सब ने उत्तर भारत के प्रत्येक क्षेत्र-उपक्षेत्र में रामभक्ति पहुँचा दी। स्वय रामानद उपदेशों में जनता की भाषा का प्रयोग करने लगे ये उनका प्रभाव बढता गया। उनका प्रसिद्ध ग्र थ है 'रामार्जुन पद्धति' जो सस्कृत में है। 'वैष्णव मताब्ज भास्कर' भी सस्कृत में है। हिंदी में दो एक पद ही उपलब्ध हैं।

इनकी शिष्य परम्परा में एक ओर तो हुए कबीरदास जिन्होंने राम नाम का मत्र लिया पर उसे निर्गुण-सगुण के ऊपर प्रतिष्ठित किया। कबीर के राम "दशरथ-सुत" होने पर भी अद्वैत के प्रतिरूप हैं—"सगुण निर्गुण तैं परे तहाँ हमारो ध्यान।" वे प्रत्येक स्थान में व्याप्त हैं—

"पुहुप वास तैं पातरा ऐसा तत्त अनूप"

उनकी केवल अनुभूति हो सकती है। उनके स्वरूप में मनामग्न रहना भक्त-साधक का लक्ष्य है। कहीं उन्हें प्रिय के रूप में तथा भक्त को प्रियतमा के रूप में प्रतिष्ठित कर रहस्यात्मक सकेत किए हैं।

रामानन्द की परम्परा में दूसरी ओर रामभक्त कवि हुए गोस्वामी तुलसी-दास। ये इतने कट्टर राम भक्त थे कि प्रत्येक रचना में जीवन भर रामकथा ही गाते रहे। कृष्ण के सामने भी तब मस्तक नवाने को तैयार हुए जब वे धनुष-

वाण ग्रहण करें। स्तुति प्रत्येक देवता की है पर अन्त में माँगी सबसे राम-भक्ति ही है!

"माँगत तुलसिदास कर जोरे,
बसहु रामसिय मानस मेरे।" और—
"जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान न आन।"

जिसके सामने उन्होंने धर्म, अर्थ, काम यहाँ तक कि निर्वाण पद भी ठुकरा दिया।

राम चरित्र का आधार लेकर तुलसी ने मानव जीवन की जितनी पूर्ण व व्यापक समीक्षा की उतनी हिन्दी के किसी कवि ने नहीं। सेव्य-सेवक भाव की भक्ति को ही चरम आदर्श के रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया। स्वय भी कहा है, और पात्रों से भी कहलाया है।

"साहिब सेवल रीति प्रीति परिमित नीति,
नेम को निवाह एक टेक न टरत।" (वि० प०)
"सेव्य सेवक भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।" (मानस)

उन्होंने राम के लोक रक्षक व लोक रंजक रूपों पर विशेष ध्यान देकर समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखा जो मानव समाज का उपकारक हो सके। हिन्दू जनता के लिए वह एकमात्र अवलब हुआ भी। राजनीति में, समाज में, दर्शन में, धर्म में, निर्गुण-सगुण मे, साहित्य में—सर्वत्र समन्वय का आदर्श ही तो तुलसी ने उपस्थित किया है। "सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा" कह कर वैषम्य मिटाया तो "पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी" कह कर राम भक्ति की श्रेष्ठता भी बनाई रखी। बल्कि व्यक्ति राम से उनका नाम ही बड़ा है जिसका जाप कर कोई तो भव सागर पार उतर सकता है। तत्कालीन मत मतांतरों में दिग्भ्रमित मानव जाति को इससे बड़ा आशाप्रद सदेश और कौन देता! रामनाम स्मरण करने की ही वह रामबाण औषधि खोज निकाली कि अजा-मिल जैसे पातकी स्वर्ग पहुँच गए! 'मानस' में राम की रावण पर विजय दिखा कर एक जीवन सदेश भी दे दिया कि सत् पक्ष निरंतर असत् पक्ष पर विजयी होता है।

"भक्ति के दो पक्ष होते हैं--साध्य और साधक। साधक साध्य के महत्व पर श्रद्धा करता हुआ अपनी मनोवृत्ति को स्नेह सिक्त कर साध्य पर श्रद्धा देता है, इसे भक्ति कहते हैं। साधक की पवित्रता और अनन्यता साधना के लिए अपेक्षित है। साध्य का—इष्ट देव का जीवन जितना ही पवित्र और

महत्त्वशाली होगा, साधक में पवित्रता और अनन्यता की भावना उतने ही उत्कर्ष को पहुँची हुई मिलेगी। कहने का तात्पर्य यह कि भक्ति क्षेत्र में इष्टदेव की भावना अपना विशेष महत्व रखती है। तुलसीदास के राम, शक्ति, शील और सौंदर्य के समन्वय थे—संसार के किसी धर्म में इष्टदेव की ऐसी आदर्श भावना नहीं की गई* !"

'रामचरित मानस' के अतिरिक्त तुलसी ने कवितावली, गीतावली, वैराग्य-संदीपनी, विनय पत्रिका, रामलला नहछू आदि रचनाओं में भी रामकथा को ही वर्ण्य वस्तु बनाया है। भक्ति में वे इतने राममय हो गए थे कि वर्णन वही होने पर भी सर्वत्र सौंदर्य, आकर्षण बना रहता है। और सौंदर्य है ही क्या— "क्षणे क्षणे यन्नवता मुपैति तदेव रूप रमणीय ताया !" तुलसी का भाव पक्ष जितना विस्तृत, गहन था उतना ही कलापक्ष प्रौढ, सशक्त भी। भाव और भाषा पर भी इतना अधिकार किसी हिंदी कवि का नहीं मिलता।

तुलसी के समकालीन रामभक्त कवियों में स्वामी अग्रदास, नाभादास प्रधान हैं। अग्रदास जी के गुरु तो पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे पर अग्रदास की रुचि रामकथा की ओर थी। इनकी चार पुस्तकें हैं—(१) हितोपदेश, (२) ध्यानमंजरी (३) राम ध्यान-मंजरी, (४) कुण्डलियाँ। कविता नंददास के ढंग की है—

"कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा,
तिनके निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए,
मुख पंकज के निकट मनो अलि छौना छाए !"

नाभादास की प्रसिद्ध पुस्तक है 'भक्त माल'। व्रजभाषा गद्य में भी 'अष्टयाम' नाम से इनकी एक रचना मिलती है। तुलसी को वाल्मीकि का अवतार कहा है और उन्हीं के पद चिह्नों पर चलते हुए रामकथा का वर्णन किया है। भक्ति-भावना की अपेक्षा कवित्व इनमें कम मिलता है। अवधी भाषा में कुछ दोहा चौपाइयाँ भी रामकथा के संबंध में लिखते रहे। अयोध्या नगरी का वर्णन इस प्रकार है—

"रचित कोट कलधौत सुहावन, त्रिविध रंग मति अति मन भावन।
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा, चतुर बीस जोजन रस रूपा।
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि, मन मय तीरथ परमे सुहावनि।
निगसे जलज भृंग रस भूले, गुंजत जल समूह दोउ कूले !"

* 'रामभक्ति शाखा'—अ० म० शाला।

प्राणचन्द चौहान का नाम भी रामभक्त कवियों में उल्लेखनीय है जिन्होंने 'रामायण महानाटक' की रचना की। नाटक तो यह क्या है, हाँ कथोपकथन नाटकीय अवश्य हैं। न तो अभिनेय हैं, न चरित्रों का उपयुक्त विकास ही। भाषा ठेठ अवधी है। जन साधारण के लिए लिखी गई थी अतः सरल है। शैली जायसी से प्रभावित मालूम पड़ती है।

"काति के मास पच्छ उजियारा, तीरथ पुन्य सोम कर वारा।
ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना, शाह सलेम दिलीपति थाना।
निकसि न सकै मात्रा कर बाँधा, देषहु कमल नाल कै राँधा।
आदि पुरुष बरनौं केहि भाँती, चाँद सुरज कहँ दिवस न राती! ..."

हृदयराम ने स० १६०० में 'भाषा हनुमन्नाटक' की रचना की। इसकी भाषा ब्रज है और परिमार्जित है। नाटक में भी दोष कम हैं। काव्य चमत्कार, सौंदर्य इन्होंने अच्छा प्रदर्शित किया है। संस्कृत में इसी शीर्षक का नाटक गद्य-पद्य दोनों में है पर यह केवल पद्य में है। कवित्त सवैयों का व्यवहार हुआ है। सीता के आभूषणों की पहचान करते समय लक्ष्मण का वर्णन किया है—

"जानकी को मुख न विलोक्यो ताते कुंडल,
न जानत हौं, वीर पाय छुवै रघुराइ के।
हाथ जो निहारे नैन फूटियो हमारे,
ताते कंकन न देखे, बोल कह्यो सतभाई के।
पाँयन के परिवे कौ जाते दास लक्ष्मन,
याते पहिचानत है भूषन जे पाँइ के।
बिछुवा हौं ऐई, अरु झाँझ हैं एई जुग,
नूपुर हौं तेई राम जानत जराइ के।"

इसी समय रायमल्ल पाण्डे ने 'हनुमच्चरित' लिखा जो काव्य की दृष्टि से महत्व नहीं रखता। गोस्वामी तुलसीदास का प्रकाश कुछ ऐसा छाया रहा और इतना व्यापक वर्णन वे कर गए कि परवर्ती सामान्य कवियों के लिए कुछ रहा नहीं। असल में 'सूर सागर' की भाँति 'रामचरित मानस' भी किसी पूर्व परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास मालूम पड़ता है। क्योंकि एकाएक इतनी प्रौढ़ रचना, वह भी सर्व प्रथम—बिना परम्परा के कठिन ही होता है चाहे कवि कितना ही "नाना पुराण निगमागम सम्मत"-क्यों न हो!

रामकथा की दृष्टि से केशवदास की 'रामचन्द्रिका' महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ आलोचक तो आज भी उसके कला-सौंदर्य पर मुग्ध हैं। केशव को प्रेरणा वाल्मीकि से मिली। अतः वाल्मीकि रामायण का प्रभाव तो पड़ा ही, अन्य संस्कृत रचनाओं—प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक, अनर्घ राघव, कादम्बरी, नैवध चरित आदि का भी प्रभाव है। संस्कृत के वे पण्डित थे ही। 'रामचन्द्रिका' ३९ 'प्रकाशों' में विभक्त है। एक प्रकाश में एक प्रसंग है। इसमें घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध मालूम नहीं होता। बीच में आकस्मिक (Dramatic) रूप में कथा प्रवाह बदल दिया गया है। राम परशुराम के संघर्ष में तो स्वयं शिव भगवान को आना पड़ा है! केशव ने प्रायः राम कथा की बड़ी बड़ी घटनाओं को ही स्थान दिया है। दृश्य वर्णनों में वे अलंकारों, क्लिष्ट कल्पना की ओर बढ़ गए हैं। पंचवटी की तुलना धूर्जटी से की तो नदी के वर्णन में श्लेष से चिपक गए—

"विषमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति,
केशव जीवन हार कौं दुःख अशेष हर लेति!"

शरद ऋतु को वृद्धा दासी बना दिया है तो सूर्योदय की तुलना लाल मुख वाले बन्दर तथा कपोल से कर गए हैं। फिर भी उन्हें हृदय-हीन नहीं माना जा सकता क्योंकि जहाँ प्रवृत्ति रमी है वर्णन बड़े, भावपूर्ण हैं हाँ झुकाव चाहे कम हो। विरहिणी सीता का एक सुन्दर वर्णन देखिए—

"धरे एक वेनी मिली मैलि सारी, मृणाली मनो पंक तें काढ़ि डारी।
सदा राम नामै रटै दीन बानी, चहुँ ओर है एक सी दुःख दानी।
असी बुद्धि सी चित्र चितानि मानौ, किधौं जीभ दंतावली में बखानौं।
किधौं घेरि कै राहु नारीन लीनी, कला चन्द्र की चारु पीयूष भीनी!"

रौद्र-भयानक रसों का चित्रण केशव ने सुन्दर किया है। संवादों में बहुत सफलता मिली है। ऐश्वर्य, वैभव की ओर, वाक्-पटुता की ओर प्रधान दृष्टि रही है क्योंकि दरबारी वातावरण भी उसके अनुकूल था। एक ही सवैये में इतने संवाद निभा दिए हैं—

'राम कौ काम कहा?' 'रिपु जीतहिं' 'कौन कबै रिपु जीत्यो कहाँ?'
'बालि बली' 'छल सौं' 'भृगु नंदन गर्व हर्यो' 'द्विज दीन महा'
'दीन सो क्यों?' 'छिति छत्र हन्यो बिन प्रानन हैहय राज कियो'
'है हम कौन?' 'वहै बिसर्यो जिन खेलत ही तुम्हें बाँधि लियो!'

इसमें १० संवाद एक साथ भर दिए गए हैं, पर स्पष्ट हैं।

केशवदास वस्तुतः अलकार प्रिय थे इसलिए क्लिष्टता प्रायः आ गई है और उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है। और छदों की विविधता तो इतनी है मानो उनके निरूपण हेतु ही रचना कर रहे हों! रामचन्द्रिका तो 'छदों का अजायबघर' कही जा सकती है? फिर भी राम-काव्य परपरा में यह प्रसिद्ध रचना है।

'रीतिकाल' में भी रामभक्ति सम्बन्धी काव्य लिखे जाते रहे। सेनापति के इष्टदेव राम थे। अलकार प्रिय होने पर भी इनमें तुलसी की तन्मयता, भक्ति-भावना के दर्शन हो जाते हैं। अनुपम सौंदर्य का वर्णन 'कवित्त रत्नाकर' में देखिए—

"जनक नरिन्द नंदिनी को वदनारविंद,
 सुन्दर वखानों 'सेनापति' वेद चारि कै।
वरनी न जाई जाकी नेक हू निकाई,
 लोक राई करि पंकज निसक डारै मारि कै।
वारवार जाकी वरावरि कौ विधाता अव,
 रचि पचि विधु कौ वनावत सुधारि कै।
पूनो को बनाय जन जरुत न वैसो भयो,
 कुहू के कपट तन डारत विगारि कै।'

'रामरसायन' में सेनापति ने दैय भावना वड़ी मार्मिकता से व्यक्त की है। ससार की नश्वरता, राम की एकमात्र शरण में रक्षा आदि सम्बन्धी विचार स्थान स्थान पर मिलते हैं।

भिखारीदास ने रामकथा का आधार लेकर 'रघुनाथ-नाटक' की रचना की। जितना भाग मिला है उसमें राम के प्रति शृ गारिक भावना का उल्लेख मिल जाता है। यह प्रमाणित करता है कि कृष्ण राधा का लौकिक रूप-वर्णन इतना सामान्य होता जा रहा था कि सीता-राम भी उसके प्रभाव से नहीं बच सके। 'राम पचायतन' का एक वर्णन देखिए—

"वाम और जानकी कृपानिधान के विराजै,
 धरे भुजा अस देखे नृत्य सुखकारी है।
भरत लपन सत्रुघ्न खवावही पान,
 भंवर डुलावै गावै तन को सँभारी है।
अतर अवीर औ गुलाल छूटै चहुँ दिसि,
 देखै सुर कौतुल विमान चढ़ि भारी है।

विप विप देखि कै सुवाँगा रीझि रीझि हँसै,
दास यह औसर की जान वलिहारी है !'

तत्कालीन राजसा विलासी वातावरण में यही काम तो शेप रह गया था कि देवर भाभी को पान खिलाते रहें, इत्र गुलाल उड़ता रहे और अनुनायक सेवक यह कौतुक देखते रहें। वेचारे तुलसी को शायद स्वप्न में भी यह ध्यान न हुआ होगा कि उनके राम सीता की ऐसी हालत हो जाएगी।

रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह सगुण राम के उपासक थे। इस सम्बन्ध में ८ पुस्तकों का उल्लेख होता है—(१) आनद रघुनंदन, (२) गीता रघुनदन शतिका, (३) रामायण, (४) गीता रघुनदन प्रामाणिक, (५) विनय-पत्रिका की टीका, (६) रामचन्द्र की सवारी, (७) आनंद रामायण, (८) संगीत रघुनदन।

महाराज रघुराजसिंह की रामभक्ति सवधी प्रधान रचनाएँ हैं—रामस्वयवर, रामाष्टयाम, आनदा म्बु-निधि आदि। स्वय राजा ने राम के ऐश्वर्य, मृगया का भी सुन्दर वर्णन किया है। सखी सप्रदाय का इन पर बहुत प्रभाव मालूम होता है। सीताराम के झूलने का वर्णन देखिए—

"आवत भीजत दोऊ हो,
सरयू तीर कदंम झुलन हित सखि सव कोऊ हो।
परवत मंद मंद घन कुन्दन चुवत अरुण पट हो,
कै पटुका लै ओट करन कर वे अंचल पट हो।
छहरि छहरि छिति छण छण छण छवि पुनि पुनि दुरति दिशानन हो,
मनु अघात नहिं लखि लखि सिय रघुनंदन आनन हो !'

जानकी रसिक शरण की 'अवधी सागर' रचना में राम कथा ठेट अवधी में कही गई है। सीताराम की शृंगारी चेष्टाओं—रास, नृत्य, विहार आदि का मर्मग्राही वर्णन है।

जनक राजकिशोरी शरण ने भी रामसीता का शृंगारी रूप ही प्रधान रखा है जो कहीं असगत भी हो गया है। इनकी रचनाएँ हैं जानकी शरणा-भरण, राम-रस-तरंगिणी, रघुवर-करुणा-भरण, सीताराम-सिद्धान्त-मुक्तावली आदि।

१६ वीं सदी तक इसी प्रकार की अनेक रचनाएँ राम भक्ति संवधी होती गईं, जिनका रूप विलास पूर्ण ही होता गया। नवलसिंह कायस्थ, प्रतापसिंह, नवीन कवि, रसिक गोविंद आदि राम-कथा-गायन करते रहे। 'श्री रामावतार

भजन तरंगिणी' में तो गुह्य रहस्य व माधुर्य पूर्ण भावना भी प्रविष्ट हो गई है और यहाँ तक अश्लीलता घुस गई है जिसका उदाहरण प० रामचन्द्र शुक्ल ने दिया है—

"हमारे पिय ठाढ़े सरजू तीर,
छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन थे वीर।
मृदु मुसकाय पकरि कर मेरो खैंचि लियो तब चीर,
झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर करन लगे रति धीर।'

मतिराम के लला तो ताक झाँक ही करते रहे—इन रामभक्त कवियों के राम दो कदम और बढकर वहाँ पहुँच गए! जरा मिलाइए तुलसी के सीता-राम से!

आधुनिक हिन्दी काव्य में यह ह्रास-शील राम सबधी कविता बिल्कुल ही छोड़ दी गई। द्विवेदी युग काव्य में पुनरुत्थान का युग था उनके वर्ण्य विषय पौराणिक हुए और राम पुनः मौलिक रूप में प्रतिष्ठित किए गए। अनेक कवि इस ओर प्रवृत्त हुए। भारतेन्दु के पिता ने ही रामकथामृत श्री राम स्तोत्र, श्री रामाष्टक आदि रचनाएँ की और वाल्मीकि रामायण का पद्यानुवाद किया। रामकथा का नया विकास बीसवीं सदी की प्रमुख विशेषता है। मिश्र जी ने 'कौशल किसोर' की रचना की, जोतिसी जी ने 'रामचन्द्रोदय' लिखा। राम-चरित उपाध्याय ने रामचरित चिंतामणि' की रचना की। भाषा आरंभिक खड़ी बोली होने से कहीं कहीं गद्यवत हो गई है। अगद-रावण सवाद आकर्षक हुआ है—

'कुशल से रहना है यदि तुम्हें, दनुज तो फिर गर्व न कीजिए।
शरण मे गिरिए रघुनाथ के, निबल के बल के बल राम हैं!'...
सुन अरे! यम, इन्द्र, कुबेर की, न हिलती रसना मय सामने ..
कुछ नहीं डर है, पर क्यों वृथा, निलज मानव मान बढ़ा रहे!'

'हरिऔध' ने 'वैदेही-वनवास' में राम कथा को आधार बनाया। कृष्ण की भाँति वे राम को भी नरत्व की ओर ले आए हैं। सीता निर्वासन का अंश उन्होंने विशेपतः लिया है जो भवभूति के 'उत्तर राम चरित' के अनुकरण पर है। करुणा को ही उन्होंने भी "एको रस." माना है जो शृगार को भी सहा-यता देता है। उनके मतानुसार तो बिना करुणा के शृगार का पूर्ण रूप निखरता ही नहीं। 'वैदेही वनवास' की भूमिका में इसे स्पष्ट कर दिया है।

१८ सर्ग हैं। आदर्श भावना, राष्ट्रीयता, विश्व प्रेम यहाँ भी सीता में परि-

लक्षित होते हैं। वात्सल्य व प्रकृति-चित्रण का सुन्दर निर्वाह हुआ है। वसंत में वनस्थली का चित्र देखिए—

'कितने पादप लाल लाल कोपल मिले,
ऋतुपति के अनुराग रंग में थे रंगे।
बने मंजु परिधान छाय वहु विटप,
शाखाओं में हरित नवल दल के लगे!'

आरंभ प्रभात वर्णन से हुआ है। राम, क्षमा सहनशील व्यक्ति हैं, उनकी करुणा का सुन्दर निर्वाह हुआ है। अन्त में शांत रस प्रधान हो जाता है। सीता दया-मूर्ति है। बालकों, वृद्धों का क्रन्दन उसे सताता है। जिसे वह भूल कर भी कहीं भूल पाती। 'प्रवास' की उर्मिला की भाँति उसमें भी विश्व कल्याण की भावना जाग उठी है। 'साकेत' की सीता की भाँति पति को ही पत्नी की गति मानती हैं—

"ज्यों ही पति प्रण ने पति-पद-पद्म का,
स्पर्श किया निर्जीव मूर्ति सी बन गई।
और हुए अतिरेक चित्त उल्लास का,
दिव्य ज्योति में परिणत के पल में हुई!'

तब है रामभक्ति का अनुपम ग्रंथ—गुप्त जी का 'साकेत'। वस्तुतः तुलसी के उपरान्त राम-कथा का इतने विशद रूप में वर्णन किसी कवि ने नहीं किया। उनके राम युग के अनुसार सर्व व्याप्त हैं—उनके एकमात्र आराध्य हैं जिनका लक्ष्य है उद्धार, शांति स्थापना। स्वर्ग का संदेश वे नहीं लाते, इसी भूतल को स्वर्ग बनाने आते हैं—

मैं आया जिसमें बनी रहे मर्यादा,
बच जाय प्रलय से मिटे न जीवन सादा!'

आधुनिक काल में रामकथा सम्बन्धी कुछ और रचनाएँ भी हैं 'निराला' ने 'पंचवटी प्रसंग' में लक्ष्मण का शील, सरलता व्यक्त की है—

"कितना सुबोध है
आज्ञा पालन के सिवा कुछ भी नहीं जानता
आता है सामने तो झुका सिर दृष्टि चरणों की ओर रखता है
कहता है बालक इव क्या आदेश माता!'

× × / × ×

माँ की प्रीति के लिए ही चुनता हूँ सुमन दल,
इसके सिवा कुछ भी नहीं जानता
जानने की इच्छा भी नहीं है कुछ ।'

'निराला ने लक्ष्मण को नितांत भोलाभाला बच्चा ही बना दिया है !

'राम की शक्ति पूजा' शीर्षक कविता में नाम का साधक रूप उत्कृष्ट है । वे दुर्गा की पूजा करते हैं और अपने नेत्रों की आहुति देने को तैयार हो जाते हैं । इस वर्णन में बंगाल की शक्ति-उपासना का प्रभाव है—

निशि हुई विगत नभ के ललाट पर प्रथम किरण,
फूटी रघुनंदन के दृग महिमा ज्योति हरण ।
हो नहीं शरासन आज हस्त तूणीर स्कंध,
वह नहीं सोहता निविड़ जटा दृढ़ मुकुट बंध,
सुन पड़ता सिंहनाद रण कोलाहल अपार ।
उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी है ध्यान धार,
क्रम क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस ।
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस "

निराला ने 'तुलसीदास' शीर्षक से एक काव्य भी लिखा है ।

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने एक महाकाव्य और लिखा है—'साकेत-संत' इसमें रामकथा के अन्तर्गत भरत-माण्डवी के वृत्त की प्रधानता की गई है । असल में गुप्त जी के (साकेत) ने ही इसे प्रेरणा दी होगी । इसके भी संवाद वर्णन बड़े सजीव हैं । भरत माण्डवी को 'अवनी का प्यार' कह देते हैं तो माण्डवी उन्हें हृदय में स्थापित कर स्वयं आरती बन जाना चाहती है ।

"तुम्हारे चरणों की ले चाल, चलें अब उस पर बाल मराल ।
तुम्हारे लख अरु अभिराम, कलम का भूल जॉय सब नाम ।
कृपोदरि ! इस त्रिवली का जाल, कहाँ लहरायेगा हिम ताल ।
हृदय की गौरव पूर्ण उमंग, देख उत्तुङ्ग शृंग हो दंग ! '
और इसी प्रकार बातों ही बातों में रात बीत जाती है ।"

इन मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त रामकथा सम्बन्धी अनुवाद भी हुए हैं । सत्यनारायण 'कविरत्न' ने 'उत्तर राम चरित' का अनुवाद किया था ।

रामकथा की इस दीर्घ परम्परा में 'साकेत' का महत्व स्पष्ट है । जिस समन्वय को लेकर तुलसी के राम जीवन में प्रवृत्त हुए थे उसी को लेकर गुप्त जी के राम भी । तुलसी को भी स्मरण कर लिया है—

"तुलसी यह दास कृतार्थ कभी; मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी।
पर एक तुम्हारा पत्र रहे, जो निज मानस कवि कथा कहे!'

'साकेत' में समन्वय भावना सर्वत्र मिलेगी—समाज में भी और व्यक्ति के जीवन में भी। उसका संदेश ही यह है—

'व्यथा रहे पर साथ साथ ही समाधान भरपूर!'
'सखे! समन्वय करो युक्ति या मुक्ति से!'

चरित्रों में मानवीय गुण त्रुटियों का निदर्शन है, राष्ट्रीयता की भावना है और 'साकेत' हमारे जीवन का प्रत्येक पक्ष सामने ला रखता है—राम-रावण युद्ध को ही उन्होंने आर्य-अनार्यों का युद्ध बना दिया है। राम को विजय भारतीय संस्कृति की विजय है—

"आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित आर्य धर्म आश्वस्त हुआ!'

इस प्रकार रामकाव्य परम्परा में इसका महत्व पूर्ण स्थान है। रीतिकाल में जो छुट पुट रचनाएँ हुईं या आधुनिक काल में जो कविताएँ हुईं—इनकी तुलना में नहीं ठहरतीं। तो तुलसी के 'रामचरित मानस' के उपरांत गुप्त जी का 'साकेत' राम-काव्य परम्परा का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य सिद्ध होता है।

गुप्त जी की रचनाओं में भी इसका महत्व है। उन्होंने लगभग ३४ पुस्तकें लिखी हैं जिनमें कई नाटक हैं, कई कथा काव्य, कई खण्ड काव्य, महाकाव्य एक ही है—'साकेत'। पञ्चवटी खण्डकाव्य में भी इतिवृत्त रामकथा का है! काव्योत्कर्ष की दृष्टि से सुन्दर है। लक्ष्मण का वैयक्तिक पक्ष अच्छा निखारा गया है। प्रकृति चित्रण अनुपम है और सीता-लक्ष्मण का हास्य विनोद सुन्दर है जिसमें राम भी भाग लेते हैं। ढलती रात में अकेली बाला को सामने देख कर भी वे विचलित नहीं होते, उन्हें विस्मय होता है जैसे स्कन्दगुप्त को हुआ था—

'तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो; हे रंजित रहस्य वाली!' शूर्पणखा तो अपनी प्यास शांत करने आई है—

'रात बीतने पर है अब तो मीठे बोल बोल दो तुम!'

लेकिन लक्ष्मण 'शांत पाप शांत पाप' चिल्ला उठते हैं।

"हा नारी! किस भ्रम में है तू प्रेम नहीं यह तो है मोह,
आत्मा का विश्वास नहीं यह है तेरे मन का विद्रोह!'

'साकेत' में व्यापक दृष्टिकोण के साथ-साथ 'पञ्चवटी' की विशेषताएँ भी आ

गई हैं। महाकाव्य होने से एक तो गुप्त जी को जीवन पर समग्र रूप से विचार करने का अवसर अधिक मिला है, दूसरे उनकी कविता शक्ति अपने उच्चतम रूप में पहुँच गई है। 'रग में भग' का प्रवाह, 'जयद्रथ वध' के वर्णन 'गुरुकुल' आदि की धार्मिक भावना 'तिलोत्तमा' आदि के नाटकीय तत्व-सवाद, पचवटी का काव्यात्मक सौन्दर्य, 'झकार' की रहस्यानुभूति, गीत भावना 'यशोधरा' की वैयक्तिक विशेषता, 'सिद्धराज' का सा सतुलन एवं भाषा की प्रौढ़ता—सभी कुछ 'साकेत' में एक स्थान पर मिल जायेगा। ३४ रचनाओं में 'साकेत' के अध्ययन से ही मालूम हो जाता है कि गुप्त जी क्या हैं? कैसे कार्य हैं? तथा कार्य रूप में उनका स्थान क्या है क्योंकि उनकी रचना सम्बन्धी सब विशेषताएँ 'साकेत' में अन्तर्मुक्त हो गई हैं। 'साकेत' उस वाणी की तरह ही जिसका स्थान अनेक दानों की माला में सर्वोपरि होता है। गुप्त जी की रचनाओं में 'साकेत' का यह महत्व है। 'साकेत' युग की ही प्रतिनिधि रचना नहीं, गुप्त जी की भी प्रतिनिधि रचना है।

अब लीजिए हिन्दी साहित्य में 'साकेत' का महत्व प्राचीन काल को तो छोड़ दीजिए क्योंकि 'मानस' के उपरान्त वह सर्वोत्कृष्ट रचना है। आधुनिक काल में जो दस-बारह महाकाव्य लिखे गए है उनमें 'साकेत' का स्थान देखना है। ये हैं—

१ 'प्रिय-प्रवास'	—'हरिऔध'
२ 'वैदेही वनवास'	— ,,
३ 'कामायनी'	—जयशकर 'प्रसाद'
४ 'कुरुक्षेत्र'	—रामधारी सिंह 'दिनकर'
५ 'कृष्णायन'	—द्वारिका प्रसाद मिश्र
६ 'साकेत सत'	—बलदेव प्रसाद मिश्र
७ 'सिद्धार्थ'	—अनूप शर्मा
८ 'कुणाल'	—सोहन लाल द्विवेदी
९ 'हल्दी घाटी' + 'जौहर'	—श्याम नारायण पाण्डेय
१० 'नूरजहाँ'	—गुरुभक्त सिंह
११ 'आर्यावर्त'	—मोहनलाल महतो 'वियोगी'
१२ 'रावण महाकाव्य'	—हरदयालु सिंह
१३ 'नल नरेश'	—प्रताप नारायण 'कविरत्न'

इनके अतिरिक्त 'देवार्चन' 'वाल्मीकि' आदि दो चार और भी निकल गए हैं। पिछले वर्ष एक महाकाव्य 'गाँधी चरित मानस' शीर्षक से प्रकाशित हो

गया है जिसका महत्व यह है कि दोहा-चौपाई शैली में गाँधी के जीवन चरित्र को फिट कर दिया है। अर्थात् आज भी चौपाई दोहा 'आउट आफ डेट' नहीं माने जा सकते।

उपर्युक्त महाकाव्यों मे अधिक महत्व पूर्ण दो ही हैं—'प्रिय प्रवास' और 'कामायनी'—जो प्रवृत्तियाँ भावपक्ष कलापक्ष तथा छन्द आदि की दृष्टि से युग प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। इनके साथ ही तीसरा महाकाव्य रखा जा सकता है। 'साकेत'। किसी विशेष क्षेत्र में ये तीनों एक दूसरे से घटबढ कर नहीं है। इनके क्षेत्र ही अलग-अलग हैं। जिस प्रकार सूर-तुलसी की तुलना कुछ समान आधारों पर कर देना तथा एक की दूसरे से छोटा-बड़ा बनाना साहित्यिक आलोचना की दृष्टि में अप्रौढ़, अवस्था का सूचक है उसी प्रकार इन तीन महाकाव्यों का भी 'प्रिय-प्रवास' में चाहे सौष्ठव, माधुर्य अपेक्षाकृत कम मिले पर उसका ऐतिहासिक महत्व दोनों से अधिक है। उच्च अट्टालिका को उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना उसकी नींव को। कृष्ण-राधा की मानवता भी उसमें उत्कृष्ट है। रस सिद्धान्त का पूर्ण निर्वाह है और सँस्कृत वृत्तों को जो प्रमाणित कर देता है कि खड़ीबोली में भी—वर्णवृत्तों का सफल उपयोग हो सकता है 'प्रिय प्रवास' इस दिशा में सबसे बड़ा प्रयोग था। उसे तो खड़ीबोली का पथ निर्देशक Mile Stone—कहना चाहिए।

'साकेत' का अपना महत्व है। पौराणिक होने पर भी वह नवीन महाकाव्य है। भारतीय सँस्कृति का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता आधुनिक युग में बीसवीं सदी के पिछले पचास वर्षों को भी समेट लेता है, प्राचीन लक्षणों के साथ ही नवीन मान्यताएँ भी आत्म सात् कर ली हैं। जैसे गम्भीर महासागर में अधिक धारा-प्रवाह आते हैं, परस्पर टकराते हैं फिर एक होकर समुद्र के अंश बन जाते हैं उसी प्रकार 'साकेत' में अनेक बातें पचा ली गई हैं। विषय भी, सिद्धान्त भी, शैली भी जो कभी-कभी सिर उठाकर पाठकों को अपनी अलग झाँकी लिखती रहती हैं।

'कामायनी' छायावाद की सर्वोत्कृष्ट रचना तो है ही, युग की प्रतिनिधि रचना भी है। जिसमें महाकाव्य के पूर्वी-पश्चिमी सिद्धान्त आ गए हैं। कथावस्तु भी प्रख्यात है, प्रसाद की मौलिकता भी है। कथा के साथ साथ मानव प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर विकास भी दिखाया है। श्रद्धा इड़ा जितनी पात्र हैं उतनी ही मूल प्रेरणात्मक प्रवृत्तियाँ भी। मनु जितने मनुष्य है उतने मन के प्रतीक भी। मनु श्रद्धा का योग बुद्धि-हृदय पक्षों का योग भी है! अतः ऐतिहासिक वृत्त

साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करता चला आ रहा है। ऐसा समन्वय किसी महाकाव्य में नहीं हुआ। भाषा शैली में तो वह प्रतिनिधित्व करता ही है।

जहाँ तक कवियों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का प्रश्न है—'साकेत' 'कामायनी' एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। प्रसाद अपने जीवन में समरसता-जन्य जिस आनन्दवाद के पक्ष में थे चाहे उसका आधार कुछ और रहा हो—गुप्त जी अपनी वैष्णव भक्ति द्वारा चरम सुख शान्ति के लिए उसी समन्वय की घोषणा करते हैं। प्रबन्ध काव्यत्व की दृष्टि से जितना ध्यान लक्षणों का नवीनता का प्रसाद ने रखा है उतना ही गुप्त जी ने भी। प्रसाद ने वस्तु-निर्वाचन, अलकरण, छ्द विधान में अपनी मौलिकता का अवसर व स्थल निकाल लिया है। अन्तर दोनों महाकवियों में केवल इतना है कि गुप्त जी जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही सत्य-सौन्दर्य का दर्शन करने वाले हैं, उन्होंने अपने राम को इसी धरती के मैदान में सघर्ष के बीच खड़ा किया है जब कि प्रसाद ने मनु को श्रद्धा सहित कैलाश पर्वत के उत्तु ग व एकान्त शिखिर पर बैठा दिया है जहाँ से सर्वत्र आनद ही आनद दृष्टिगत होता है।

वस्तुतः 'प्रिय प्रवास' 'साकेत' और 'कामायनी' वे स्फटिक शिलाएँ हैं, जिन पर आधारित होकर खड़ी बोली हिन्दी काव्य की अट्टालिका दिन प्रति दिन ऊँची तथा विस्तृत होती जा रही है।

'साकेत' का महत्व एक दृष्टि से और है। साहित्य में परपरा की दृष्टि से। उसने एक विस्तृत परपरा का समाहार तो किया ही, पथ प्रदर्शन भी किया। इससे प्रेरणा लेकर 'साकेत-सन्त' का निर्माण हो गया। तुलसी ने राम-सीता का वृत्त लिया, गुप्त जी ने लक्ष्मण-उर्मिला के वृत्त को केन्द्र बनाया—यहाँ मिश्र जी ने भरत माण्डवी को प्रधानता दे दी। जब उर्मिला उपेक्षित रही तो माण्डवी उपेक्षित क्यों रहे? भरत का त्याग न तो राम के त्याग से कम है न लक्ष्मण के त्याग मे। तब उसे नायक बनाकर महाकाव्य क्यों न लिखा जाय? वे भी तो १४ वर्ष तक सत जीवन व्यतीत करते हुए नगर के बाहर पर्णकुटी में निवास करते रहे, पत्तलों में खाते रहे और घास पर सोते रहे। उनका महत्त्व तब क्या कम है? बस कवि-कल्पना के लिए इतना यथेष्ट है—'साकेत-सत' की रचना हो गई।

'साकेत' का इस पर बहुत प्रभाव है। उर्मिला की भाँति माण्डवी को प्रधानता मिली है। लक्ष्मण की तरह भरत उसके उपासक हैं। सौंदर्य वर्णन

एकसा है ! वार्तालाप में माण्डवी भी कम नहीं। उतनी ही चत्राणी भी है। रण-स्थल में साथ देने वाली है। लक्ष्मण ने कहा था—"वलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर" तो यहाँ भरत कहते हैं—"तुम्हें कह दूँ अवनी का प्यार !" उर्मिला मानस मन्दिर में पति की प्रतिमा थाप कर विरह में जलती हुई स्वयं आरती बन गई थी तो यहाँ माण्डवी कहती है—

"और मैं ! तुम्हें हृदय में थाप बनूँगी अर्घ्य आरती आप !"

इसी प्रकार की बातों ही बातों के विनोद में दोनों की मधुर-मधुर रातें बीत जाती हैं। 'साकेत' को इस प्रकार फल भी कहा जा सकता है और फूल भी। देखना चाहिए अब कौन महाकवि शत्रुघ्न-श्रुतकीर्ति का इतिवृत्त लेकर इस चतुर्भुजी परम्परा में नया महाकाव्य तैयार कर डालते हैं।

तो संक्षेप में साकेत का महत्व इतनी दृष्टियों से है—

(१) राम काव्य परपरा की दृष्टि से।

(२) युग के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से।

(३) कवि की प्रतिनिधि रचना की दृष्टि से।

(४) समन्वय की दृष्टि से।

(५) आधुनिक हिन्दी साहित्य में महाकाव्य की दृष्टि से और,

(६) पथ-प्रदर्शक की दृष्टि से।



१३—काव्य का अंधकार पक्ष

नीर क्षीर का विवेचन तो हंस ही कर सकता है फिर भी अपनी दृष्टि से थोड़ा-बहुत सभी कर लेते हैं। गुप्त जी के आलोचकों में इतना अवश्य है कि न तो उन्होंने केवल प्रशंसा की है और न त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ देखी हैं। विस्तृत क्षेत्र में काव्य रचना करने पर भूलचूक हो जाना, कोई दोष दीख जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। प्रबन्ध-काव्य में तो संभावना अधिक ही रहती है। यदि कवि को काव्य रचना के अतिरिक्त उपयुक्त भाषा का निर्माण भी करना पड़ा तब तो उसका उत्तरदायित्व और बढ़ जाता है। गुप्तजी की इतनी रचनाओं में या 'साकेत' में कुछ आपत्तिजनक स्थल मिल जायँ तो अपवाद स्वरूप ही समझना चाहिये। सफल कविता की सबसे बड़ी कसौटी लोक हृदय है अर्थात् लोग कह दें—हाँ सत्य कहा है! कहना न होगा कि गुप्त जी इस दृष्टि से सर्वाधिक जनप्रिय कवि रहे हैं। जितना प्रचार उनकी रचनाओं का अभी तक है उतना और किसी हिन्दी कवि का नहीं। मेरा विचार है कि ३८ तक संस्करण किसी अन्य कवि की रचना के नहीं हुए हैं। 'जयद्रथ वध' ३८ वाँ संस्करण 'भारत भारती' का २४ वाँ संस्करण 'सिद्धराज' का १२ वाँ संस्करण हमारे सामने है।

कविता की भाषा में गद्य से कुछ अन्तर तथा हेरफेर क्यों हो जाता है इसका विवेचन अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'प्रिय प्रवास' की भूमिका में बहुत सुन्दर रीति से किया है। मैं सोचता हूँ उनका मत उन्हीं के शब्दों में यहाँ देना अनुचित न होगा। उन्होंने लिखा है—

"· ···कारण यह है कि छंद के नियम में बँध जाने से ऐसी अवस्था प्रायः उपस्थित हो जाती है कि जब उसमें शब्दों को तोड़-मरोड़ कर रखना पड़ता है, या उसमें कुछ ऐसे शब्द सुविधा के लिए रख देने पड़ते हैं जो गद्य में व्यवहृत नहीं होते। यह हो सकता है कि जो शब्द तोड़-मरोड़ कर रखना पड़े वह या गद्य में अव्यवहृत शब्द कविता में से निकाल दिया जावे, परन्तु ऐसा करने में बड़ी भारी कठिनता का सामना करना पड़ता है और कभी-कभी तो यह

दशा हो जाती है कि ऐसे शब्दों के स्थान पर दस शब्द रखने से भी काम नहीं चलता इसलिए कवि उन शब्दों को कविता में रखने के लिए बाध्य होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि उन शब्दों के पर्यायवाची दूसरे शब्द उसी भाषा में मौजूद होते हैं और यदि वे शब्द उन शब्दों के स्थान पर रख दिए जावें तो किसी शब्द को विकलांग बनाकर या गद्य में अव्यवहृत शब्द रखने के दोष से कवि मुक्त हो सकता है। परन्तु लाख चेष्टा करने पर भी कवि को समय पर वे शब्द स्मरण नहीं उठते और वह विकलांग अथवा गद्य में अव्यवहृत शब्द रख कर ही काम चलता है और यही कारण है कि गद्य की भाषा से पद्य की भाषा में कुछ अन्तर होता है।

"कवि कर्म बहुत ही दुरूह है। जब कवि किसी कविता का एक चरण निर्माण करने में तन्मय होता है तो उस समय उसको बहुत ही दुर्गम और सकीर्ण मार्ग में होकर चलना पड़ता है। प्रथम तो छद की गिनी हुई मात्रा अथवा गिने हुए वर्ण उसका हाथ पाँव बाँध देते हैं, उसकी क्या मजाल कि वह उसमें से एक मात्रा घटा या बढ़ा देवे, अथवा एक गुरु को लघु के स्थान पर या एक गुरु के स्थान पर एक लघु को रख देवे। यदि वह ऐसा करे तो वह छद रचना का अधिकारी नहीं। जो इस विषय में सतर्क होकर वह आगे बढ़ा तो हृदय के भावों और विचारों को उतनी ही मात्रा व उतने ही वर्णों में प्रकट करने का झगड़ा सामने आया। इस समय जो उलझन पड़ती है उसको कवि हृदय ही जानता है। यदि विचार नियत मात्रा अथवा वर्णों में स्पष्टतया प्रकट न हुआ तो उसको यह दोष लगा कि उसका वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं यदि कोमल वर्णों में वह स्फुटित न हुआ तो कविता श्रुति कटु हो गई। यदि उसमें कोई घृणा व्यजक शब्द आ गया तो अश्लीलता की उपाधि सिर पर चढी, यदि शब्द तोड़े मरोड़े गए तो च्युत दोष ने गला दबाया, यदि उपयुक्त शब्द न मिले तो सौ सौ पलटा खाने पर भी एक चरण का निर्माण दुस्तर हो गया, यदि शब्द यथा स्थान न पड़े तो दुरान्वय दोष ने आँखें दिखाई। कहाँ तक कहें, ऐसी कितनी बातें हैं जो कविता रचने के समय कवि को उद्विग्न और चिंतित करती हैं..........

"यदि कवि कर्म इतना कठोर न होता तो कवि कुल गुरु कालिदास जैसे असाधारण विद्वान और विद्या बुद्धि निधान 'त्रयम्बकम सचमिनं ददर्श'—इस श्लोक खण्ड में 'त्र्यम्बकम्' के स्थान पर 'त्रयम्बकम्' न लिख जाते जो कि 'त्र्यम्बकम्' का अशुद्ध रूप है। यदि इस 'त्रयम्बकम्' के स्थान पर 'त्रिलोचनम्'

लिखते तो कविता सर्वथा निर्दोष होती, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया जिससे यह सिद्ध होता है कि कविता करने के समय बहुत चेष्टा करने पर भी उनको यह शुद्ध और कोमल शब्द स्मरण नहीं आया और इसी से उन्होंने एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया जो च्युत दोषसे दूषित है। • कवि किसी भाषाहीन शब्द को यथा शक्ति तो रखता नहीं, जब रखता है तो विवश होकर रखता है जिसकी रचना अधिकाश सुन्दर है, जिसके भाव लोक विमुग्ध कर और उपकारक हैं उसकी रचना में यदि कहीं कोई दोष आ जावे तो उस पर कौन सहृदय दृष्टिपात करता है, और फिर दृष्टिपात करता है तो वह सहृदय नहीं।"*

इस स्थिति में केवल गुप्त जी की रचनाओं से ही नहीं, प्रत्येक कवि की रचनाओं से दोष खोजे जा सकते हैं। अब चलती दृष्टि से विचार कर लिया जाय।

जहाँ तक प्रबन्ध काव्यों में कथा-वस्तु के निर्वाह का सम्बन्ध है। गुप्त जी की रचनाओं, उनके शीर्षकों में कोई त्रुटि मालूम नहीं देती। आरभिक रचनाओं में 'बक सहार' अवश्य ऐसी रचना है जिसमें सहार का अवसर आते आते पुस्तक ही समाप्त हो जाती है अन्यथा 'जयद्रथ बध' में 'पचवटी' में या परवर्ती रचनाओं 'यशोधरा', 'सिद्धराज' आदि में घटना निर्वाह बहुत सतुलित तथा एक केन्द्रीय हुआ है। 'साकेत' में अवश्य कुछ त्रुटि माननी पड़ेगी। मुख्य-कथा लक्ष्मण-उर्मिला की होने पर भी ऐसा मालूम होता कि कवि निश्चय नहीं कर पाया इनको प्रधानता दे या राम सीता के इतिवृत्त को। अन्यथा लक्ष्मण-उर्मिला की रूप-रेखा अधिक उभारता और लक्ष्मण का स्वतत्र व्यक्तित्व दिखाता। दो तीन स्थलों पर लक्ष्मण का सिर उठाना स्वतत्र व्यक्तित्व का परिचायक नहीं, आवेश का परिचायक है। व्यक्तित्व तो उनका निरतर दास रहने में है।

माना कवि लक्ष्मण-उर्मिला को प्रधान केन्द्र बनाना चाहता था, तो राम-सीता का इतिवृत्त ही हटा देता। मैं यह नहीं कहता कि कवि उसे हटा ही देते वह तो उनके राम को शायद स्वीकार न होता—पर उनका वर्णन कम किया जा सकता था तथा इन्हें और उठाया जा सकता था। 'साकेत-सत' में पूर्णतः भरत-माण्डवी केन्द्र हैं—कहीं भी वस्तु विरोध नहीं हुआ। 'साकेत' में गुप्त जी का राम-सीता के प्रति मोह उन्हें भी वर्ण्य वस्तु के अन्तर्गत लाना चाहता है

* "हरिऔध"

तथा उर्मिला-लक्ष्मण को भी उपेक्षित नहीं रखना चाहता। इनकी काव्य कल्पना को कभी इस ओर झुकाता है, कभी उस ओर। हुआ यह है कि दोनों कथा-वस्तुएँ बराबर प्रधान मालूम पड़ती हैं और आलोचकों के लिए बड़ा कठिन हो जाता है 'साकेत' की आधिकारिक वस्तु क्या है? तब कोई कहता है। 'साकेत' में उर्मिला उपेक्षित ही रही लेकिन कवि ने अपने श्रद्धाश्रु उसको अर्पित कर ही दिए; कोई कहता है दशम-एकादश सर्ग प्रबन्ध की टूटी हुई टाँगों की तरह प्रतीत होते हैं; कोई कहता है। 'नवम सर्ग तक तो इतनी मथरता है कि पाठक को प्रवाह का ज्ञान ही नहीं होता जबकि अन्त में दनादन घटनाएँ होती हैं—

(१) "आर्या को खाने आई वह गई कटा कर नासा कर्ण"......
(२) "थोड़े समय में वृत्तांत सुनो अब खर दूषण संहारी का"...
(३) "गया जटायु इधर सुरपुर को उधर दशानन लंका को"...
(४) "कर जटायु संस्कार बीच में दोनों ने निज पथ पकड़ा"...
(५) पार किया मकरालय मैंने उसे एक गौष्पद सा मान"......
(६) "तब लंका पर हुई चढ़ाई सजी ऋच्छ वानर सेना"......

ये सब घटनाएँ केवल एक सर्ग—'एकादश सर्ग' में हुई है और द्वादश सर्ग के उत्तरार्ध में लक्ष्मण का सचेत होना, मेघनाद का यज्ञ व मृत्यु, सीता की चिन्ता, राम का लौटना, नगर वासियों द्वारा स्वागत, लक्ष्मण-उर्मिला का मधुर मिलन—इतनी घटनाएँ एकत्र कर दी गई हैं। स्पष्ट है कि कवि न तो राम को छोड़ना चाहता है, न उनसे सबद्ध घटनाओं को प्रधानता देना चाहता है। बीच बीच में अवसर प्राप्त होने पर स्वय तथा अन्य पात्रों द्वारा उर्मिला का स्मरण भी कराता रहता है—यही द्विविध दृष्टि 'साकेत' की कथा-वस्तु में बाधक सिद्ध हुई है और इस त्रुटि की ओर प्रत्येक आलोचक ने सकेत किया है। गुप्त जी ने एक पत्र में 'प्रभु' का आतंक स्वीकार भी किया है—"सख्य भाव की उपासना में दीक्षित होते हुए भी मानस के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता है। उनकी मित्रता मानो राजा की मित्रता है जो हाथी पर चढ़ाते चढ़ाते शूली पर भी चढा सकती है। इसलिए मुझे उनसे डर लगा रहता है। वह अभ्यस्त भय 'साकेत' में भी नहीं छूटा और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना है!"

इस कारण प्रबन्ध के वस्तु निर्वाह में क्या असंगति उत्पन्न हुई है इसे 'गिरीश' जी के शब्दों में देखिए—

"किन्तु जहाँ कवि ने वीरवर लक्ष्मण को महत्ता प्रदान करने की उचित चेष्टा की है वहाँ उनके प्रकृत क्रोधी स्वभाव की रक्षा भी उसे करनी ही पड़ी है, उनके चिर परिचित मूल स्वरूप में साधारण से अधिक पार्थक्य कर देने से एक दूसरे ही पात्र की सृष्टि हो जाती और शायद कवि को वह सौदा बहुत मँहगा पड़ता, पाठकों से बहुत कुछ खरा खोटा सुनना पड़ता। किंतु वास्तव में 'साकेत' के कथानक की कल्पना के मूल में ही त्रुटि हो गई है। कवि ने इस बात को भुला दिया है कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, एक जगल में दो शेर नहीं रह सकते, एक महाकाव्य में दो महत्वारियों की प्रतिष्ठापना नहीं हो सकती। साकेत-कार ने लक्ष्मण को 'साकेत' का नायक तो बनाया है (मेरा मतभेद है) किन्तु साथ ही पग पग पर उन्हें रामचन्द्र जी का आश्रित भी बना दिया है। लक्ष्मण का त्याग तो ऊँचा है, किन्तु उनका क्रोध महाकाव्य के उपयुक्त सदेश लेकर हमारे सामने उपस्थित नहीं होता; ऐसी तुनुक मिजाजी, ऐसी झुँझलाहट जो बात बात में बौखला हट पैदा कर दे, किस काम की? इसे जाने दीजिए, लक्ष्मण के क्रोधी स्वभाव के साथ भी हम समझौता कर लेते किन्तु यह उस अवस्था में ही सम्भव हो सकता था जब लक्ष्मण ही की सत्ता महाकाव्य में सर्वत्र दिखाई पड़ती। 'रामचरित मानस' में रामचद्र जी की सत्ता आरम्भ से लेकर अन्त तक देखने में आती है, लक्ष्मण उनके सहायक मात्र हैं, पाठक के सामने एक विराट मानव चित्र प्रस्तुत कर दिया गया है। उसमें से वह जीवन की समस्त समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त सामग्री का सचय कर सकता है। किन्तु 'साकेत' में यह बात सभव नहीं बनाई गई। हमारे सामने लक्ष्मण के चरित्र से कहीं अधिक ऊँचा रामचन्द्र जी का चरित्र रख दिया गया है, ऐसी अवस्था में हमें जो कुछ सीखना होगा, रामचन्द्र जी ही के चरित्र से सीखेंगे। फिर लक्ष्मण की क्या उपयोगिता रह गई? क्या रामचन्द्र जी के चरित्र-विकास में सहायक के रूप में? किन्तु उस अवस्था में लक्ष्मण इस महाकाव्य के नायक किस प्रकार हो सकेंगे? जो हो, साकेतकार ने किया यही है, उन्होंने रामचन्द्र जी के विकास ही के लिए लक्ष्मण का भी उपयोग कर डाला है ...

"गुप्त जी पर अपने 'प्रभु' का जो आतक सदा से रहा है, उसने उन्हें 'साकेत' में भी भयभीत बनाए रक्खा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। राजा के सामने विनीत भाव रखना तो ठीक ही है, किन्तु उसका अधिकार केवल कर लेने भर का है, उसे देकर राजभक्त प्रजा सुख की नींद सो सकती है। राज-भक्ति का यही प्रकृत स्वभाव है, यह नहीं कि किसी अन्य के अधिकारों को

बल पूर्वक छीन कर राजा के हस्तगत कर देना। 'साकेत' में गुप्त जी ने यही किया है। उन्होंने लक्ष्मण के अधिकारों का बलिदान कर दिया है। गुप्त जी ने ऐसा करने में कलाकार की बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया है, क्योंकि कहना तो चाहिए वास्तव में लक्ष्मण जैसे फौजी आदमी से, न कि श्री रामचन्द्र जैसे एक गंभीर शांत चित्त राजा से* ।...."

इसी तरह 'जयद्रथ वध' के चतुर्थ सर्ग में वैकुण्ठ की झाँकी दिखाना आवश्यक नहीं था—हाँ वर्णन अजीब सुन्दर है।

पात्रों का स्वरूप-वर्णन लीजिए। उपर्युक्त पुस्तक में कृष्ण की स्तुति युधिष्ठिर द्वारा कराई गई है। दो तीन पृष्ठों का कार्य दो एक छन्दों में हो सकता था। 'साकेत' में भी चरित्र-चित्रण की व्यवस्था कम है। राम को लीजिए। कहते हैं—

"संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया !'

ठीक है उनका जीवन लक्ष्य है इसी पृथ्वी से दुःख वैषम्य हटा कर शांति सुख, चिर-आनंद की व्यवस्था करें। उनका अवतार इसी हेतु हुआ। फिर आगे कहते हैं—

'जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे
वे भी भव सागर बिना प्रयास तरेंगे !'

तब संसार के प्राणियों को भव सागर पार उतारने की क्या आवश्यकता थी ! जब यह धरती ही स्वर्ग हो जाएगी, चिरंतन आनंद हो जाएगा, जन्म मृत्यु के बन्धन कट जाएँगे तब भव सागर के पार दूसरे लोक में जाने की कामना क्यों हो ? इसका तात्पर्य हुआ राम लोगों को पार उतारने के लिए आए हैं—यहाँ स्वर्ग बसाने के लिए नहीं। यह विरोधात्मक बात है। इसका मूल कारण है कवि द्वारा राम के दोनों रूप बनाए रखना—अवतारी रूप भी, आदर्श मानव रूप भी। हुआ यह कि उनका रूप पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुआ। यदि साधारण जनता इन्हें अवतार मानती है उनके कार्य भगवान के कार्य हुए—मनुष्य कैसे भगवान की तरह कार्य कर सकता है ? उनका अनुसरण नहीं हो सकता। यदि उन्हें आदर्श पुरुष मान कर कार्यों की ओर संलग्न होने का प्रयत्न किया जाय तो कवि की भावना बाधक होती है वे तो भगवान हैं।

* 'गुप्त जी की काव्य धारा'।

सैद्धान्तिक रूप मे ईश्वर का अवतार पथ-प्रदर्शन अवश्य कर सकता है पर व्यवहारिक रूप से नहीं कर सकता। मनुष्य मनुष्य से जितनी आत्मीयता स्थापित कर सकता है या अपने जीवन में उसके गुणों का अनुसरण कर सकता है उतना किसी आधि दैनिक शक्ति का नहीं। यही कारण है कि हम तुलसी के 'राम' की अपेक्षा वाल्मीकि के 'राम' को अपने अधिक निकट पाते हैं और इसी कारण गुप्त जी के 'राम' की अपेक्षा हरिऔध के 'कृष्ण' को अधिक अनुकरणीय समझते हैं। प्रो० धर्मेन्द्र ने ठीक लिखा है "किन्तु 'साकेत' के राम आर्त-मानव हैं। 'हरिऔध' और गुप्त जी में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम ने अपने आराध्य देव श्री कृष्ण को मानवता की कोटि में रखा है, उन्हें अधिक से अधिक "नृरत्न" की उपाधि दी है, वहाँ द्वितीय ने अपनी परंपरागत अवतार-भावना को अक्षुण्ण रखा है। हरिऔध के परिवर्तित मत के अनुसार 'अवतार' ईश्वर के मनुष्य तक उतरने की मध्यम कड़ी (middle link) नहीं है बल्कि मनुष्य के ईश्वर तक पहुँचने की। अर्थात् मनुष्य होते हुए जो आदर्श चरित्र का चरम रूप दिखला सके, वही 'अवतार' है, वही ईश्वरत्व के पथ पर अग्रसर है। किन्तु गुप्त जी के राम वस्तुतः ईश्वर हैं और लीला के उद्देश्य से भूतल पर अवतीर्ण हुए हैं

'माना कि 'साकेत' के राम ने इस मर्त्य लोक को पुराय लोक बनाने की ठानी थी''''किन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भगवान को अपने सातवें आसमान से उतारना अनिवार्य है? क्या मानव विभूतियाँ ऐसा करने में असमर्थ हैं?' किन्तु प्रश्न यह है कि क्या नर को ईश्वरता प्राप्त करने के लिए किसी ईश्वर का अपना ईश्वरत्व त्याग कर अवतार लेना अनिवार्य है? गुप्त जी का कहना है 'हाँ, हरिऔध जी कहेंगे 'नहीं'?'''पुरुषोत्तम से अभिप्राय हैं साक्षात् ईश्वर से अथवा अधिक से अधिक ईश्वर के अवतार से। लक्ष्मण ही के समान हम 'प्राकृत पुरुष' इस ऊँचाई तक पहुँचने में सर्वदा और सर्वथा असमर्थ ही रहेंगे।'❀

इसी प्रकार राम-सीता के प्रति पक्ष पात ने लक्ष्मण-उर्मिला का स्वरूप प्रस्फुटित नहीं होने दिया। उर्मिला को तो बस रुलाया गया है जैसे 'साकेत' में उसका जन्म ही रोने को हुआ हो 'गिरीश' का तो कहना है बेचारी उर्मिला के हाथ में एक फूटी टीन दे दी गई है जिससे बेसुरी आवाज निकलती है! सीमा व औचित्य का अति क्रमण बाधक होने लगता है। इतनी कुशल है कि

❀ 'गुप्त जी के काव्य की कारुण्य-धारा'

गुप्त जी उस सीमा तक नहीं ले गए कि किसी आलोचक को—' अनौचित्यादृते नान्यद् रस भगस्य कारणम्—' की घोषणा कर देनी पड़ती !

'उर्मिला का अतिरुदन तो सर्व प्रत्यक्ष है। नवम् और दशम सर्गों के कुल के कुल लगभग सवा सौ पृष्ठ उर्मिला के ही आँसुओं से गीले हैं। हमारा अनुमान है कि कारुण्य का अतिशय भी कारुण्योत्पादन का बाधक होता है। उचित आयाम में करुणा जनक दृश्य का वर्णन हमारी हृतंत्री को झंकृत प्रति झंकृत करके हमें उसकी अनुभूति के लिए जागरूक बनाए रखना चाहता है। किन्तु यही वर्णन यदि अति विस्तृत हो जाय तो हमारी भावुकता पर पहले तो ठेस लगेगी, किन्तु पीछे उसकी चेतना मंद पड़ जाएगी। 'साकेत' के नवम सर्ग में भी हमारी भावुकता इसी प्रकार क्रमशः शिथिल होती जाती है और ऐसा भान होने लगता है मानो रंग बिरंगे छन्दों की प्रदर्शनी का साधन बनाया गया हो उर्मिला-विलाप। नवम के बाद जब दशम में भी हम आँसू के ही प्रवाह देखते हैं तो यह निश्चय हो जाता है कि कवि को इतने रुलाने से भी संतोष नहीं हुआ। उसे तो यह गर्व है कि उर्मिला के विरहानल में तप्त होकर उसका काव्य-कंचन चमक उठा है।+

'यदि कवि ने इस विषाद, इस रुदन की दिशा में परिवर्तन कर दिया होता, इसे उपस्थित आदर्श की सेवा में नियोजित कर दिया होता तो व्यक्तिगत स्वार्थ और संकीर्णता की बाधा से मुक्त होकर वह निस्संदेह मुक्त हो उठता और उस स्वर्गीय विषाद को हम असंदिग्ध रूप से उसी विषाद का समकक्ष स्वीकार कर सकते जिससे पीड़ित होकर मुक्त, अनासक्त लोक के देवता हमारे स्वार्थ मय, मर्त्य लोक के अवसाद-शमनार्थ अवतीर्ण होने के लिए बाध्य होते हैं। अपने वर्तमान रूप में उर्मिला प्रस्तुत आदर्श की सीध में उसके साथ साथ पैर नहीं बढ़ाती, उसके लटपटाते हुए चरण आगे की ओर घिसटते हुए चलते हैं। उसकी यह दशा देखकर हमें उसके ऊपर दया तो आती है, किन्तु श्रद्धा नहीं होती।'*

इसी प्रकार आलोचक का कहना है—'गुप्त जी ने दशरथ के चरित्र-चित्रण में यथेष्ट परिश्रम नहीं किया। दशरथ के पुत्र वियोग को सामने लाकर वर्तमान भारत के प्रचलित आदर्श और लोकमत की तृप्ति करने का एक बहुत अच्छा अवसर उनके हाथ में था, किन्तु उन्होंने उसका ठीक उपयोग नहीं किया।

+ 'गुप्त जी के काव्य की कारुण्य धारा'

* गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

शुद्ध कला की दृष्टि से भी दशरथ का यह चित्रण ठीक नहीं क्योंकि दशरथ की यह दुर्बलता भी 'साकेत' की काव्य-कला के विकास के लिए कोई उपकरण नहीं उपस्थित करती; वह मूल प्रवाह से छिन्न भिन्न होकर एक गँदले गढ़े की तरह मलिन और अरुचिकर हो जाती है।[१]" ऽ

ऐसी ही स्थिति कुछ अन्य पात्रों की भी है ! अब लीजिए कथोपकथन। गुप्त जी को इनमें केशवदास की भाँति सफलता मिली है। लेकिन कहीं इनकी योजना कथा प्रवाह में बाधक भी हुई है। उदाहरणार्थ 'जयद्रथ वध' के अष्ठ सर्ग में जयद्रथ-कुरुराज का सवाद या युधिष्ठिर सालकी का सवाद पचम सर्ग में देख लीजिए। मृत्यु के समय अभिमन्यु द्वारा पाप-पुण्य वीरत्व आदि की व्याख्या है तो स्वाभाविक पर अनुपयुक्त है। मृत्यु के समय पात्र छटपटाता है, रोता है। भीष्म की तरह सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं करता। संवादों का सर्वोत्कृष्ट निर्वाह बिना किसी दोष के यदि गुप्त जी को किसी रचना में हुआ है तो वह रचना है 'सिद्धराज'। 'साकेत' भी नहीं।

'साकेत' में भी पात्रों के लम्बे-लम्बे उद्गार या तर्क-वितर्क सर्वत्र प्रवाह में सहायक नहीं हैं। कहीं तो वर्णन भी बाधा उपस्थित करते हैं। जावालि-राम का सवाद चाहे दोनों की बौद्धिक शक्ति, नीतिमत्ता पर प्रकाश डाले लेकिन अवसरानुकूल नहीं है। हनूमान द्वारा राम कथा सुनाने का कार्य लिया गया है जो ऐसा प्रतीत होता है मानो वे सब काम-धाम भूल कर आराम से बैठे हुए हों और जब एकाएक यह कहते हुए जागते हैं—

'चौंक वीर उठ खड़ा हो गया पूँछा उसने—'कितनी रात ?'
'अर्द्ध प्राय' कुशल है तब भी अब भी है वह दूर प्रभात।'

तो बरबस हँसी आने लगती है। अब तक का बेखबर कथा सुनाने में तल्लीन रहे, अब कवि ने देखा शेष वर्णन वशिष्ठ के चमत्कार द्वारा दिखाना चाहिए तो चौंका कर उठा दिया !

कुछ स्थलों पर पिष्टपेषण भी है। 'आनन्द तरगे कलरवे' गगा की स्तुति ऐसी ही है। यहाँ एक सुन्दर गीत की योजना हो सकती थी। कुछ स्थलों पर ऐसा लगता है कि केवल कथा के लिए कथोपकथन रक्खे गए हैं। पचम सर्ग में हैं।

"वचनों से ही तृप्त हो गए हम सखे
करो हमारे लिए न अब कुछ श्रम सखे !

ऽ गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

वन का व्रत हम आज तोड़ सकते कहीं
तो भाभी की भेंट छोड़ सकते नहीं !

× × ×

सुविधा करके स्वयं भ्रमण विश्राम की
सब कृतज्ञता तुम्हीं न ले लो राम की
औरों को भी सखे भाग दो भाव से
कर दो केवल पार हमें कल नाव से !'

दशम सर्ग यद्यपि उर्मिला की विरहावस्था से सम्बद्ध है फिर भी वर्णनों में ऐक्य-सूत्र होना चाहिए। सरयू को सम्बोधन कर वह बचपन का स्मरण करती है किन्तु असंबद्ध वर्णन भी हैं जो प्रवाह रोक देते हैं—

"मुझसे समभाग छाँट ले, पुतली, जी उठ-जीव बाँट ले
अपना कह आप मोल तू, स्वपदों से उठ, खेल डोल तू
पुचकार मुझे कि डाट ले, पुतली जी, उठ, जीव बाँट ले !'

अनेक स्थल उद्धृत किए जा सकते हैं। गुहराज की मुखरता भी कुछ बढ़ गई है। यह ठीक है राम ने उसे गले लगाया क्योंकि वह भक्त है, लेकिन उसका यह कथन—

'ऐं ये वल्कल। दृष्टि कहाँ मेरी रही ?
कौतुक अब तक देख न पाई वह यही
कहिए ये किसलिए आज पहने गए ?
कहाँ राज परिधान और गहने गए ?
क्या मुनि बन कर हरिण भुलाए जाएँगे ?
पर वे चंचल, सहज समीप न आएँगे !'

एक तो आभूषण और वस्त्र-जिन पर सर्व प्रथम दृष्टि जाती है फिर वह संबोधन इस तरह करता है मानो भाई बिरादर हों, राम ने तो उतनी दीर्घ परीक्षा के लिए धारण किया, यह मामूली बात समझता है जैसे मृगया को निकल पड़े हों ! स्वामी-सेवक में कुछ तो अन्तर रहना चाहिए। गुहराज को यह आश्चर्य प्रकट करना ही था तो अपने लोगों में प्रकट कर सकता था—पाठकों को संकेत भी मिल जाता, शिष्टाचार भी रह जाता ! इसी प्रसंग में लक्ष्मण द्वारा उपदेश कराया गया है।

'जीव और प्रभु मध्य अड़ी माया खड़ी
वह दुरत्यया और शक्ति शीला बड़ी !'

यह भी प्रवचन की भाँति है। राम द्वारा कहलाया जाता तो कुछ उपकारक भी होता।

लक्ष्मण आवेश में कैकेयी को "अनार्या की जनी" और पिता को "दस्युजा के दास" कह जाते हैं। लेकिन दैनिक जीवन में पुत्र माता-पिता के लिए इतने कटु शब्दों का प्रयोग नहीं करते। इन्हें बदला जा सकता था—

"पिता हैं वे हमारे या—कहूँ क्या?
कहो हे आर्य! फिर भी चुप रहूँ क्या?"

कहना आर्य संस्कृति के अनुकूल है भी नहीं। यह तो सलीम की सी-बात है जो अकबर को न मरता देख विद्रोह करता रहा था। आधुनिकता लानी अवश्य चाहिये पर इतनी नहीं कि प्राचीन आदर्शों को पार करती हुई ज्ञात हो।

एकादश सर्ग में कवि माण्डवी की वैयक्तिक इच्छा को प्रकाश में लाता है—

'हाय! नाथ, धरती फट जाती हम तुम कहीं समा जाते।
तो हम दोनों किसी मूल में रह कर कितना रस पाते!
न तो देखता कोई हमको न वह कभी ईर्ष्या करता।
न हम देखते आर्त्त किसी को न यह शोक आँसू भरता।
स्वयं परस्पर भी न दीन कर करते हम नस अंग-स्पर्श।
तो भी निज दांपत्य भाव का उसे मानती मैं आदर्श।"

यहाँ केवल अंग स्पर्श करने की आकांक्षा पाठक को अरुचि कर तो प्रतीत होती है, उन्हें भी साधना के उच्च स्तर से ला गिराती है। प्रसाद के स्कन्दगुप्त ने भी देवसेना से यही इच्छा प्रकट की है कि वे किसी त्रिभुज कुंज में जाकर रहें, एक दूसरे का मुँह देखकर जी लें। लेकिन वहाँ यह utopian ideal खप जाता है—भरत माण्डवी के प्रस्तुत वातावरण में नहीं खपता। भद्दा हो जाता है। इस कथन को हटा देने से 'साकेत' में बाधा या हानि भी नहीं थी। इसी तरह अंत में यह कहना—

'जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप, कामी
कह सकती हो उसे आज तुम अपना स्वामी'

या— 'स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के स्वामी मेरे
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र वे साँझ सवेरे!
खोई अपनी हाय! कहाँ वह खिल खिल खेला!
प्रिय जीवन की आज कहाँ वह चढ़ती वेला?'

उनके चरित्र को उठाने में सहायक नहीं होते। इसका तात्पर्य हुआ कि उनका पूर्व जीवन उदाहरणार्थ प्रथम सर्ग में वर्णित प्रेमी जीवन-लोलुपता-कामुकता से पूर्ण था! लक्ष्मण के कथन से तो यही टपकता है। और उर्मिला के कथन से प्रतीत होता है उसको विगत-यौवन की कसक है! इन पंक्तियों को हटाकर यदि लक्ष्मण—

"वह वर्षा की बाढ़ गई जाने दो" से ही वर्णन करते तो अधिक सुरुचिपूर्ण रहता और विगत जीवन का संकेत भी हो जाता कि यौवन वर्षा की बाढ़ की तरह समाप्त हो गया और शरद की भी गम्भीरता उनके जीवन में आ रही है।

देशकाल का गुप्त जी ने यथेष्ट ध्यान रखा है। ऐतिहासिक वृत्तों के निर्वाह में तत्कालीन ज्ञान होना भी चाहिए। जैसे सीता को शलवार, कुरता तो नहीं पहनाए जा सकते! गुप्त जी इस सम्बन्ध में बहुत सतर्क रहे हैं। रचनाओं में काल दोष यथा सम्भव नहीं आने दिया है। नारी-वस्त्रों के लिए 'परिधान' या 'दुकूल' का ही प्रयोग किया है, 'धोती-साड़ी' का नहीं। फिर भी उर्मिला की सौंदर्य चर्चा करते हुए एक स्थान पर दर्पण ला रखा है। बचपन के वर्णन में कंघी का और राखी बाँधने की प्रथा का उल्लेख हुआ है—

(१) 'एक ओर विशाल दर्पण है लगा
पार्श्व से प्रतिविम्ब जिसमें है जगा!'

(२) 'वह अंचल धूल पोंछते
कर कंघी धर बाल ओंछते!'

(३) 'भगिनी जय मूर्ति सी झुकी
यह राखी जब बाँध तू चुकी!'

मोहन जुदारो और हरप्पा की खुदाई में कुछ चाँदी के पत्र ऐसे मिले अवश्य हैं जो सम्भवतः पालिश करके दर्पण की तरह प्रयुक्त होते होंगे। कुछ Cosmatics भी मिले हैं। उस समय स्त्रियाँ बाल काढनी भी होंगी, कोई वस्तु उपयुक्त होती ही होगी। लेकिन आजकल की भाँति न तो काँच का सा विशाल दर्पण रहा होगा जिसके पार्श्व से ही प्रतिविम्ब दीख पड़े और न कंघी। ऐसे विशाल दर्पण का उल्लेख तो पद्मावत में हुआ है। अलाउद्दीन पद्मावती का रूप प्रतिविम्ब देखकर मूर्च्छित हो जाता है—

'बिहँसि झरोखे आइ सरेखी, निरखि साह दरपन मँह देखी,
होलहि दरस परस भा लोना, धरती सरग भयउ सब सोना!'

(पद्मावत)

और राखी बाँधने का उल्लेख राजपूत युग से मिलता है। फिर भी यह कालदोष अधिक चिन्त्य नहीं है।

कुछ वर्णनों पर ध्यान दीजिए। गुप्त जी ने इनमें सुरुचि का, मर्यादा का सर्वत्र ध्यान रखा है फिर भी प्रतीत होता है लेखनी कहीं-कहीं बहक गई है। शायद वे न कहना चाहते हों पर लेखनी विवश कर रही हो। शृङ्गार वर्णन रीतिकाल का प्रभाव भी है जिसे ऊहात्मक विरह वर्णन के अन्तर्गत निर्दिष्ट किया जा चुका है तथा मेघनाद वध आदि का भी प्रभाव है। राम के जाने पर सुमत इतने व्याकुल हो जाते हैं कि शरीर के गिर जाने की चिन्ता होती है। दशरथ का अन्तिम उद्गार देखिये—

'मेरे करयुग हैं टूट चुके कटि टूट चुकी, सुख छूट चुके
आँखों की पुतली निकल पड़ी वह यही कहीं है विकल पड़ी।
खाकर भी बार बार झटके क्यों प्राण अभी तक हैं अटके ?

यह हाथ कमर का टूटना, आँख की पुतली का निकल कर गिर पड़ना, प्राणों का बार-बार झटके खाकर भी अटका रहना, भारतीय परम्परा के अनुकूल नहीं है। उर्मिला की आँखें भी फटती नहीं बल्कि "फट-सी" जाती हैं। जायसी के इन वर्णनों का बरबस स्मरण हो जाता है—

(१) 'हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भई सब तांति'
(२) रकत ढुरा, माँस गिरा, हाड भयेउ सब संख'

(३) "विरह सरागन्हि भूँजैं मासू गिरि गिरि परैं रकत के आँसू" आदि !

'साकेत' के कुछ वर्णन भरती के लिए भी मालूम पड़ते हैं—

"साँप खिलाती थीं अलकें मधुप पालती थीं पलकें
और कपोलों की झलकें उठती थीं छवि की छलकें।" आदि !

वशिष्ट का योग दृष्टि द्वारा प्रदर्शन, हाथ का उठाकर फैलाना ऐसा लगता है जैसे कोई जादूगर अपनी छड़ी घुमाकर कुछ का कुछ दिखा देता है। कहीं अभिव्यंजना भी बहुत उत्कृष्ट नहीं है।

(१) "अयोध्या के अजिर को व्योम जानो
उदित उसमें हुए सुर वैद्य मानो।"

(२) "चन्द्रकान्त मणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार।" आदि !

शृङ्गार वर्णन में सीता की क्षीण कटि रुकने-झुकने में लचती लचती नागमती की बर्र जैसी तार तार कमर से कुछ ही दूर ही रह गई है और सीता का दिव्य दुकूल तो देह सग ही ऐसा उत्पन्न हुआ है—

"पहने थी दिव्य दुकूल अहा! वे ऐसे
उत्पन्न हुआ हो देह संग ही जैसे !"

कि विद्यापति की नायिका सामने आ जाती है—

"सिथिल वसन तन लागू मुनि हुक मानस मनमथ जागू !"

या रीतिकालीन सद्यः स्नाता—

"नीवी उरसाय नैकु नैननि हँसाय, हँसि
ससि मुखि सकुचि सरोवर तैं निकसी !"

अब भाषा शैली पर ध्यान दीजिए। कहीं तो इतनी सरल व सपाट है कि गद्यवत् हो गई है, तूफान मेल की तरह सटासट दौड़ी जाती है—

"यह गन्ध नहीं बिखेरता वन सीता वन पार्श्व फेरता
सुनसान सभी सपाट हैं अब सूने सब घाट बाट हैं !
जड़ चेतन एक ही रहे हम जागें सब और सो रहे
निधि निर्जन में निहारती अपने ऊपर रत्न वारती
कितनी सुविशाल सृष्टि है जितनी हा ! लघु लोक दृष्टि है !"

× × × ×

"फिरती सब धूम चौक में, गिरती थीं झुक झूम चौक में
मचती वह धूम चौक में नचती माँ तक चूम चौक में !
दिखला कर दृश्य हाथ से, कहतीं वे निज मग्न नाथ से—
यह लो अब तो बनी भली, घर की ही यह अस्त्र मंडली !"

उर्मिला रसोई घर में बहिनों के साथ स्वयं तो उछली कूदी ही माँ को भी नचा दिया। घर में ही नाटक मण्डली खोल दी गई। एक स्थान पर तीतर बन्दर झगड़ा करते हैं, ठूँठ तपस्वी जैसे खड़े होते हैं जिन पर लताएँ चढ़तीं जा रही हैं तो कहीं तरु तले छाया ऊँघ रही है, अग ढीला किए विहंग दृष्टि गड़ाए हैं—

"ऊपर विस्तृत व्योम, विपुल वसुधा तले
फिर भी कैसे फाड़ फाड़ अपने गले
वे तीतर नख-चंचु मार कर लड़ रहे
कौन कहे किस तुच्छ बात पर अड़ रहे…
वन लक्ष्मी सौभाग्य वती फूले-फले
झूले शिशु सी शान्ति पवन पंखा झले

आगे आगे भाग रहा है मोर यह
पत्तों से पथ झाड, चपल चित चोर यह
मचक मचक वह कीश मण्डली खेलती
लचक लचक वच डाल भार है झेलती !"

ऐसा लगता है 'साकेत' में जतु शाला खोल दी गई है। हरिऔध पेड़ पौदों के नाम गिनाने में लगे, गुप्त जी ने जानवरों पक्षियों को अपना लक्ष्य बनाया कठिनतम प्रयोग भी 'साकेत' में है जहाँ क्लिष्टत्व पाँव पसार कर बैठा है। चित्रकूट का वर्णन—"गिरि इरि का हरिवेष देख वृषवन मिला" पढ़ लीजिए या "उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन रस के लेप से" वाला चित्र देख लीजिए। नवम सर्ग में तो अनेक पद अस्पष्ट तथा क्लिष्ट है, अष्टम सर्ग से भी एक उदाहरण ले लीजिए—

"आर्य राज हंसि, तू तरस तरस क्यों रोती
तू शुक्ति वंचिता कहीं मैथिली होती
तो श्यामल तनु के श्रमज-बिंदुमय मोती
निज व्यजन-पक्ष से तू अँकोर सुधि खोती,
जिन पर मानस ने पद्म रूप मुँह बाया !"

गुप्त जी की भाषा आरम्भ में तो समास-प्रधान रही है बाद में ठीक होती गई हैं। 'जयद्रथ वध' की भाषा में इस कारण अनेक स्थलों पर श्रुति कटुत्व दोष आ गया है। 'साकेत' 'यशोधरा' भी इस दोष से मुक्त नहीं कहे जा सकते। जैसा पंत जी ने लिखा है—"समास की कैंचो अधिक चलाने से कविता की डाल ठूँठ तथा श्री-हीन हो जाती है"—वैसे ही गुप्त जी की भाषा अनेक स्थलों पर भावानुभूति में बाधक होने लगती है—

(१) "जो अंग *रागांकित-रुचिर-सित-सेज* पर थी सोहती"
(२) "वीरत्व-करुणा-शांति का *त्रिस्रोत* गंगाजल वहा"
(३) "अर्जुन *कराग्रोत्साहिता* प्रत्यक्ष कृत्या मूर्ति सी"
(४) "मृत *अच्युतायु श्रुतायु* हैं ये वह अलम्बुश है मरा"
(५) "भू पर यत्र तत्र सर्वत्र, किया तुम्हीं ने *एकच्छत्र*"
(६) "जो निज *गो-द्विज-देत-धर्म* कर्मों का कण्टक"
(७) "पर क्या न *विपयोत्कृष्टता* करती *विचारोत्कृष्टता*"
(८) "*राष्ट्रे वयं जाग्रयाम पुरोहिताः स्वाहाः* कहो"
(९) "राजेन्द्र लाल समान *विद्वद्रत्न* होते हैं यहाँ"
(१०) "मैं त्रिविध दुःख *विनिवृत्ति* हेतु बाँधू अपना पुरुषार्थ-सेतु"

स्वशब्द वाक्यत्व तो कई स्थानों पर है, न्यून पदत्व अधिक पदत्व दोष भी है। अप्रतीतत्व व ग्राम्यत्व दोष भी हैं, हाँ अश्लीलत्व गुप्त जी की कविता में नहीं मिलता। अत्यन्त निपुणता के वर्णन सँभाल लिए हैं। दूरान्वय भी है।

"तटिनी यह तुच्छ किंकरी सुखसे क्यों न, बता, वहीं सरी!"

यहाँ तटिनी के 'बता' शब्द का सम्बन्ध है जो उससे ६ शब्द बाद है। आकाश के तारों को एक स्थान पर नैश गगन के शरीर में फोड़े कहा गया है "नैश गगन के पात्र में पड़े फफोले हाय!" "घी गुड़ देकर" हेमन्त का स्वागत करना बहुत सुष्ठ प्रयोग नहीं कहा जा सकता।

तुक के फेर में तो गुप्त जी की भाषा में बहुत बेतुका पन भी आ गया है। शब्दों की दुर्दशा तो हुई ही है, भरती के शब्द में भी लाने पड़े हैं। एक तो शब्द ध्वनन के तुक में ऐसा हुआ है। फड़फड़ पड़पड़ के तुक में जितने शब्द गुप्त जी की भाषा कवि में मिले होंगे सब एक साथ भर दिए हैं। कड़क तड़क की भड़क तो होती ही है, वक्ष धकधकाते हैं, वस्त्र भकभकाते हैं, हृदय में धड़धड़ होती है, घोड़े की तीव्रता में पड़पड़ होती है तो पेड़ों पर पक्षियों की फड़फड़ होती है। "छवि की छन्छाया" के तुक में "त्रिकूटिनी माया" को लाना पड़ता है तो "रावण के अक्ष" का "घूँसों से वक्ष" तोड़ना पड़ता है। "खरदूषण संहारी" के बराबर "दण्डक वनचारी" को बैठाना पड़ता है तो "हट्टी कट्टी" के साथ "पट्टी' जोड़नी पड़ती है। कुलिश किसी पर कड़के; आकाश में तोयद तड़के; लता के अरुण अधर फड़के और किसी के हृदय भी धड़के—अब क्या हो? तो कवि को अटका अटका कर भटका भटका कर किसी के भावों को भी भड़काना जरूरी हो गया। झुलसते वृक्ष ने जब "मरमर" किया निर्झर ने "झरझर" किया तो विरही बेचारे को "हरहर" करना ही पड़ा। उदाहरण लीजिए—

'ओ निर्झर झर झर नाद सुना कर झड़ तू
पथ के रोड़ों से उलझ सुलझ बढ़-अड़ तू
ओ उत्तरीय उड़, मोद पयोद घुमड़ तू
हम पर गिरि गद्‌गद् भाव, सदैव उमड़ तू!'

ये तो केवल ४ पंक्तियाँ हैं, इन पंक्तियों में देखिए तुक ने क्या चमत्कार उत्पन्न किया है—

'घूम रहा है कैसा चक्र!
वह नवनीत कहा जाता है, रह जाता है तक्र!

पिसो, पड़े हो इसमें जब तक
क्या अन्तर आया है अब तक
सहें अन्ततोगत्वा कब तक—
हम इसकी गति वक्र ? ....
कैसे परित्राण हम पावें ?
किन देवों को रोवें गावें ?
पहले अपना कुशल मनावें
वे सारे सुर शक्र ! ...
बाहर से क्या जोड़ूँ-जाड़ूँ ?
मैं अपना ही पल्ला झाड़ूँ
तब है, जब वे दाँत उखाड़ूँ
रह भव सागर नक्र ! '....'
—(यशोधरा)

यह यशोधरा का पहला गीत है ! जोड़ जाड़ के साथ पल्ला झाड़ना ही पड़ता और जब पल्ला झाड़ दिया तो दाँत उखाड़ने के अतिरिक्त रहता ही क्या ! एक गीत इसी में और देखिए, शुद्ध दिन पश्चात्ताप कर रहे हैं—

"चला गया रे, चला गया !
छला न जाय हाय ! वह यह मैं
छला गया रे, छला गया ! चला गया रे, चला गया !
खींचा मैंने गुण का तान
निकल गया वह कण समान !
ममते तेरा मान महान
दला गया रे, दला गया । चला गया रे, चला गया !
स्वस्थ देह सा था यह गेह
गया कण सा वह निस्नेह
अश्रु ! अर्थ है अब यह मेह
जला गया रे, जला गया । चला गया रे, चला गया !

इतनी कुशल हुई कि तुक की तुकबंदी में कोई तरकारी की तरह तला नहीं गया !

पहले उदाहरण में तो स्त्रीलिंग शब्द "कुशल" को भी इसी हेरफेर में पुल्लिंग रूप धारण करना पड़ा है ! यह ठीक है कि "कविता के लिए चित्र

भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए—जो बोलते हों।" * लेकिन ऐसे भी बोलते शब्द क्या हुए जो कविता कामनी को उपाहासास्पद बना दें। उपर्युक्त उदाहरण में शुद्धोदन को तो हो रहा है दुःख, मानसिक सताप, और पाठक को आती है हँसी! इसे कवि की सफलता कैसे मानी जाय?

इस तुक के हेरफेर में न मालूम कितने शब्दों को अपने भाग्य का उलटफेर सहना पड़ा है। ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व हो जाना तो साधारण बात है। 'साकेत' में तो ६० प्रतिशत शब्दों को केवल छन्द और तुक-पूर्ति के कारण अपना रूप बदलना पड़ा है, एक वचन का बहुवचन बनना पड़ा है, छोटे का बड़ा बनना पड़ा है, कभी निकटवर्ती शब्द से अंतरंग मैत्री भी जोड़नी पड़ी है। उपसर्ग प्रत्ययों से सगति तो मामूली बात है। कुछ देखिए—

'कांति की किरणें उजेला कर रहीं'

यहाँ होना चाहिये था "उजाला"। लेकिन गुप्त जी पत जी की तरह शायद यह तर्क दें कि 'उजेले' का 'उजाला' मैं कर तो देता पर 'उजेला' का सौंदर्य शुभ्रता कम हो जाते। 'उजाला' की अपेक्षा उजेला' इसलिए ठीक है। लेकिन निम्नांकित शब्दों के लिए उनके पास केवल एक तर्क होगा—भाई छन्द और तुक के नियम निभाने ही पड़ते हैं।

(१) 'आ गुराई से मिला *आरुण्य* है'
(२) 'मोहिनी सी मूर्ति मंजु *मनोज्ञता*'
(३) 'वह तुम्हारी वस्तु आश्रुति *वत्सले*'
(४) 'साँप पकड़ाओ न मुझको *निर्दये*'
(५) 'वाक्य सुनने की हुई *उत्कर्णता*'
(६) 'हुए *दम्पती* फिर अनिमेष'
(७) 'बढ़े क्यों न आज *हर्षोद्रेक*'
(८) 'समझ जो सके न *अर्थानर्थ*'
(९) 'बनी जाती है क्यों *उत्क्रान्ति*'
(१०) 'अस्तु यह भरत विरह *अविलप्ट*'
(११) 'कहा यह उचित नहीं *अस्थैर्य*'
(१२) 'हुआ पर साथ ही *हृद्रोध* नृप का'

---

* सुमित्रानन्दन पंत

(१३) 'जब तक जाय प्रणाम किया'
(१४) 'तनिक कनौंखी आँखियों से'
(१५) 'जैसा है विश्वास मुझे उनके प्रती'

ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। छन्द व तुक पूर्ति के लिए ही कहीं गुप्त जी को नितांत अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है तो कहीं व्रजभाषा के, उर्दू के या अन्य देशी शब्दों की भरती करनी पड़ी है। इनके भी कुछ उदाहरण देख लीजिए—

(१) 'वत्स *हम्बा* कर उठे *डिडकार*'
(२) 'कर पिता का मृत्यु कृत्य *अपत्य*'
(३) 'गति न बिगड़े दे नियत भी *आँस*'
(४) 'प्रकृति-विधवा भी भरे हिम *अस्त*'
(५) 'हों कहाँ वे धीर वीर *वदान्य* ?'
(६) 'अंचल पट कटि में खोंस *कछोटा* मारे'
(७) प्रहरी निर्झर, *परिनवा* प्रवाह की काया'
(८) 'उनका वर्णन ही बना विनोद *सवाया*'
(९) 'हों लोग उसी के लिए *झींकने* रोते'
(१०) 'बच जाय प्रलय से मिटे न जीवन *सादा*'
(११) 'लेकर अपने कुछ चुने *वनेचर* भोले'
(१२) 'च्युत पत्र पीठ पर पड़े *फुरहरी* आई'
(१३) '*पितुरात्मा* का परितोष हुआ *प्रकटित* सा'
(१४) 'इन चरणों की चिरकाल रहूँ मैं *चेटी*'
(१५) 'मूर्तिमय विवरण समेत *जुदे जुदे*'

इसी प्रकार प्रयुक्त शब्द हैं—परिहारो, कीजियो, बिसारियो, अराल, विसूरती, मूलता, प्रकटा, सून, विहारने, प्रकटी, कण्टकिता, मुधा, अर्पिता, कार्मुक, व्रज्या, भेटियो, झाँप, कोंचती, क्षाराब्धि, सपरागाम्बुजता, उपमोचित स्तनी, विटपी, ऊर्जस्वल, अशर्त, प्रहरण, रोती को, विलपते, प्रकुपित, प्राणीधान, पटघर, शाला-माला, शफर सर्रफ, बोला-चाला, ढुक, अकृती, झटपट, ठुकुर-ठुकुर, थाना, भीता, सुरापी, फुंकारित, वारित, अयन, इतराया, जवलों, सौठे आदि।

इसी प्रकार वत्ती-तत्ती-रत्ती, लकवी-चकवी-मकवी, मनी-सनी-ठनी, धाँधी-आँधी-बाँधी, दलक-ललक-झलक, होली-टोली-अनमोली आदि तुकान्त शब्दों की स्थिति भी है।

उपर्युक्त वैचित्र्य के कारण भी हैं। खड़ी बोली का शब्द भण्डार बढ़ाना था अतः प्रचलित सभी शब्द हिन्दी की प्रकृति के अनुसार अपना लिए हैं। तुक के लिए शब्दों का रूप बदलना पड़ा है, नए शब्द रखने पड़े हैं। गीतों के लिए कुछ शब्दों का रूप घिसना भी पड़ा है। ऐसा गुप्त जी को ही नहीं करना पड़ा। प्रत्येक कवि को करना पड़ा है—करना पड़ता है। उसकी परवशता 'हरिऔध' ने स्पष्ट बतला दी है। बिल्कुल शुद्ध रचना तो हो ही नहीं सकती—कोई न कोई दोष, त्रुटि निकल ही आएगी। बस देखना इतना है कि मात्रा किस की अधिक है। गुप्त जी की कविता में गुणों का पलड़ा ही भारी है जिसका विवेचन मैं पिछले अध्यायों में करता आया हूँ। पाठकों-आलोचकों का कर्त्तव्य यही है वे सत्पक्ष पर जोर दें और प्रेरणा ग्रहण करें!

'जड़ चेतन गुन दोप मय, विश्व कीन्ह करतार
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।'

× × × × ×

'कल्प भेद हरि चरित सुहाए, भाँति अनेक मुनीसन गाए!'

× × × × ×

'वराय पाकिये लफ्जे शवे वरोज आरन्द
कि मुर्ग़ माही वाशन्द खुफता ऊवेदार!'

("कवि एक शब्द को परिष्कृत करने के लिए उस रात्रि को जाग कर दिन में परिणत करता है, जिसको चिड़ियाँ और मछलियाँ तक निद्रा देवी के शांति मय अंक में सिर रख कर व्यतीत करती हैं!")



१४—'साकेत' का साहित्यिक सौंदर्य

'साकेत' आधुनिक काल की उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओं में एक है जिसका महत्व मैं बतला आया हूँ। यहाँ 'साकेत' के चुने हुए कुछ स्थलों की चर्चा की जाएगी जहाँ विशेष काव्यात्मक सौंदर्य बिखरा है। महाकाव्य में भी सब स्थल बराबर उत्तम नहीं होते। कुछ की चर्चा व्याख्या तो मैं उसकी आलोचना के साथ साथ करता आया हूँ, कुछ प्रसंग और लूंगा। नवम सर्ग में ऐसे प्रसग हैं भी अधिक। कहीं शैली की नवीनता है, कहीं अभिव्यक्ति की, कहीं मूर्तीकरण की। इन विशेषताओं का सकेत (Critical Appreciation) करने का प्रयत्न है ताकि पाठक आलोचना के टेढे-मेढ़े सिद्धान्तों से होते हुए कुछ रसास्वादन का आनद भी लें।

'प्रथम सर्ग' में तीन स्थल सुन्दर हैं—(१) शुक का मोती के दाने को दाडिम का बीज समझना—जिसकी व्याख्या मैं कर आया हूँ, (२) लक्ष्मण का चित्र बनाते समय उर्मिला में सचारी भाव तथा अनुभावों का विधान जहाँ उसके हाथ हिलने लगते हैं स्वेद झलकने लगता है और उसका मन बेबस हो जाता है। "सिमिट सी सहसा गई" द्वारा उसका एक चित्र मूर्तिमान हो जाता है फिर भी हाव की प्रधानता है। भाव विभोर होकर वह कटाक्ष करती है—

'किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया, आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।'

प्रातः होने पर चचला की तरह छिटक कर उर्मिला हट जाती है। प्रसग बड़ा मार्मिक था लेकिन गुप्त जी ने सीमा के भीतर ही उपयुक्त व्यजना करा दी! प्रेम अपाग से ही देखता भी है। पन्त ने लिखा है—

'यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की, जो अपांगों से अधिक है देखता।
दूर होकर और बढ़ता है तथा, वारि पीकर पूछता है घर सदा!'

(३) तीसरा स्थल है अतिम-विदा का दृश्य—

'चूमता था भूमि तल को, अर्ध-विधु सा भाल।
बिछ रहे थे प्रेम के दृग, जाल बन कर बाल।

छत्र-सा सिर पर उठा था, प्राणपति का हाथ।
हो रही थी प्रकृति अपने, आप पूर्ण सनाथ!'

नाटक दिखाते समय जैसे रंगमंच में टेब्लो का विधान होता है वैसा ही एक स्थिर दृश्य यहाँ है। उर्मिला झुक कर प्रणाम कर रही है, मस्तक का उतना ही अंश दिखाई देता है जिसकी तुलना अर्ध-चन्द्र से की गई है, केश इधर उधर फैले हैं मानों प्रेम के दृग-जाल हों! उधर लक्ष्मण छत्र की तरह उसके सिर पर हाथ फैलाए खड़े हैं! हाथ की अँगुलियाँ फैली हुई हैं। जैसे छत्र से रक्षा होती है वे मानो उर्मिला को अभय दान दे रहे हों! यहाँ उपमेय-उपमान में साधर्म्य भी है। ऐसे चित्र पाठक की कल्पना में मूर्तिवत् स्थिर रहते हैं और बार-बार सामने आते हैं।

'द्वितीय सर्ग' में मथरा का माथा टेक कर जाना मनोवैज्ञानिक है और कैकेयी की उत्तरोत्तर उग्रता का चित्रण करने में बहुत सफलता मिली है। उसकी भृकुटियाँ ऐसे तन जाती हैं जैसे दो दो कमानें हों! यहाँ पुनः चित्र है। राम की ठोड़ी पकड़कर, कैकेयी की ओर उनका मुँह कर दशरथ का गत धैर्य होना तीन तीन भावों की एक साथ व्यंजना करता है। दशरथ का क्षोभ, राम की कोमलता, कैकेयी की निष्ठुरता एक साथ व्यक्त हुए हैं। 'चतुर्थ सर्ग' में विशेष उल्लेखनीय प्रसंग नहीं है। 'पञ्चम सर्ग' में प्रकृति-चित्रण का अच्छा योग मिला है। 'पञ्चवटी' मे कर्त्तव्य-निष्ठ लक्ष्मण का स्वरूप यहाँ भी है—

'घुरक रही है सॉय सॉय कर रात भी
मानो लय मे लीन तरंगाघात भी
तब भी लक्ष्मण घूम रहे हैं जाग कर
निद्रा का निज तुच्छ भाग तक त्याग कर!'

गंगा का वर्णन सुन्दर है। राम का "विराम लाभ करते हुए" बढते चलना तुलसी के वर्णनों की भाँति मनोमुग्धकारी नहीं बन सका है। हाँ जंगली वृक्षों, पशु पक्षियों के वर्णन का अवसर कवि को मिल गया है—

'ठीक यहाँ पर शल्य छोड़ कर शल गया
नाम रहे पर काम तुम्हारा चल गया
मुस्तक राधा खुदी मृत्तिका है इधर
बने आर्द्र पद चिह्न, गए शूकर जिधर
देखो, शुक शिशु निकल निकल कर नीड़ से
घुसता है फिर वहीं भीत सा भीड़ से"'

फिर इस प्रकृति चित्रण से निष्कर्ष निकालते हुए उपदेश दिया जाता है—

'है ऐसी ही दशा प्रिये नर लोक की
कहीं हर्ष की बात कहीं पर शोक की !'

एक स्थान पर श्लेष रूपक द्वारा चित्रकूट को शैल बताया गया है जिसे देखकर राम रूपी शिव महाराज का मन खिल उठता है। शिला रूपी कलशों से झरनों का जल उनका अभिषेक करता है। चित्रकूट एक नग की भाँति जड़ा हुआ प्रतीत होता है। 'कामायनी' में भी इस तरह अभिषेक की चर्चा हुई है।

'कौन तुम ? संसृति जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक।
कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक ?'

'षष्ठ सर्ग' में एक स्थल कुछ साहित्यिक नहीं लगता—

'गजराज पंक मे धँसा हुआ छटपट करता था फँसा हुआ
हथनियाँ पास चिल्लाती थीं वे विवश विकल विल्लाती थीं !'

दशरथ को बनाया गया है 'गजराज' और तीन रानियों को बनाया गया है हथनियाँ—प्रसग है विलाप का ! सब रो रहे हैं, घोर करुण स्थल है। दशरथ की तो जान जा रही है तब ऐसा चिल्लाना विल्लाना अच्छा नहीं लगता। हाँ जल-विहार का अवसर होता तो दूसरी बात थी।

'सप्तम सर्ग' में एक प्रकृति चित्रण सुन्दर है। भरत रात भर विलाप करते हैं, चारों ओर करुण वातावरण है तो प्रकृति भी उनके साथ वेदना सहानुभूति प्रकट करती हुई प्रतीत होती है। वैसे प्रकृति का मानव व्यापारों से कोई सम्बन्ध नहीं लेकिन व्यापकता प्रदर्शित कराने के लिए कवि प्रकृति को रजन हीन-दीन बतलाता है, चतुर्दिक मलिनता छा जाती है। मुरगे का बोल उठना इस बात का सकेत भी करता है कि अब उठो, जीवन क्षेत्र के कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होओ Pathetic Fallacy का सुन्दर उदाहरण है—

'दूर बोला ताम्र चूड गंभीर—'क्रूर भी है काल निर्झर नीर'
अरुण-पूर्व उतार तारक-हार मलिन-सा सित-शून्य अंबर धार
प्रकृति रजन हीन, दीन अजस्र प्रकृति-विधवा भी भरे हिम-अस्र!'

तीनों रानियाँ तो विधवा हुई हीं, प्रकृति रूपी रानी भी विधवा हो गई ! रूपक अलकार चमत्कार उत्पन्न करता है।

'अष्टम सर्ग' में सीता का सौंदर्य वर्णन भावुकतापूर्ण है—

'मुख धर्म-बिन्दु-मय ओस-भरा अंबुज सा
पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा ?
पाकर विशाल कच भार एड़ियाँ धँसती
तब नख ज्योति मिष, मृदुल अँगुलियाँ हँसती
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता
तब अरुण ऐड़ियों से सुहास-सा झड़ता !
रोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते
पद-पद्मों मे मांजीर-मराल मचलते·······

स्वेद कणों से युक्त मुखमण्डल ओस से भरे कमल जैसा प्रतीत होता है। कमल की हलकी अरुणिमा भी व्यंजित है। जिस पर ओस की छोटी-छोटी, शुभ्र चेमकीलो बूँदें सौंदर्य और बढा देती हैं। केश-पास का घनत्व भी सौंदर्य सूचक है। एड़ियाँ हैं माँसल, बालों के भार से नीचे को धँसने लगती हैं। यह तो स्थिर दशा हुई। जब सीता पैर उठाती हैं तो उन एड़ियों पर स्वभावतः और जोर पड़ेगा। नाखून की चमक मानों अँगुलियों की हँसी हो। हँसी भी शुभ्र होती है—नाखूनों की चमक भी। एड़ियाँ अरुण तो थी हीं, जब दूना जोर पड़ा—एक तो कचभार का दूसरा पैर उठाने का—तो और अरुण हो गई मानो सुहास झड़ रहा हो। पाँवों में मजीर आभूषण इस प्रकार हिलते हैं जैसे कमलों के आस-पास मराल घूमा करते हैं। यहाँ उपमा व्यतिरेक, रूपक अलंकारों की शोभा के साथ-साथ कवि की सूक्ष्म अतदृष्टि (Minute Observation) का परिचय भी होता है। अग व्यापारों तक दृष्टि पहुँची है। विद्यापति ने भी राधा के लिए लिखा था—

'जहँ जहँ पग जुग धरई तहँ तहँ सरोरुह झरई !'

और 'प्रसाद' तो उन्ही चरणों की ललाई को उषाकाल की अरुणिमा घोषित कर देते हैं।

'आह ! चूम लूँ जिन चरणों को, चॉप चॉप कर उन्हें नहीं
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही !'

गुप्त जी की तरह प्रसाद ने भी नारी-सौंदर्य की तुलना केतकी के फूल से की है।

इसके पूर्व राम का एक चित्र दिया गया है जो वृक्ष-तले बैठे हुए धनुष का कोना जमीन में टेक कर बड़े ध्यान से सीता को देख रहे हैं। यहाँ सीता को उनकी माया कहा गया है—

'तरु तले विराजे हुए—शिला के ऊपर
कुछ टिके—धनु की कोटि टेक कर भू पर
निज लक्ष-सिद्धि सी, तनिक घूम कर तिरछे
जो सींच रही थीं पर्ण कुटी के बिरछे
उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को
प्रणाम प्राणा को और कन्त काया को
यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी
योगी के आगे अलख-ज्योति ज्यों जागी ?'

इसमें चार बातें द्रष्टव्य हैं—(१) राम का चित्र, (२) सीता का गृहस्थ-रूप; (३) सीता को राम की माया कहना—जो दार्शनिक सिद्धान्त का संकेत करता है, (४) उन्हें ऐसे देखना जैसे योगी अलख ज्योति को देखता है—अर्थात तल्लीनता। इसके पहले उदाहरण में एक शब्द आया है "उठने"—जो होना चाहिए था 'उठाने'—पग स्वय नहीं उठता है, उठाया जाता है—लेकिन छन्द के कारण "उठने" ही लिखना पड़ा। यही कवि की विवशता है। इसके उपरान्त फिर प्रकृति चित्रण है! दूसरे भाग में कैकेयी का मातृ हृदय खुला है।

'नवम सर्ग' महत्व पूर्ण है। अलकारों की दृष्टि से भी, अभिव्यजना की दृष्टि से भी। जैसा श्री कन्हैयालाल सहल ने लिखा है—"इस सर्ग के प्रारभ में ही कवि की दैन्योक्ति है कि सरस कविता न कर सकने के कारण मेरा कवि-जीवन व्यर्थ ही गया, पर फिर भी श्रम में ही मुझे सतोष है। इस सर्ग को लिखकर कवि को अवश्य ही सुख मिला होगा, उर्मिला की बेचैनी का वर्णन करके भी उसने चैन का अनुभव किया होगा। कवि की भावना के अनुसार तो यह सर्ग आज भी अधूरा है और यह सच भी है क्योंकि विरहोद्गारों की कोई रचना निर्धारित नहीं की जा सकती। इससे स्पष्ट है कि 'साकेत' का नवम सर्ग बार बार लिखे जाने पर भी हमेशा अधूरा ही रहेगा। 'यशोधरा' को भी एक दृष्टि से इस सर्ग की पूर्ति का प्रयास ही कहा जा सकता है!" आरभ में ही कवि करुणा को सबोधन करता है—

'करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
मेरी विभूति है जो, उसको 'भव भूति' क्यों कहे कोई ?'

वह पूछता है अरे तू किस लिए इतना रुदन कर रही है। 'उत्तर राम चरित' में तो तू रो ही चुकी है ? तात्पर्य हुआ जब भव भूति ने अपनी रचना में—"एको रस. करुण एव" की घोषणा करते हुए आद्योपान्त रचना को करुण

बना दिया तब आज पुनरुक्ति करने की क्या आवश्यकता थी ? एक बार उसे निभाया जा चुका है फिर दुहराना क्यों ? तो करुणा मानो उत्तर देती है भव भूति तो मेरी विभूति अर्थात् ऐश्वर्य था उसी के द्वारा मैं अपने को उतने मार्मिक रूप से व्यक्त कर पाई। वह 'भव' की 'विभूति' नहीं है—मेरी विभूति है। भव के दो अर्थ हैं—शिव तथा संसार। 'उत्तर' और 'भवभूति में श्लेष है। 'उत्तर' शब्द के भी दो अर्थ हैं—'उत्तर राम चरित' तथा कवि के प्रश्न का प्रत्युत्तर ! करुणे को मानवी रूप में संबोधित किया गया है जैसे वह सचमुच रोती हो और पूछे जाने पर और रो पड़ती है। यहाँ चूँकि करुण रस प्रधान है। अतः आरंभ में ही कवि ने भवभूति को स्मरण कर लिया है। 'नवम सर्ग' के आरंभ में भी कवि करुणा से अपने साहित्य को सरस रखने की प्रार्थना करता है।

'छिन्न भी है भिन्न भी है, हाय ! क्यों न रोवे लेखनी निरुपाय ?
क्यों न भर आँसू बहाने नित्य ? सींच करुणे, सरस रख साहित्य !'

जैसे उसका रोते रहने का अधिकार हो।

'उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह—विशेष से
वर्ण वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के
क्यों न बनते कवि जनों के ताम्र पत्र सुवर्ण के ?'

यहाँ अलंकारों का चमत्कार है जिससे क्लिष्टत्व आ गया है। इसका सीधा अर्थ यह है कि उस रुदन्ती वियोगिनी उर्मिला के रुदन रूपी रस का लेप करने से और प्रिय के वियोग में जो वियोगाग्नि धधक उठी है उससे धीरे धीरे तपाए जाने पर जब वर्ण वर्ण कर्ण के विभूषण बनाए जा सकते हैं तो कवि गणों के ताम्रपत्र भी सुवर्ण की तरह बहुमूल्य व शाश्वत निधि हो सकते हैं। रुदन्ती एक औषधि विशेष होती है जिसके रस का यदि ताँबे पर लेप किया जाय और आग में तपाया जाय तो वह ताँबा सोना हो जाता है। जिस प्रकार रुदन्ती औषधि का ताम्रपत्र में लेप करने के उपरान्त आँच देने पर उसे स्वर्ण बनाया जा सकता है और जिससे सुन्दर-सुन्दर आभूषण तैयार किए जा सकते हैं उसी प्रकार इस उर्मिला विरहिणी के रुदन का अर्थात् करुणा का वर्णन करने पर जो करुण उसकी वियोगाग्नि की तपन से और चमक उठेगी—कवि गणों की रचनाएँ (ताम्रपत्र—जिसमें कुछ लिखा जाय) स्वर्ण की भाँति बहुमूल्य क्यों न होंगी ? उनके अक्षर-अक्षर वर्णप्रिय क्यों न होंगे ? अर्थात् उन कवियों द्वारा

उर्मिला का विरह वर्णन पाठकों को कर्णप्रिय भी होगा और साहित्य में अमर भी हो जायगा। 'रुदन्ती' वस्तुतः 'रुद्रवन्ती' है। जब स्वर्ण से कान, नाक, हाथ के आभूषण तैयार होते हैं तो कवियों की इन करुण रचनाओं का भी सम्मान होगा ही। ध्वनि यह निकलती है कि गुप्त जी कहते हैं मेरी इस करुण-कथा का भी सम्मान होगा।

चमत्कार है रूपक, श्लेष और वक्रोक्ति का। उक्ति वैचित्र्य है। (१) रुदन्ती के दो अर्थ हुए—रुदवन्ती औषध तथा रोने वाली (२) वर्ण के दो अर्थ हुए—रंग और अक्षर (३) विभूषण के दो अर्थ हुए—आभूषण और प्रिय (४) ताम्र-पात्र के दो अर्थ हुए—ताँबा और रचनाएँ (५) सुवर्ण के दो अर्थ हुए—स्वर्ण और सुन्दर अक्षर। अन्तिम पंक्ति में वक्रोक्ति है। गुप्त जी का वनस्पति-ज्ञान भी दर्शनीय है।। रत्नाकर ने 'उद्धव शतक' में इसी तरह उद्धव को कहीं पारे की भसम बनाया गया है, कहीं स्यमतक मणि! वस्तुतः इतनी अलंकार प्रियता अर्थबोध में बाधक होती है। यहाँ अलंकार सहायक नहीं है अतः दोष उत्पन्न हो जाता है।

> 'आगे जीवन की संध्या है, देखें क्या हो आली
> तू कहती है 'चन्द्रोदय ही, काली में उजियाली'?
> सिर आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद लाली?
> किंतु करेंगे कोक शोक की तारे जो रखवाली?
> 'फिर प्रभात होगा' क्या सचमुच? तो कृतार्थ यह मेरी
> जीवन के पहले प्रभात मे आँख खुली जब मेरी?'

उर्मिला अपनी सखी से कहती है—अब तो जीवन का सध्याकाल आ रहा है—(अर्थात् यौवन ठहरा उषाकाल, प्रौढता हरी सध्या) देखें तो अब भाग्य में क्या लिखा है। तू कहती है कि च द्रमा अपना प्रकाश फैलाएगा, काली घटाओं (निराशा) के बीच में ही तो प्रकाश (आशा) की किरण छिपी रहती है! ठीक है यदि तेरा कहना ठीक हुआ तो कुमदिनी अवश्य प्रसन्न होगी (कुमुदिनी चन्द्रमा के प्रकाश में खिलती है) लेकिन चकवे के लिए तो तभी प्रसन्नता होगी जब सूर्योदय होगा। जब तक आसमान में तारे रहेंगे, तब तक उसका शोक भी रहेगा। क्या सचमुच प्रभात काल होने वाला है? (सखी ने कहा "फिर प्रभात होगा" तो उसका उत्तर उर्मिला दे रही है।) क्या मेरे जीवन का अन्धकार (निराशा) भी दूर हो जाएगा! तब तो मैं जरूर कृतार्थ हो जाऊँगी!

उपर्युक्त गीत में स्मृति संचारी है। यह पद्धति नवीन है जिसमें अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा अपनी भाव व्यंजना कराई जाती है। उर्मिला कहती है जब तक प्रभात न होगा चक्रवाक दुःखी रहेगा—अर्थात् वह कहना चाहती है जब तक मेरे जीवन का प्रभात नहीं होगा—जब तक लक्ष्मण नहीं आएँगे तब तक मुझे हर्ष सुख कहाँ? प्रत्यक्ष वर्णन न कर व्यंजना कराई गई है। दूसरी विशेषता यह है कि सखी के उत्तर-प्रत्युत्तर को अलग न रख कर इसी गीत में मिला दिया है। उर्मिला जो कुछ कहती है तथा सखी जो कहती है दोनों का वर्णन एक साथ कर दिया है। यह नवीन पद्धति (Technique) है। अन्य स्थलों पर भी गुप्त जी ने इसका प्रयोग किया है—

'सचमुच 'मृगया में?' तो अहेरी नए वे!'

यहाँ पर दूसरे पात्र ने क्या कहा—इसका अध्याहार पाठक को अपनी ओर से करना पड़ता है। 'काली में उजियाली' एक अँग्रेजी मुहावरा है—silver lining in the cloud, जिस तरह अंधकार में प्रकाश छिपा रहता है। उसी प्रकार दुःख में सुख भी! यही प्रसाद ने कहा है—

'दुख की पिछली रजनी बीत विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक झीना परदा यह नील छिपाए है जिसमें सुख गात!'

और गीत लीजिए। उर्मिला वेदना को संबोधित करती है—

'वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण थोड़ी है तूने तू वह हीर-कनी!
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय विशिख-अनी!
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु सनी!
तू ही उसे उष्ण रक्खेगी मेरी तपन-मनी!
आ अभाव की एक आत्मजे और अदृष्टि जनी!
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचित स्तनी!
अरी वियोग समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी!
मन सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल खनी
तुझे तभी छोड़ूँ जब सजनी पाऊँ प्राण-धनी!'

वेदना कोई नहीं चाहता लेकिन उर्मिला को वही काम्य हो गई है! क्यों! इसलिए कि प्रेम दशा का निरूपण हुआ है। कहती है, हे वेदने तू भी मेरे लिए

भली बनी है (चाहे दूसरों के लिए बुरी हो) क्योंकि मैंने अपनी तीव्र घनीभूत आकांक्षाओं को तुझी में पाया है। (अब वह कारण देती है) तू ऐसी हीरे की कनी है जिसने नई किरण का प्रकाश फैलाया है (जैसे हीर कनी ज्योति फैलाती है, वैसे ही वेदना प्रिय की स्मृति को किरण की तरह प्रकाशित कर बार बार सामने रखती है)। तू प्रिय के बाण की नोक जैसी है, अतः मेरे हृदय को शालती रह, कसक जगाती रह ताकि मुझे अनुभूति तो हो ! (वेदना की अनुभूति होने पर कम से कम यह तो पता चलता रहेगा कि वह जीवित है अन्यथा क्या मालूम सप्राण है या निष्प्राण। वेदना इसलिए काम्य है कि उससे जीवन की अनुभूति तो होती रहेगी !) आँसुओं से निरतर भीगते रहने पर भी मेरी देह ठडी नहीं होगी अर्थात् मैं मरूँगी नहीं। क्योंकि हे वेदने, तू सूर्यकान्त मणि की तरह उसे उष्ण बनाए रखेगी (निरतर भीगने वाली वस्तु अवश्य ठडी होगी पर वेदना द्वारा विरह की अग्नि सुलगती रहेगी अतः उर्मिला का शरीर उष्ण रहेगा ही उसमें प्राण रहेंगे ही। सूर्यकान्त मणि सूर्य की किरणों को समेट कर उष्णता बनाए रखती है। चूँकि वेदना द्वारा भी विरहाग्नि का अनुभव होता है अतः उसे सूर्यकात-मणि कहा गया है। दोनों का गुण एक है।) तू अभाव तथा अदृष्टि के सयोग से उत्पन्न होती है। (प्रिय के अभाव और अदर्शन से ही उचित उपमा (उपमा + उचित + स्तनी) दी जा सकती है (अर्थात् जैसे कोई माता अपने बच्चे को स्तन से चिपकाए रखती है, तूने मुझको अपनी छाती से लगा कर रक्खा है) तू मेरे वियोग की समाधि जैसी है (जैसे योगी समाधि में ध्यानस्थ होकर बाह्य जगत को विस्मरण कर देता है। उसी प्रकार मैं भी अपने होश में नहीं हूँ) मैं तो इस वियोग की दशा में अपने को, प्रिय को, ससार को, सबसे दूर दूर ही देख रही हूँ। तू मेरे लिए मणियों की खान जैसी है—मन जैसा मणिक मैंने तुझी से प्राप्त किया है (खान से मणियाँ निकाली जाती हैं, मन को उर्मिला ने वेदना से प्राप्त किया है।) हे सजनी ! तुझे मैं तभी छोड़ सकती हूँ जब अपने प्राण धन को प्राप्त कर लूँ। (अर्थात् जब तक प्रिय नहीं आते मेरी वेदना भी दूर नहीं हो सकती)।

इसमें कई विशेषताएँ हैं—(१) एक तो यह गीत है जिसका प्रबन्ध-परम्परा में समाहार किया गया है, (२) वेदना जैसे अमूर्त-भाव को मूर्त रूप देकर सजनी तक कहा गया है। बाद में प्रसाद ने चिंता, आशा, श्रद्धा जैसे भावों का मानवीकरण किया। (३) वियोग दशा का वर्णन है, मनोवृत्ति का सुन्दर निरूपण है जब वेदना भी काम्य हो जाती है, (४) विरोधाभास के साथ खिची तनी देखने में मुहावरे का प्रयोग भी है। (५) उपमोचितस्तनी शब्द का प्रयोग चिंत्य है।

कर्ण कटु है। उसने वेदना को "अभाव की आत्मजे" कहा है, प्रसाद ने 'चिंता' को अभाव की "चपल बालिका" कहा है—

'ओ अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा
हरी भरी सी दौड़ धूप, ओ, जल माया की चल रेखा !'

'साकेत' के नवम सर्ग में इसी का अगला गीत है—

'विरह संग अभिसार भी
भार जहाँ आभार भी !
मैं पिंजड़े मे पड़ी हुई हूँ किन्तु खुला है द्वार भी
काल कठिन क्यों न हो किन्तु है मेरे लिए उदार भी !
जहाँ विरह ने मार दिया है किया वहाँ उपकार भी
सुध बुध हरली किंतु दिया है काल ज्ञान विचार भी !
जना दिया है उसने मुझको जन जीवन है भार भी
और मरण वह बन जाता है कभी हिये का हार भी !
जाना मैंने इस उर में थी ज्वाला भी जलधार भी
प्रिय ही नहीं यहाँ मैं भी थी और एक संसार भी !'

उर्मिला कहती है कि सुख और दुःख की स्थिति साथ साथ होती है, भलाई बुराई, विरह-मिलन दूसरों पर भार तथा दूसरों का आभार मिले-जुले रहते हैं। एकांगी वस्तु कहीं नहीं होती। इस शरीर रूपी पिंजड़े में मेरे प्राण बँधे हुए हैं फिर मेरा मन, कल्पना स्वतन्त्र है—जहाँ की सोचना चाहूँ, सोच सकते हैं क्योंकि वस्तुतः मिलन में कैसा सुख-आनन्द होगा—उसकी अनुभूति की तीव्रता विरह में ही ज्ञात होती है। वियोग का काल चाहे कठिन हो (वियोग मय जीवन कठिन होता है) पर मेरे लिए वह उदार भी रहा है (क्योंकि विरह के कारण प्रिय की स्मृतियाँ जाग्रत रहती हैं, इसीलिए मृत्यु नहीं आती ! यह उसी की उदारता है) यदि विरह ने मुझे निचोड़ दिया है—मेरी सम्पूर्ण कोमल अनुभूतियाँ नष्ट कर दी हैं, जीवन को रसहीन कर दिया है, फिर भी मेरे साथ भलाई की है। इस विरह के कारण चाहे मेरी चेतना नष्ट होती रहे–इसी ने मुझे समय समय का विचार करते रहने का ज्ञान भी दिया है (अर्थात् जीवन में कब कैसी परिस्थितियाँ आती हैं, कब उनका सामना कैसे किया जाता है इसका ज्ञान विरह द्वारा ही सम्भव हो सका है। यही उसका उपकार है कि समझे बिना कठिनाई का सामना इस तरह करो) इसी विरह ने मुझे बताया है कि कब मनुष्य का जीवन उसके लिए भार स्वरूप हो जाता

है (जीवन निरन्तर हँस खेल कर बिताने का आनन्द नहीं है) और मरण जैसी भयानक दुर्घटना-स्थिति कभी-कभी मनुष्य को रुचिकर प्रतीत होने लगती है। इसलिए मरण हृदय के हार की तरह काम्य हो जाता है, सुन्दर प्रतीत होने लगता है। (अर्थात् यथार्थ वस्तु स्थिति का ज्ञान विरह से, दुःखावस्था से ही होता है) अब मैं समझ रही हूँ कि मेरे हृदय में ज्वाला भी थी और उसे बुझाने के लिए आँसू भी थे। यथार्थ धरातल में मेरे लिए केवल प्रिय ही प्रिय नहीं थे, मैं भी थी और एक संसार का भी अस्तित्व था। (संसार-सत्ता की प्रतीति वियोग में ही होती है।) सुख के उन्माद में प्रेमी अपने जीवन को ही सर्वस्व समझ बैठते हैं, जगत की विषमताएँ उन्हें दिखाई ही नहीं पड़तीं। लेकिन जब स्वयं अपने पर विपत्ति आती है, दुःख होता है तब दूसरों की स्थिति का ज्ञान भी होता है। इसलिए दुःख-विरह का जीवन में महत्व है, कि वह सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक साम्य कराता है।

विरोधाभास और रूपक का प्रयोग है। 'जना दिया है' क्रिया पूर्वी हिन्दी का प्रयोग है, 'हिया' शब्द भी खड़ी बोली का नहीं है। 'यशोधरा' में गोपा भी कहती है—

'मरण सुन्दर बन आया री।'

उर्मिला चातकी से बोलने को कहती है—

'कहती मैं चातकि, फिर बोल
ये खारी आँसू की बूँदे दे सकतीं यदि मोल।
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल ?
फिर भी फिर भी इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल
श्रुति पुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल
देख, आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल।
जाग उठे हैं मेरे सौ सौ स्वप्न स्वयं हिल-डोल
और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल-खगोल।
न कर वेदना सुख से वञ्चित, बढ़ा हृदय-हिंदोल
जो तेरे सुर में सो मेरे उर में कल-कल्लोल।'

हे चातकी यदि मेरे आँसू मूल्य चुका सकते तो मैं तुझ से बोलने को अवश्य कहती अर्थात् मैं आँसुओं द्वारा भी तेरे मधुर स्वर का बदला नहीं चुका सकती। तेरे स्वरों की बराबरी तो मोती भी नहीं कर सकते। तब आँसू कैसे कर सकते हैं ! फिर भी मेरा मन कहता है चाहे मूल्य न चुकाया जा सके, तुझे मधुर

वाणी द्वारा रस संचार करना ही चाहिए। पूर्व जीवन की स्मृतियाँ यहाँ साकार-सशरीर होकर आ खड़ी हुई हैं। वे बड़ी उत्सुकता से अपना वस्त्र फैला कर खड़ी हैं (अर्थात् स्मृतियाँ अत्यधिक सचेत होकर मन में घुमड़ रही हैं) उसके मुरझाए हुए पीले कपोल लाल हो गए हैं (जब लज्जा आती है या एकाएक सिहरन होती है तो मुखमण्डल पर ललाई छा जाती है। अर्थात् अभी तक स्मृतियाँ किसी कोने में दबी हुई थीं अब बारबार उमड़ कर बेचैन करने लगी हैं) मेरे अनेक भाव स्वयं जाग खड़े हुए हैं—अर्थात् नाना प्रकार के भाव उत्पन्न हो रहे हैं—इतनी तीव्रता से मानो रूप धारण कर स्वयं खड़े हो रहे हों ! अन्तर्जगत में भावों की ऐसी उथल पुथल होते हुए भी मेरे लिए बहिर्जगत् शून्य सा है अर्थात् जीवन जगत की कोई वस्तु मुझे रुचिकर प्रतीत नहीं होती। प्रिय के कारण सर्वत्र अभाव ही अभाव लक्षित होता है। वेदना मेरे लिए सुख-मूलक है। अतः तू अपनी पुकार से उसका स्मरण कराती रह, (बात यह है कि चातक की "पी कहाँ पी कहाँ" की रटन उर्मिला की विरह भावना को उद्दीप्त कर रही है। इसकी व्यजना वह घुमा फिरा कर यहाँ कर रही है कि तू गाती रह जिससे मुझे विरहानुभूति हो जो मेरे लिए सुखद है क्योंकि प्रिय की स्मृतियाँ—बीती जीवन की मधुर घड़ियाँ याद आती हैं !) तू हृदय साम्य स्थापित करती रह ! जो तेरे हृदय में सुन्दर कल्लोल अर्थात् स्वर में है वही मेरे हृदय में भी ! तू अनुराग के कारण गाती है, मैं भी अनुराग के कारण विरह-वेदना झेलती हूँ !

यहाँ विरह की व्यापकता व्यंजित है। उर्मिला अपने हृदय का भाव-साम्य चातकी के हृदय से कर रही है। 'बच्चन' ने बादलों से रागात्मक सामजस्य किया है—

'आज मुझसे बोल बादल !
तम भरा तू तम भरा मैं
गम भरा तू गम भरा मैं
आज तू अपने हृदय से हृदय मेरा तोल बादल !

आग तुझमें आग मुझमें
राग तुझमें राग मुझमें
आ मिलें हम आज अपने द्वार उर के खोल बादल !'

दूसरी विशेषता है भावों का मानवीकरण ! स्मृतियाँ स्वयं श्रुति रूपी पुट लेकर खड़ी हो जाती हैं और भाव हिल डोल कर जाग उठते हैं। ये दोनों

पंक्तियाँ छायावादी शैली का स्मरण करा देती हैं जहाँ "इच्छाओं के सोने से शर" होते हैं अभिलाषाओं की करवट लेने पर सुप्त व्यथाएँ जाग उठती हैं।

'दरसो, परसो घन, बरसो।
सरसो जीर्ण शीर्ण जगती के तुम नव यौवन, बरसो।
घुमड उठो आषाढ, उमड रुग पावन सावन बरसो।
भाद्र भद्र, आश्विन के चित्रित हस्ति स्वाति धन, बरसो।
सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन ताप विभंजन बरसो
व्यग्र उदग्र जगज्जननी के, आर्य अग्र स्तन बरसो।
गत सुकाल के प्रत्यावर्तन हे शिखि नर्तन, बरसो
जड चेतन में बिजली भर दो ओ उद्बोधन, बरसो।
चिन्मय बनें हमारे मृण्मय पुलकांकुर बन, बरसो
मंत्र पढो, छींटे दो, जागे सोये जीवन, बरसो।
घट पूरो त्रिभुवन मानस रस, कन कन छन छन, बरसो
आज भीगते ही घर पहुँचे जन जन के जन, बरसो।'

वर्षा ऋतु का वर्णन है। उर्मिला कहती है—हे मेघ तुम दर्शन दो, स्पर्श करो और धरती पर बरसो। ग्रीष्म में धधकती पृथ्वी -जो जीर्ण शीर्ण हो चुकी है—उसके लिए तुम नव यौवन की तरह हो। जैसे यौवन में सरसता, मस्ती आ जाती है वैसे ही धरती को सरस बनाओ। आषाढ़ सावन महीनों के, भाद्र में भद्र नक्षत्र तथा आश्विन में चित्रित हस्ति, स्वाती नक्षत्र के तुम घन हो (इन्हीं चार महीनों व नक्षत्रों में सर्वाधिक पानी बरसता है। सृष्टि के नेत्रों के लिए तुम सुन्दर अंजन की तरह क्या ताप को दूर करने वाले हो तुम बरसो (अंजन लगाने से तरलता, शांति व सुन्दरता आ जाती है। मेघ की सृष्टि के लिए अंजन की तरह गुणकारी कहा है।) तुम इस संसार रूपी व्यग्र जननी के ऊपर को उठे हुए (उदग्र) उग्र स्तन की तरह हो। (जैसे स्तन ऊपर को उठे रहते हैं वैसे तुम बादलों के बीच ऊपर को उठे हुए हो। श्यामल बादलों में उमड़ते हुए बादलों की तुलना किसी माता के स्तनाग्र से की गई है। स्तन का अगला भाग भी श्यामलता लिए होता है, बादलों का उमड़ता हुआ अगला भाग भी श्यामल है।) तुम बीते हुए समय के प्रत्यावर्तन हो—बतला रहे हो कि बीता हुआ काल—जब सरसता हरियाली फैली हुई थी—फिर लौट आया है। तुम मोरों को नचाने वाले हो (जब वर्षा, ऋतु आती है तो मेघों को उमड़ते देखकर मोर नाचने लगते हैं।) इसलिए तुम बरसो। तुम उद्बोधन

की तरह जड़ चेतन में पुनः नई स्फूर्ति का सचार कर दो (ग्रीष्म के कारण सब निष्प्राण से हो गए हैं तुम पुनः उत्साहित करो। मिट्टी में पड़े हुए बीज जिस तरह तुमसे पानी पाकर फूटने लगते हैं तुम हमारे अन्दर उल्लास, हर्ष भी भर दो। (पृथ्वी में जब अंकुर फूटते हैं तो मानो वे पृथ्वी का उल्लास ही सूचित करते हैं;) तुम मंत्र पढ़ते हुए छींट दो जिससे सोया हुआ जीवन जाग उठे—हम कार्यों में अधिक तत्परता से लग्न हो जाँय। (जैसे मंत्र पढ़कर, अभिषिक्त जल के छींटे देकर अचेत व्यक्ति को सचेत किया जाता है उसी भाँति तुम जग-जीवन को चैतन्य करो।) तीनों लोकों के हृदय-रूपी घट-वर्तन को तुम रस से भर दो। ग्रीष्म ऋतु में सबके हृदय शुष्क हो गए हैं। उन्हें सरस करो और तुम कन कन छन छन करके बरसते रहो। तुम इतना बरसो कि सब भीगते-भीगते—अर्थात् तुमसे रसयुक्त होकर ही घर पहुँचे। और तुम बरसते जाओ।

यह गीत कई दृष्टियों से बहुत सुन्दर है। (१) एक तो पावस ऋतु के चारों महीनों का नक्षत्रों के सहित वर्णन हो गया है। (२) लक्षणा का प्रयोग भी है। आषाढ़-सावन से बरसने का तात्पर्य उन महीनों में बादलों से है। (३) अनुप्रास के सुन्दर निर्वाह के साथ रूपक भी प्रयुक्त है। (४) जगज्जननी शब्द साभिप्राय है। गर्भवती स्त्री के स्तन का नुकीला भाग ही अधिक श्यामल होता है। (५) 'बरसो' शब्द की आवृत्ति शब्द-ध्वनन द्वारा यथार्थ चित्र उपस्थित करती है और "कन कन छन छन बरसो" से तो लगता है टपाटप बूँदें गिरती जा रही हों जैसे पन्त ने लिखा है—"दादुर टर टर करते, झिल्ली करती झन झन!" (६) तुक मेल द्वारा नाद सौंदर्य भी निखर उठा है। अंजन, रंजन, विभंजन, स्वामि घन, अग्र स्तन आदि। इस गीत में माधुर्य गुण सबसे अधिक है। भाषा तो गुप्त जी के संकेत पर नाचती हुई प्रतीत होती है।

केशव ने भी वर्षा-ऋतु की कालिका नायका का रूप देते हुए बादलों को पयोधर बनाया है—

'भौंहें सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूखन जराय जोति तड़ित रलाई है!'

पन्त जी ने भी गुप्त जी की भाँति मेघ को "मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर" कहा है!

'मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर, सुभग स्वाति के मुक्ताकर।
विहग वर्ग के गर्भ विधायक, कृषक बालिका के जल धर!' आदि।

"इस कविता में रसिकगत सामग्री का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर उसका अध्याहार कर लिया जाता है। जैसे (१) आलंबन इसमें लक्ष्मण हैं, (२) उद्दीपन है अँधेरे में चुपचाप खड़ा होकर उर्मिला का विलास देखना। इसमें बूँदों का पड़ना आदि को भी उद्दीपन में सम्मिलित किया जा सकता है। (३) अनुभाव हैं हर्ष जनित शारीरिक चेष्टा आदि। (४) संचारी हैं हर्ष, वेग, गर्व आदि। (५) रति स्थायी है।

"इसमें जैसे उर्मिला को लेकर लक्ष्मण को आनन्द है वैसे ही लक्ष्मण को लेकर रसिकों को। यहाँ अनुभाव आदि कथित नहीं, पर कवि-अभिप्रेत समझ कर यहाँ कथित अनुभाव और संचारी को अध्याहार कर लिया गया है।"

'निरख सखी ये खंजन आए,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाए!
फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाए,
घूमें वे इस ओर वहाँ ये हंस यहाँ उड़ छाए!
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाए,
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बंधूक सुहाए!
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाए,
नभ ने मोती वारे लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाए?'

शरद ऋतु का वर्णन करती हुई उर्मिला अपनी सखी से कहती है—देख सखी ये खंजन पक्षी उड़ कर आ रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे उन प्रियतम ने अपने नेत्र इधर को घुमाए हैं। (नेत्रों की तुलना खंजन पक्षी से दी जाती है। उर्मिला को इन पक्षियों में प्रिय के नेत्रों का आभास मिल रहा है।) उनके शरीर की तपस्या (धूप के रूप में) फैल रही है और उनके मन ने सरोवरों को सरस बना दिया है (यह जो धूप चमकीली होकर फैल रही है, यह उनकी तपस्या का उज्ज्वल रूप है। तपस्या की उज्ज्वल चमक = चमकीली धूप) या जिसे देख कर मेरा मन रूपी सरोवर सरस हो गया है (सरोवर का पानी धूप की चमक में अत्यन्त आकर्षक मधुर प्रतीत होता है।) ये जो हंस यहाँ उड़ रहे हैं, इनसे मालूम होता है वे इधर की ओर वहाँ वन में मुड़े होंगे। उनकी गति तथा हास्य का आभास इन हंसों से हो रहा है। (हंस की चाल से उनकी चाल का आभास, हंस के श्वेत रंग से उनकी हँसी का आभास—क्योंकि हँसी का रंग भी स्वच्छ श्वेत माना गया है) आज मेरा स्मरण करके वे वन में अवश्य मुसकाए होंगे जिसका पता इन हँसों से चल रहा है। कमल के पुष्प तथा

उनके होठों की तरह लाल लाल ये दुपहरिया के फूल भी खिल कर शोभित हो रहे हैं। (दुपहरिया का फूल लाल होता है जिसमें प्रिय के अधरों की लालिमा का आभास हो रहा है) हे शरद ऋतु! मैं तुम्हारा स्वागत करती हूं। मेरे बड़े भाग्य थे जो तुम्हारे दर्शन हुए। (तभी तो शरद के विभिन्न उपकरणों द्वारा प्रिय के अंगों का आभास मिला है, इसलिए उर्मिला को स्वागत करना ही चाहिए) आकाश ने भी (ओस की बूंदों के रूप में) मोती तुम्हारे स्वागतार्थ निछावर किए हैं (बरसाए हैं)। मेरी भेंट भी स्वीकार करो—मैं आँसुओं का अर्घ्य देकर तुम्हारा स्वागत कर रही हूँ! (वियोगिनी के पास आंसू के अतिरिक्त और देने को होता भी क्या है?)

कबीर ने भी एक स्थान पर लिखा है—

'पिया मोर एहैं, पगा राखि हैं, आँसू भेट दे हौं नैन का!'

जायसी को भी प्रकृति में उसका रूप दीखता है—

'नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर,
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर!'

केशव के राम को भी वर्षा ऋतु में सीता के अंगों का ध्यान हुआ है—

'कल हंस, कलानिधि, खंजन, कंज;
कछू दिन 'केसव' देखि जिए।
गति, आनन, लोचन, पॉयन के,
अनुरूपक से मन मानि लिए!'

एक कवित्त में उर्मिला ने फिर संयोग का वर्णन स्मृति रूप में किया है—

'आए सखि, द्वार-पटी हाथ से हटा के प्रिय,
वंचक भी वंचित से कंपित विनोद में।
'ओढ़ देखो तनिक तुम्हीं तो परिधान यह',
बोलो, डाल रोमपट मेरी इस गोद में॥
क्या हुआ, उठी मैं झट प्रावरण छोड़ कर,
परिणत हो रहा था पवन प्रतोद में।
हर्षित थे तो भी रोम रोम हम दंपति के,
कर्पित थे दोनों बाहु बंधन के मोद में!'

अपनी सखी से कहती है कि एक बार प्रियतम अपने हाथ से दरवाजे का कपड़ा (परदा) हटा कर भीतर आए। वे तो स्वयं चतुर—दूसरों का मन मोह लेने वाले—लेकिन उस समय स्वयं ठगे हुए-से थे। मेरी इस गोद में ऊनी

वस्त्र डाल कर बोले—जरा तुम इस वस्त्र को ओढ़ कर तो देखो। तो हुआ यह कि मैं तुरन्त अपनी ओढनी हटाकर उठी हवा उस समय इतनी तेज चल रही थी कि चाबुक जैसी लग रही थी तो भी हम लोगों के रोम रोम खिल रहे थे, और हम दोनों परस्पर एक दूसरे की भुजाओं में आबद्ध होकर आनन्द प्राप्त कर रहे थे। इस वर्णन की विशेषता यह है कि वियोगावस्था में यह स्मृति रूप में वर्णन और घनीभूत वेदना जाग्रत कर देता है। एक तो इससे 'स्मृति' सचारी का काम लिया गया। दूसरे यदि सयोगावस्था का ऐसा प्रत्यक्ष वर्णन आता तो काव्यात्मकता कम हो जाती—रीतिकालीन वर्णन हो जाता जहाँ नायक नायिका लिपटे पड़े रहते हैं। गुप्त जी ने अश्लीलता को बचा लिया है।

'शिशिर, न फिर गिरि-वन में,
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन मे।
कितना कंपन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में,
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में ?
वीर, जमादे नयन नीर यदि तू मानस-भाजन में,
तो मोती सा मैं अकिंचना रक्खूँ उसको मन में।'
हँसी गई, रो भी न सकूँ मैं—अपने इस जीवन में,
तो उत्कण्ठा है, देखूँ फिर क्या हो भाव-भुवन में ?'

शिशिर ऋतु को सबोधन करती हुई उर्मिला कहती है। हे शिशिर तू पहाड़ों जगलों में व्यर्थ मत घूम क्योंकि तुझे जितना पतझड़ चाहिए मैं अपने शरीर रूपी नन्दन वन से तुझे दे दूँगी (जब शिशिर को एक ही स्थान पर मनोनुकूल पतझड़ मिल जाएगा तो वह अन्यत्र जाएगा ही क्यों ?) तुझे जितना कपन चाहिए ले मेरे शरीर से ले ले। शिशिर में शरीर ठिठुरता है, उर्मिला प्रिय वियोग में निरन्तर कपित रहती है।) मेरी सखी कहती है क्या मेरे वदन (मुख) में क्या पीलेपन का अभाव है ? अर्थात् नहीं है (शिशिर में सारी प्रकृति पीली पड़ जाती है। उर्मिला कहती है मैं तुझे पीलापन भी अपने मुख से दे सकती हूँ।) हे भाई ! यदि तू मेरे हृदय रूपी वर्तन में नेत्रों के नीर—आँसुओं को जमा दे तो मैं उन आँसुओं को मोती की तरह सँजोए रक्खूँगी (पानी को जिस तरह वर्तन में जमाया जाता है, उस तरह आँसुओं को हृदय में जमा देने के लिए कह रही है। हृदय से ही वे उत्पन्न होते हैं। तब मोती से जमे हुए आँसुओं की तुलना ठीक ही है।) उर्मिला कहती है जैसे कोई अकिंचन मोती

को बड़े यत्न से सँभाल कर रखता है, मैं भी आँसुओं को समेट रखूँगी—जब प्रिय आएँगे तो उन्हें भेंट में दूँगी। हँसी तो मेरी नष्ट हो ही गई (क्योंकि प्रिय के विरह में सब उल्लास समाप्त हो गया है) अभी तक रोना ही भाग्य में शेष था—अब तू आँसुओं को भी जमा दे—तो मेरा रोना भी रुक जाएगा। न हँसी रहेगी, न रोना! तब मैं यह जानने की उत्सुक हूँ कि अनुभूति मेरे जीवन में किस प्रकार की होगी! (जीवन की अनुभूतियाँ हास्य रुदन, सुख दुःख को लेकर ही होती हैं—जब दोनों की सत्ता नष्ट हो जाएगी—तब कैसी अवस्था हो सकती है—इसका अनुभव उर्मिला करना चाहती है! भाव रूपी भुवन अर्थात् भाव लोक में तब कैसा होगा?)

इस गीत की एक तो विशेषता है संबोधन पद्धति। कृशता, कंपन, दुर्बलता की अधिकता व्यंजित है। इतनी अधिक कि वह शिशिर को भी उनमें से मनोनुकूल भाग देने को तैयार है! रसानुभूति के अतिरेक में उसे, वीर! (भाई) तक कहा गया है। रूपक, वक्रोक्ति, उपमा, अनुप्रास अलंकारों की छटा तो है ही, तुकों का भी उत्तम निर्वाह है! घनानन्द ने भी पवन को भाई! कह कर संबोधित किया है—

'एरे वीर पौन! तेरो सबै ओर गौन?'

'मुझे फूल मत मारो!
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो!
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो!
नहीं भोगिनी यह मैं कोई जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिंदूर बिंदु यह-यह हर नेत्र निहारो!
रूप दर्प कंदर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो!'

उर्मिला कामदेव से प्रार्थना करती है तुम मुझे फूल मत मारो (कामदेव के पाँच बाणों में एक बाण पुष्प भी है) क्योंकि तुम्हारे पुष्प प्रहार से मेरी विरहाग्नि और धधक उठती है। जिस तरह बाण चुभने से कष्ट होता है, उसी तरह वसंत ऋतु में फूलों के उत्फुल्ल स्वरूप को देखकर भी! तुम कुछ तो दया करो—मैं अबला नारी हूँ और वियोगिनी हूँ फिर क्यों मेरे मन में नाना प्रकार के भोग विलासों की लालसा उत्पन्न कर रहे हो! इसलिए फूल मत मारो! हे

कामदेव ! तुम तो वसत ऋतु के मित्र कहे जाते हो (वसत के साथ साथ काम की भावना भी उत्पन्न होती है। उसे वसत का सहचर कहा गया है) तुम चतुर हो, फिर मुझ पर ऐसे कटु विष की वर्षा—अर्थात् निर्दयता क्यों कर रहे हो ! (मित्र होकर तो तुम्हें मुझ से सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए, न कि विष जैसी वेदना उत्पन्न करना) यदि तुम ऐसा ही करते रहोगे तो मेरी व्याकुलता बढ़ती जाएगी, तुम्हें भी अपने श्रम में कोई सफलता नहीं मिलेगी क्योंकि कितनी ही व्याकुलता होने पर भी मैं आर्य नारी के धर्म से विचलित नहीं हूँगी। तब तुम व्यर्थ श्रम क्यों करते हो ? रुको और अपना परिश्रम दूर करो। यदि तुम सोचते होगे मुझ विरहिणी पर तुम्हारा प्रभाव चल जायगा तो व्यर्थ की आशा है। मैं विरहिणी होने पर भी भोगिनी नहीं हूँ जो तुम अपना जाल-सा फैला रहे हो ! यदि तुम्हें अपनी शक्ति का घमण्ड है (कि प्रभाव डालूँगा ही) तो मेरी सिंदूर रेखा को जरा देख लो। यह शिव के तीसरे नेत्र की तरह है जो क्रुद्ध होते ही तुम्हें जलाकर भस्म कर देगा। (सिंदूर बिंदु को शिव नेत्र कहा गया है। मैं अपने प्रियतम को ही सर्वस्व मानती हूँ जिसका चिह्न यह सिंदूर है, अतः मुझ पर तुम्हारा प्रभाव तो क्या पड़ेगा कहीं तुम्हारा अस्तित्व ही समाप्त न हो जाय !) यदि तुम्हें अपने सौन्दर्य का घमण्ड है (कि मैं बहुत सुन्दर हूँ) तो उसे मेरे पति पर न्योछावर कर दो (वे उससे कहीं अधिक सुन्दर हैं ! यदि तुम्हें रति के प्रेम का घमण्ड है तो मेरी चरणों की धूल उसके मस्तक पर रखो (अर्थात् उसका प्रेम मेरी चरणों की धूल के बराबर नहीं है।

इसकी विशेषता यह है कि काम को बुरी तरह उर्मिला ने फटकारा है। श्लेष का प्रयोग है (१) 'मधु' के दो अर्थ हैं—वसत और मधुर रस, ('रति' के भी दो अर्थ हैं—कामदेव की स्त्री और प्रेम। 'परिहारो' शब्द वस्तुतः 'परिहार करो' के स्थान पर छन्द बधन के कारण रूप बदल कर प्रयुक्त हुआ है। मित्रता के स्थान पर प्रेम में विष देने का उल्लेख घनानद ने भी किया है—

'रस प्याय के ज्याय बढ़ाय कै आस,
विसास में यों विष घोलिए जू !'

विरहावस्था में भोगिनी न होने का उल्लेख जायसी की 'नागमती' ने भी किया है—

'मोहि भोग सों काज न बारी, सौंह दिस्टि की चाहन हारी !'

और विद्यापति की राधा भी कामदेव से दया की प्रार्थना करती है—

'कत न वेदन मोहि देसि मदना, हर नहिं वाला युवति जना।'

एक अंतर्कथा का उल्लेख भी हुआ है जब शिवजी ने तीसरा नेत्र खोल कर कामदेव को भस्म कर दिया था!

'अब जो प्रियतम को पाऊँ।
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ!
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ।
ऊषा सी आई थी जग में संध्या सी क्या जाऊँ?
श्रांत पवन से वे आवें, मैं सुरभि समान समाऊँ!
मेरा रोदन मचल रहा है कहता है, कुछ गाऊँ।
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ?
इधर अनल है और उधर जल, हाय! किधर मैं आऊँ!
प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट, कह तो हा हा खाऊँ!'

इसकी प्रमुख विशेषता वस्तुतः आदि व्यजना की नवीनता है। 'हा हा खाना' मुहावरा है, ऊषा, संध्या—आशा, निराशा के लिए प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'अभिलाषा' की व्यंजना है जो वियोग की ग्यारह दशाओं में एक है। रोदन का मचलना भाव के मूर्तीकरण का उदाहरण है जैसे बच्चा मचल मचल कर रोता है। शैली ने भी कहा है—' They learn in suffering what they teech us in song." "गान कहता है"—में मानवीकरण है। "इधर अनल है और उधर जल" भी मुहावरा है। सहल जी ने इस गीत का अर्थ अपनी टीका—"काव्य वैभव' में इस प्रकार किया है—

"विरहिणी किस प्रकार प्रिय दर्शन की इच्छा प्रकट करती है यह नीचे के गीत में पढ़िए............काव्य में सर्वत्र तार्किक बुद्धि का आश्रय लेने से सम्यक रसास्वादन नहीं हो सकता। उर्मिला स्वयं अवधि बन कर अपने आपको मिटाने के लिए तैयार है। कोई यदि तर्क का सहारा लेकर यह कहने लगे कि जब उर्मिला स्वयं अवधि बन कर अपने आपको मिटा देगी तब फिर प्रिय से मिलेगी क्या खाक? तो उस तार्किक की तर्क बुद्धि पर कोई आश्चर्य नहीं करेगा किन्तु तर्क और काव्य का अनुशीलन दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। हेत्वाभास के कारण किसी शुष्क तार्किक को चाहे इन पंक्तियों में आनन्द न मिले, इनको असत्य कह कर चाहे वह इनकी खिल्ली उड़ाए किंतु कोई भी सहृदय पाठक इस रसात्मक उक्ति से आनंद उठाए बिना नहीं रह सकता! काव्य में हेत्वाभास

भी आनन्द का कारण हो जाता है ! ऊपर की पक्तियों में प्रिय-दर्शन का औत्सुक्य व्यजित हुआ है।

"उर्मिला कहती है·········उषा के समान कांति, प्रफुल्लता और जागृति लेकर मैंने ससार में प्रवेश किया था, क्या सध्या की सी उदासी लेकर मैं यहाँ जाऊँ ? मैं तो चाहती हूँ कि मेरे प्रियतम मद पवन की तरह आवें और मैं पवन में सुगध के समान धीरे से प्रिय में लीन हो जाऊँ !" 'हार्दिक दु'ख शब्दों द्वारा व्यक्त होना चाहता है किंतु उधर शब्द कहते हैं कि जब तक दुःख पूर्णतः प्रकट नहीं होगा, हम नहीं निकलेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि हृदय को द्रवीभूत होने पर ही सच्ची कविता फूटती है।

"मचल रहा है"—लाक्षणिक प्रयोग है। बच्चा जैसे किसी चीज के लिए मचल उठता है, उसी तरह यहाँ भी दु:ख का आवेग अभिव्यक्ति के लिए तड़प रहा है। 'रोदन' का यहाँ पर मानवीकरण हुआ है, ऐसा लगता है जैसे रोदन उर्मिला का कोई हर्ष शिशु हो जो किसी वस्तु के लिए मचल उठा है। रोदन हठ करता है कि मुझे गान चाहिए, उधर गान भी कितना महेतुक उत्तर देता है—"रोदन आवे तो मैं आऊँ" (नहीं तो आए मेरी बला) यहाँ पर गान का भी मानवीकरण ही समझिए। उक्त पक्तियों में दो बच्चों के शिशु सुलभ व्यवहार की प्रतीति सी भी हो रही है। बच्चे भी तो इसी प्रकार हठ किया करते हैं— "वह जब नहीं आता तो मैं ही क्यों आऊँ ? मुझे ही क्या पड़ी है ?" शिशुओं की इस सामान्य तर्क पद्धति से कौन ऐसा विज्ञ पाठक है जो अपरिचित है ? तो फिर 'रोदन' और 'गान' क्या उर्मिला के दो सफल हठी शिशु हैं ?

"पुराकाल में आदि कवि का रोदन जब मचल उठा था, तब अनायास ही उनका सगीत निम्नलिखित छन्द के रूप में मुखरित हो उठा था—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम गमः शाश्वतीः समा'।
यत्क्रौंच मिथुना देक मवधीः काम मोहितम् ॥'

"महाकवि कालिदास के शब्दों में कवि का शोक ही श्लोक बन गया था— "श्लोकत्व मा पद्यत यस्य शोक !" इसी तथ्य को हिन्दी के स्वनाम धन्य कवि श्री सुमित्रानदन पन ने निम्नलिखित अमर पक्तियों में जड़ दिया है।

'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान ॥'

जिस प्रकार गुप्त जी ने यहाँ रुदन के अतर्गत गाने की व्यवस्था की है उसी प्रकार यशोधरा के एक गीत में भी कहलाया है—

'रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान ?'

उषा की भाँति आने का, संध्या की भाँति जाने का विचार इसी तरह पंत जी ने भी प्रकट किया है—

'कब से विलोकती तुमको, ऊषा आ वातायन से।
संध्या उदास फिर जाती, सूने गृह के आँगन से !'

उर्मिला अपने को इस संसार-सागर की एक नवीन तरंग बतलाती हुई कहती है—

'उठ अवार न पार जाकर भी गई,
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई।
अटक जीवन के विशेष विचार में,
भटकती फिरती स्वयं मँझधार में।
सहज कर्षण कूल, कुंज, कछार में,
विषमता है किन्तु वायु विकार में॥
और चारों ओर चक्कर हैं कई,
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई।
पर विलीन नहीं, रहूँ गतिहीन मैं,
दैन्य से न दबूँ कभी, वह दीन मैं।
आर्त अवश हूँ, किन्तु आत्म अधीन मैं,
सखि, मिलन के पूर्व ही प्रिय-लीन मैं !
कर सका सो कर चुका अपना दई,
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई !'

जो सागर के इस छोर से उठ कर भी—उस दूसरे छोर तक नहीं पहुँच सकी (बीच में ही रह गई) मैं ऐसी लहर हूँ। (अब वह कारण बतलाती है कि मैं क्यों रुकी) जीवन के (जल समूह के) विशेष विचार (आघात) में अटक कर मैं स्वयं मँझधार में भटकती फिरती रही। (जिस प्रकार लहर पानी में भँवर आदि के कारण रुक जाती है उस प्रकार जीवन की परिस्थितियों के बीच पड़ कर मेरी गति रुक गई और मैं रुकी रह गई। परिस्थितियाँ ही मनुष्य को जीवन की उन्नति में अग्रसर करती हैं और रोक भी देती हैं) सागर के दोनों किनारों में कुंज और कछारों में सहज रूप से आकर्षण है अवश्य, फिर भी वायु-विकार—हवा द्वारा परिवर्तन के कारण विषमता उत्पन्न हो ही जाती

है वे उतने आकर्षक नहीं लगते (कहने का तात्पर्य है कि कुज कछार कभी तो सुन्दर मनमोहक लगते हैं—वसन्त आदि में, पर कभी नहीं लगते—पतझर आदि में। यह ऋतु परिवर्तन वायु विकार से ही होता है। वसन्त में हवा सुखद लगती है, शिशिर में काट खाने आती है) और चारों ओर कई चक्कर हैं (जीवन में उतार चढाव और सागर में भँवर) मैं ऐसी विचित्र लहर हूँ।

फिर भी—ऐसी विषम परिस्थिति में भी—मैं विलीन होना नहीं चाहती। अपना अस्तित्व नष्ट नहीं करना चाहती। निरुपाय होकर भी ससार की विलोम गति में अटक नहीं सकती। मैं दीन हूँ अवश्य पर ऐसी नहीं जो दीनता से घबड़ा उठे। मैं दृढ हूँ। इस समय है तो विवशता—मैं लाचार हूँ—फिर भी अपने मन, हृदय तथा आत्मा पर मेरा अधिकार है, उन्हें मर्यादा से बाहर नहीं होने दिया है। हे सखी! मैं मिलन से पहले ही अपने प्रिय में मिली हुई हूँ। अर्थात् भौतिक जगत में चाहे वे मुझसे दूर हैं, मिलन उनके आने पर ही हो सकता है, लेकिन अन्तर्जगत में मानसिक रूप से मै उनमें मिली हुई हूँ (क्योंकि उर्मिला को निरतर प्रिय का स्मरण होता रहता है!) दैव को जो कुछ करना था वह तो कर ही चुका। जितना भी कष्ट देना उसके हाथ में था, उसने दिया ही है पर मैं साधारण पात्र नहीं हूँ जो घबड़ा जाऊँगी!

यहाँ विचित्र लहर इसलिए कहा गया है कि सामान्यतः लहर सागर में चक्करों में भटक भटक कर पथ भ्रष्ट दीनता में सिर झुका देते हैं, विवश हो जाते हैं और कुछ का कुछ कर बैठते हैं। पर उर्मिला दीन होने पर भी, अटकी हुई लहर होने पर भी पथभ्रष्ट नहीं है उसका जीवन अपवाद स्वरूप (exceptional case) है। भाग्य को जो कुछ करना है वह तो करेगा ही—पर मनुष्य क्यों उसके सामने घुटने टेक दे? बारबार बाधा पड़ने पर भी पुरुषार्थ नहीं छोड़ना चाहिए। जीवन में तो विषमताएँ आती रहती हैं फिर उनसे क्या घबड़ाना। मनुष्य को कर्मण्य होना चाहिए—भाग्य को ही सब कुछ समझते हुए हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैठे रहना चाहिए। यही जीवन सदेश उपर्युक्त गीत में उर्मिला ने दिया है। मिलाइए—

'ओ झेलता ही आया हूँ, जो आवेगा सह लेंगे।'

× × × ×

'तुमने हँस हँस मुझे सिखाया, विश्व खेल है खेल चलो।'

(कामायनी)

प्रिय से पूर्व मिलन की चर्चा महादेवी वर्मा ने भी की है—

'चिर लीन विरह पुलिनों की, सरिता हो मेरा जीवन,
प्रतिपल होता रहता हो, युग कूलों का आलिंगन !'

× × × ×

'एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ !'

इसी कारण—

'नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ,
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।'

उर्मिला के उपर्युक्त गीत में 'जीवन' और 'चक्कर' शब्दों के दो दो अर्थ हैं अतः श्लेष अलंकार है।

कवि ने पहले भी उसके पूर्व सयोग का उल्लेख किया है—

'आँखों में प्रिय मूर्ति थी, भूले थे सब भोग।
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम वियोग !'

× × × ×

'पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे !
छींटें वहीं उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे ?'

मेरे चपल यौवन बाल !
अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल।
बीतने दे रात, होगा सुप्रभात विशाल,
खेलना फिर खेल मन के पहन के मणि-माल !
पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे सुरम्य रसाल,
डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल।
मन पुजारी, और तन इस दुःखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !'

यहाँ उर्मिला अपने चचल यौवन रूपी बालक को सबोधित करके दुलराती हुई कहती है अरे मेरे चचल यौवन रूपी बालक ! तू चुपचाप, स्थिर होकर मेरे अंचल में सोता रहा, बीच बीच में मचल कर कष्ट मत दे (जैसे माता की गोद में सोया हुआ बालक हिल डुल कर उसे कष्ट देता है वैसे ही यौवन की कसक भी उर्मिला को कभी कभी बेचैन कर देती है) बेचारी क्या करे ! युवावस्था में प्रिय का अभाव भोग विलास की तीव्र आती जा रही है (प्रिय के आने के दिन

निकट हैं) तेरे जीवन का भी सुन्दर प्रभात होगा (प्रभात में नई आकांक्षा, उमगें उत्पन्न होती हैं—यौवन के लिए भी आशा है) तब तू मन के खेल खेलना—जो कुछ भी तेरी मनोवांछाएँ होंगी-उन्हें अच्छी तरह पूर्ण कर लेना। तेरा भाग्य-रूपी फल सरस आम की भाँति पक रहा है (जैसे आम मीठा रस देता है तेरा भाग्य भी सुन्दर सरस जीवन लग रहा है। तुझे डरने की आवश्यकता नहीं (इसलिए डरना कि कहीं मेरी इच्छाएं अतृप्त ही न रह जाँय।) समय आ रहा है और बुरा अदृष्ट का समय बीत रहा है। मेरा मन एक पुजारी की तरह है, और शरीर थाली की तरह जिसमें प्रियतम को भेंट देने योग्य तू ही उपयुक्त मणि की तरह है। (शरीर रूपी थाली में, मन रूपी पुजारी, यौवन रूपी लाल (मणि) को रख कर लक्ष्मण को भेंट कर देगा। बड़े आदमियों के आने पर कुछ न कुछ भेंट देनी ही चाहिए! चौदह वर्ष के उपरान्त प्रिय लौटेंगे। सभी लोग अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ भेंट चढ़ाएगे! उर्मिला कहती है मेरे पास उन जीवन धन को अर्पित करने के लिए यौवन से श्रेष्ठ अन्य बहुमूल्य वस्तु क्या है! कुछ नहीं। अतः मैं यौवन की भेंट देकर ही उनका स्वागत करूँगी।)

श्लेष और रूपक का सुन्दर निर्वाह हुआ है। वस्तुतः ऐसे अलकार ही काव्य के शोभात्मक होते हैं। 'लाल' शब्द यौवन के लिए भी आया है—बालक को लाल कहा ही जाता है—और मणि के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। पुजारी द्वारा भेंट अधिक पावन, शुद्ध व शातिप्रद होगी और उर्मिला चौदह वर्ष पुजारी की भाँति प्रियतम रूपी देवता की साधना भी करती रही है। अतः रूपक बहुत उत्कृष्ट है। 'भाग्य-फल', 'यौवन-लाल' में भी रूपक है। बसन्त ऋतु का वर्णन है अतः यौवन की कमक तथा आम के पकने का वर्णन करना स्वाभाविक है। 'मन के खेल खेलना' मुहावरा है जिसका प्रयोग 'प्रसाद' ने भी किया है।

'विश्व भर सौरभ से भर जाय, सुमन के खेलो सुन्दर खेल।'

उर्मिला पहले भी कह चुकी है—

"फिर प्रभात होगा' क्या सचमुच ? तो कृतार्थ यह चेरी।'

सबसे बड़ी विशेषता है आशा। उर्मिला बसन्त-ऋतु के साथ साथ आशान्वित भी होती जा रही है—प्रिय अवश्य आएँगे—

'सिर माथे तेरा यह दान, हे मेरे प्रेरक भगवान!
अब क्या माँगू भला और मैं फैला कर ये हाथ?

मुझे भूल कर ही विभु-वन में विचरें मेरे नाथ!
मुझे न भूले उनका ध्यान, हे मेरे प्रेरक भगवान!
डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ,
जिए उर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।
विधि से चलता रहे विधान, हे मेरे प्रेरक भगवान!
दहन दिया तो भला सहन क्या होगा तुझे अदेय?
प्रभु की ही इच्छा पूरी हो, जिससे सबका श्रेय?
यही रुदन है मेरा गान, हे मेरे प्रेरक भगवान!
अवधि शिला का उर पर था गुरु-भार?
तिल तिल काट रही थी दृग जल-धार!'

उर्मिला ईश्वर से प्रार्थना करती है कि मुझे निरन्तर प्रेरणा देने वाले हैं भावना मुझे तेरा यह दान (वियोग) भी स्वीकार है (जिस ईश्वर ने सुख दिया था उसी ने वियोग भी कराया! मनुष्य को उसकी इच्छा मानने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं) अब मैं हाथ फैलाकर तुझ से और क्या माँगू? यही चाहती हूँ कि मेरे नाथ मुझे भूल कर ही वन में घूमते रहें (क्योंकि मेरा स्मरण होने से उनको दुःख होगा) और मैं उनका निरन्तर स्मरण करती रहूँ मुझे उनका ध्यान कभी न भूले! (वह स्वयं तो स्मृति जन्य कष्ट सहने को तैयार है। लेकिन प्रिय के लिए नहीं चाहती! वियोग में भी इतनी निःस्वार्थ भावना है!) जब लक्ष्मी पानी में डूब कर भी बच गई—अर्थात् निरंतर समुद्र में रही पर डूबी नहीं है लक्ष्मी को समुद्र की पुत्री माना जाता है) और सती अग्नि प्रवेश करने पर भी नहीं जली—बच गई तो मुझे भी जीवित रहना चाहिए, प्रतीक्षा करते हुए घर बैठ कर सभी कुछ सहन करना चाहिए (उन्हीं की तरह विरह में भी मैं मरूँगी नहीं—बच जाऊँगी) और विधाता का क्रम पूर्वक विधान चलाता रहे अर्थात् वह जो कुछ चाहता है पूरा होता रहे!

हे भगवान जब तूने इतनी दीर्घ अवधि तक मुझे विरह की जलन दी है तो क्या उसने सह सकने योग्य शक्ति तू नहीं दे सकता? जितना तीव्र कष्ट दिया है तब उसका वैसा ही उपचार क्या मेरे पास नहीं होगा? तू अवश्य सहन शक्ति देगा। तुम्हारी इच्छा ही पूरी होनी चाहिए जिसमें सबका भला है (उर्मिला भी स्वीकार कर लेती है कि ईश्वर जो कुछ भी करता है भले के लिए करता है) यही रुदन मेरा संगीत है। इसी कारण के भीतर मेरा उल्लास निहित है। उपर्युक्त पंक्तियों में स्पष्टतः भाग्य वाद है—ईश्वर के विधान में

कोई हेर फेर नहीं कर सकता—उसे सिर झुका कर मानना ही पड़ता है। लेकिन यह भाग्य वाद प्रसाद के 'नियतिवाद' से पृथक् दूसरी ही मान्यता है। उर्मिला स्वयं कष्ट सहना चाहती है। प्रेम का यह आदर्श गुप्त जी के 'सिद्धराज' में भी व्यक्त हुआ है—

'प्रेमी तो पराजय भी भोगता है जय सी।
सच्चा योग उसका वियोग मे ही होता है,
मार के जिलाता वह, जीता नहीं मार के।'

अंतिम पंक्तियों में कवि ने रूपक द्वारा उर्मिला की विरहावस्था का वर्णन किया है। उर्मिला के हृदय पर अवधि रूपी शिला का भारी बोझ रखा हुआ था और उसकी अश्रु धारा उस भार को तिल तिल करके काट रही थी। शिला और जलधार का रूपक है। अवधि—प्रिय के आने का दीर्घ समय—की दीर्घता शिला के पहाड़ जैसे भारीपन से सूचित है। समय काटना उतना ही कठिन हो रहा था जितना छाती पर रखे हुए शिला खण्ड का सहन करना कठिन होता है। किनारे की जल धारा शिला को थोड़ा थोड़ा कर काटती रहती है घिसती रहती है (तभी तो रूखे सूखे पत्थर सुडौल, गोल मटोल हो जाते हैं।) उर्मिला अपने आँसुओं द्वारा समय बिता रही है। इससे अवसाद की व्यंजना हुई है। शिला की जल धारा कब तक काट सकेगी? उर्मिला कब तक रोती रोती, प्रिय का पथ निहारती रहेगी! गुप्त जी ने सारे सर्ग में ले उर्मिला को रुलाया है यहाँ पाठक से कहते हैं तुम भी रोओ। क्योंकि उर्मिला की यह विषण्ण स्थिति पाठक के मन में अत्यंत करुणा पूर्वक रह जाती है।

प्रेम-मार्ग के प्रवीण पथिक 'घनानन्द' का भी यही कथन था—

'जब तें तुम अवनि औध बदी,
तब तें अँखिया मग मापति हैं।'

× × × ×

'जिनकौं नित नीके निहारत हीं,
तिनकौं अँखियाँ अब रोवति हैं।
पल पाँवड़े पाइनि चाँइनि सौं,
अँसुवानि की धारनि धोवति हैं।'

उर्मिला के उपर्युक्त वर्णन में मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग है।

'साकेत' का नवम सर्ग ही वस्तुत. साहित्यिक सौंदर्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। सर्वाधिक काव्यात्मक स्थल, शैली की दृष्टि से नवीन छायावादी

प्रयोग इसी में है। गुप्त जी की समस्त रचनाओं में 'साकेत'--'साकेत' में भी 'नवम् सर्ग' बस गुप्त जी की इसे परम अमूल्य निधि समझ लीजिए।

'दशम सर्ग' के आरम्भ का प्रकृति वर्णन, उर्मिला का रेखा चित्र, व्यग्रता का वर्णन सुन्दर विराट का एक लघु चित्र उपस्थित किया है। अंधकार में संसार ऐसे ही रहा जैसे भ्रमर नील कमल में सोता है। कमल को नीला साभिप्राय रखा गया है। रात्रि में उसका नीलापन गहरा काला हो जाएगा जिससे वाह्य जगत् में घनीभूत अंधकार की व्यंजना होती है—

'अलि नीलोत्पल में प्रसुप्त ज्यों!'

उर्मिला के बालों की लटें जटा जैसी होगई हैं। रात्रि में उसे चतुर्दिक और भी नीरवता, सुनसान प्रतीत होता है। यहाँ मनुष्य अपने भावों के अनुकूल प्रकृति को देख रहा है। उर्मिला अत्यन्त दुःखी है, खिन्न है तो बाह्य जगत् भी उदास लगता है। प्रसन्न होती तो वृक्ष मौन साधक से प्रतीत होते वायु मधुर भाव उत्पन्न करते। तब सरयू को संबोधित करके वह अपना बचपन धनुष यज्ञ आदि का वर्णन कर जाती है। अन्त में प्रकृति पुनः भावों की पीठिका देते हुए चित्रित है।

'एकादश सर्ग' में भरत का साधक रूप, माण्डवी के दिनचर्या, नियम पालन द्रष्टव्य है—व्यतिरेक का सुन्दर उदाहरण है—

'आठ मास चातक जीता है, अपने घन का ध्यान किए।
आशा कर निज घनश्याम की, हमने बरसों बिता दिए!'

लेकिन भरत निराश नहीं है। उर्मिला भी भाँति आशान्वित है। सुन्दर-विनोद पूर्ण-जीवन आने वाले हैं। एकनिष्ठ विश्वास देखिए और भाषा कितनी प्रसाद गुण युक्त है—

'रोक सकेगा कौन भरत को अपने प्रभु को पाने से?
टोक सकेगा रामचन्द्र को कौन अयोध्या आने से?'

हनूमान द्वारा कर्त्तव्य निष्ठा भी सुन्दर व्यक्त हुई है।

'द्वादश सर्ग' के पहले भाग में नगर-जागरण का, उत्साह, का भव्य निरूपण हुआ है। एक-एक नागरिक, एक एक स्त्री अपने को होम देने के लिए उद्यत है। शत्रुघ्न का दौड़ना, निस्तब्ध नगरी को शंख बजा बजा कर उद्बुद्ध करना बड़ा सजीव हुआ है। प्रकृति-चित्रण यहाँ भी सफल है। व्योम रूपी दर्पणों में उडुगण अपना मुँह देखते हैं और चित्र-ग्रहण तो अतीव सुन्दर है अनुप्रास युक्त होने से वह सौंदर्य अपने आप आ गया है—

'झौंके झिलमिल झेल रहे थे दीप गगन के।
खिलखिल हिलमिल खेल रहे थे दीप गगन के।'

युद्ध भूमि की उत्प्रेक्षा में वृद्धि कवि की कल्पना फिर सजीव हो उठी है एक वार फिर अपना जौहर दिखाने लगी है मानों कह रही हो अब युद्ध भूमि में भी मेरी शक्ति देख लो खड्गों का चमचमाना, सादियों का तमतमाना, तुरगों का उछलना कूदना जैसे चित्रबद्ध होकर काव्य में उतर आया है। भूषण की कविता स्मरण हो आती है—

'ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठेल पेल सैल उसलत हैं !'......

उसी तरह यहाँ सैनिकों के वस्त्र धकधकाते हैं, शस्त्र भकभकाते हैं और नगर जगैया जगर मगर जगमगाते हैं।

उर्मिला का विकट भवानी रूप तो ऐसा लगता है साक्षात् युद्ध लक्ष्मी साकार होकर उनका नेतृत्व करने के लिए अवतीर्ण हो गई हो !

'बॉया कर शत्रुघ्न पृष्ठ पर कण्ठ निकट था।
दाँए कर में स्थूल किरण सा शूल विकट था।'

दूसरे भाग के अन्त में चौदह वर्ष के उपरान्त मिलन का दृश्य बड़ा भव्य है। वह दिन भी आ ही जाता है जिसकी प्रतीक्षा उर्मिला, भरत, साकेत-वासी कर रहे थे ! 'निर्वेद' और 'हर्ष' सचारियों का सुन्दर विधान हुआ है। राम पैदल ही नगर में चल पड़ते हैं, नागरिकों के हर्ष का पारावार नहीं—अयोध्या फूली फूली नहीं समाती ! बड़ा भव्य स्वागत (Grand Reception) हुआ है। राम-सीता-लक्ष्मण तो धन्य थे ही, केकैयी, उर्मिला भी धन्य हो जाती हैं। काव्य का समस्त विषाद, करुणा यहाँ धुल कर शांति-उल्लास में परिणत हो गई है। प्रत्येक के मन से भी अवसाद हट जाता है, पात्रों के साथ साथ फिर भी हर्ष आनन्द के रस में निमग्न हो जाता है। इस प्रकार 'साकेत' का अवसान शांत-रस के परिपाक में हुआ है।

———